

BAPS (N)-302

भारत में लोक प्रशासन
(Public Administration in India)



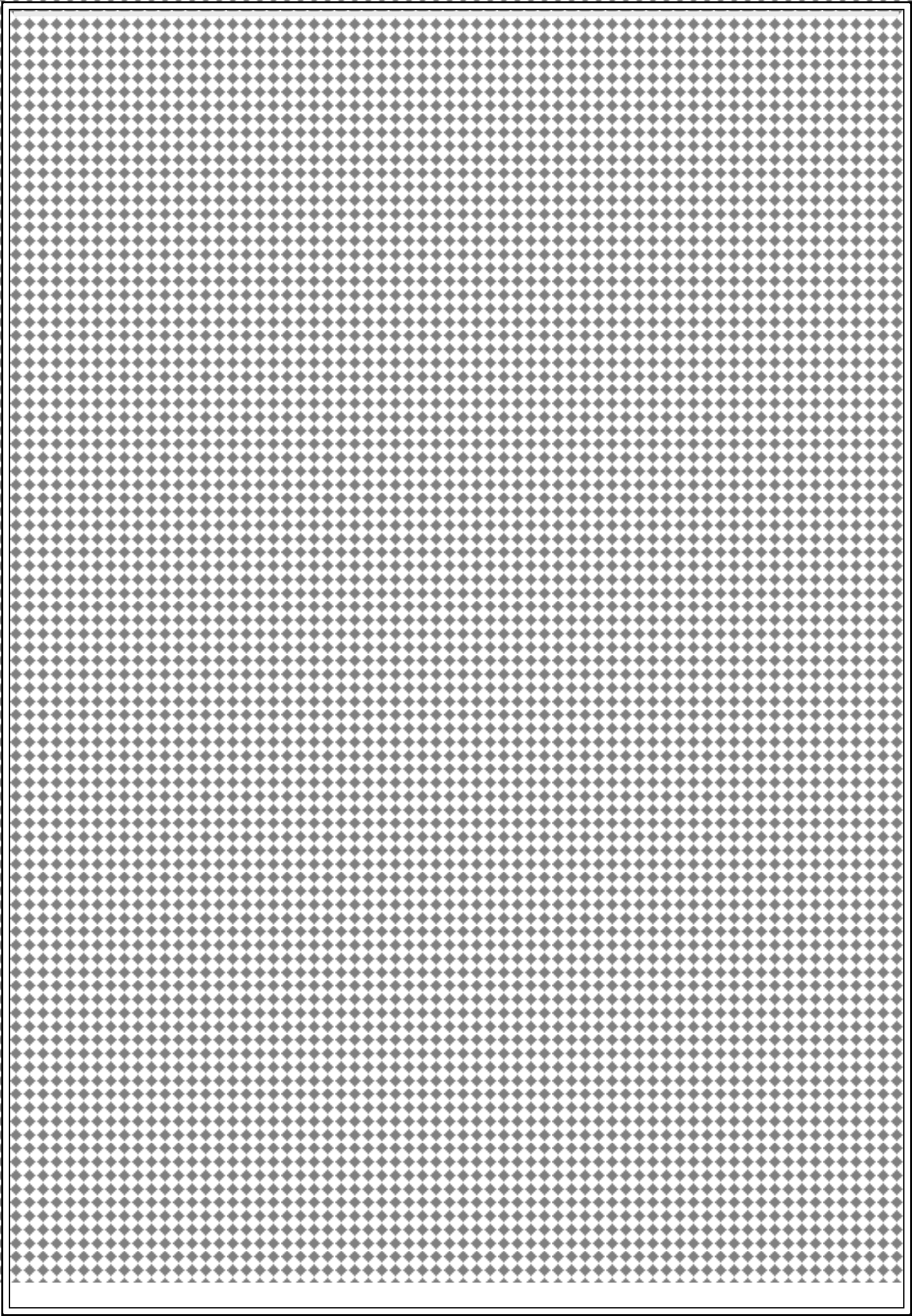
राजनीति विज्ञान विभाग
समाज विज्ञान विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
तीनपानी बाईपास मार्ग
ट्रांसपोर्ट नगर के पीछे, हल्द्वानी 263139

नैनीताल, उत्तराखण्ड

Email: info@uou.ac.in; Website: <http://uou.ac.in>



BAPS (N)-302

भारत में लोक प्रशासन

Public Administration in India



समाज विज्ञान विद्या शाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय , हल्द्वानी ,263139

पाठ्यक्रम समिति

प्रो. गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक – समाज विज्ञान विद्या शाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल	प्रो० एम०एम० सेमवाल राजनीति विज्ञान विभाग केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गढवाल
प्रो० दुर्गाकान्त चौधरी राजनीति विज्ञान विभाग श्रीदेव सुमन विश्वविद्यालय ऋषिकेश परिसर, ऋषिकेश	प्रो० सतीश कुमार राजनीति विज्ञान विभाग इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
डॉ० सूर्य भान सिंह (विशेष आमंत्रित सदस्य) एसोसिएट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान इलाहाबाद विश्वविद्यालय	डॉ० घनश्याम जोशी असिस्टेंट प्रोफेसर लोक प्रशासन उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ० लता जोशी असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	आरूशी असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल

पाठ्यक्रम संयोजन एवं सम्पादन

डॉ० सूर्य भान सिंह एसोसिएट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान इलाहाबाद विश्वविद्यालय	डॉ० आरूशी हिवाली शुक्ला असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल
--	---

इकाई लेखक

इकाई

संख्या

डॉ० उमेश कुमार झा, दुर्गाप्रसाद बलजीत सिंह पी०जी० कालेज अनूपशहर, बुलन्दशहर, उ० प्र०	1,2,3
डॉ० देवेश रंजन त्रिपाठी उत्तर प्रदेश राजर्षिटेडन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ० प्र०	4
शुभांकर शुक्ला, लोक प्रशासन विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	5
डॉ. सूर्यभान सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी,	6,7,8
डॉ. कमल कुमार	9,10,11,12
डॉ. अमितेन्द्र सिंह, संविदा शिक्षक, अर्थशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	13,14,15

आई.एस.बी.एन. -----

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष -2025

Published by : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल 263139

Printed at :-----

संस्करण :2025, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

सर्वाधिकार सुरक्षित | इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना

मिथियोग्रफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है

मुद्रित प्रतियां

इकाई संख्या	इकाई का नाम	पेज संख्या
1	लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र	1-11
2	लोक प्रशासन और निजी प्रशासन में अंतर	12-21
3	एकात्मक- संघात्मक शासन व संघवाद की आधुनिक प्रवृत्तियाँ	22-31
4	पदसोपान, नियंत्रण का क्षेत्र	32-38
5	आदेश की एकता, प्रत्यायोजन	39-57
6	भारतीय प्रशासन का विकास	58-74
7	भारतीय प्रशासन की विशेषताएं	75-82
8	भारतीय प्रशासन का सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक व संवैधानिक पर्यावरण	83-91
9	जन शिकायत निवारण, लोकपाल, लोकसेवा में तटस्थता, प्रशासन में भ्रष्टाचार	92-104
10	लोक सेवाएं: अर्थ, कार्य, आधुनिक प्रवृत्तियाँ और विशेषताएं	105-116
11	अखिल भारतीय सेवाएं, केन्द्रीय सेवाएं	117-129
12	भर्ती, प्रशिक्षण	130-143
13	भारत में वित्त प्रबंध और बजट निर्माण प्रक्रिया	144-164
14	सार्वजनिक व्यय पर नियंत्रण- लोक लेखा समिति, लोक उपक्रम समिति, नियंत्रक महालेखा परीक्षक	165-184
15	लेखांकन और लेखा परीक्षण	185-201

इकाई- 1 लोक प्रशासन का अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र एवं महत्व

इकाई की संरचना

- 1.0 प्रस्तावना
- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 लोक प्रशासन का अर्थ एवं परिभाषा
- 1.3 लोक प्रशासन की प्रमुख विशेषताएं
- 1.4 लोक प्रशासन की प्रकृति
 - 1.4.1 एकीकृत एवं प्रबन्धकीय दृष्टिकोण
 - 1.4.2 लोक प्रशासन विज्ञान है या कला
- 1.5 लोक प्रशासन का विषय क्षेत्र
 - 1.5.1 संकुचित दृष्टिकोण
 - 1.5.2 व्यापक दृष्टिकोण
 - 1.5.3 पोस्टकार्ब दृष्टिकोण
 - 1.5.4 आदर्शवादी दृष्टिकोण
- 1.6 लोक प्रशासन का महत्व
- 1.7 सारांश
- 1.8 शब्दावली
- 1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

किसी भी विषय का अध्ययन प्रारम्भ करते समय विद्यार्थी सर्वप्रथम विषय की आधारभूत बातों से परिचित होना चाहते हैं। आप अपने दिन पर दिन के अनेक कार्यों के सन्दर्भ में प्रशासन के सम्पर्क में आते होंगे और इतना तो जानते ही होंगे कि प्रशासन वह संगठन है जो हमारे जीवन की विभिन्न क्रियाओं को नियंत्रित एवं प्रभावित करता है। एक क्रिया के रूप में लोक प्रशासन उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव का संगठित जीवन। किन्तु अध्ययन के एक विषय के रूप में इसका विकास आधुनिक काल में हुआ है, प्रारंभिक काल में लोक प्रशासन का कार्य शांति एवं व्यवस्था बनाये रखना, अपराध रोकना तथा पारस्परिक विवादों को सुलझाने जैसे कार्यों तक सीमित था। किन्तु आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्यों में इसका कार्य-क्षेत्र एवं प्रभाव कई गुणा बढ़ गया है, शासन का स्वरूप चाहे कैसा भी हो, लोक प्रशासन राजनितिक व्यवस्था का एक अपरिहार्य तत्व है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि लोक प्रशासन क्या है, इसके अन्तर्गत किन विषयों का अध्ययन किया जाता है तथा इसका हमारे व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन में क्या महत्व है?

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक प्रशासन के अर्थ को समझ सकेंगे तथा इसकी परिभाषा कर सकेंगे।
- लोक प्रशासन की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।
- लोक प्रशासन की प्रकृति को स्पष्ट कर सकेंगे।
- लोक प्रशासन के महत्व पर प्रकाश डाल सकेंगे।

1.2 लोक प्रशासन का अर्थ एवं परिभाषा

लोक प्रशासन, प्रशासन का एक विशिष्ट अंग है। प्रशासन एक सुनिश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्यों द्वारा परस्पर सहयोग का नाम है। इसका अर्थ है 'कार्यों का प्रबन्ध करना अथवा लोगों की देखभाल करना।' यह एक व्यापक प्रक्रिया है, जो सभी सामूहिक कार्यों के विषय में चाहे सार्वजनिक हो या व्यक्तिगत, नागरिक हो या सैनिक, बड़े कार्य हों या छोटे, सभी के सम्बन्ध में लागू होता है। दूसरे शब्दों में प्रशासन शब्द के अंतर्गत निजी एवं सरकारी गतिविधियों का प्रबन्धन सम्मिलित है। इस अर्थ में प्रशासन को विश्व विद्यालयों, चिकित्सालयों, व्यापारिक कम्पनियों, विभिन्न सरकारी विभागों आदि में देखा जा सकता है। लोक प्रशासन, प्रशासन का वह भाग है जिसका सम्बन्ध शासन की गतिविधियों से होता है। व्यक्तिगत प्रशासन के विपरीत यह शासकीय कार्यों का प्रबन्धन है। एक विशिष्ट राजनैतिक व्यवस्था के अंतर्गत लोक प्रशासन राजनीतिक निर्णयों को कार्यरूप में परिवर्तित करने का एक साधन है। इसके द्वारा "सरकार के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति होती है" इसका सम्बन्ध सार्वजनिक समस्याओं से है। यह लोक हित के लिए सरकार द्वारा किया गया संगठित प्रयास है। यह राजनीतिक प्रक्रिया का भी एक भाग है, क्योंकि लोक नीति के निर्धारण में यह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। समाज को सुविधायें प्रदान करने हेतु अनेक निजी समूहों और व्यक्तियों से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह निजी प्रशासन से कई दृष्टियों से भिन्न है।

अध्ययन के एक विषय के रूप में लोक प्रशासन सामाजिक विज्ञान की वह शाखा है जो मुख्य रूप से शासन के क्रियाकलापों तथा प्रक्रियाओं से सम्बन्ध रखता है। इसे जन प्रशासन, सार्वजनिक प्रशासन या सरकारी प्रशासन भी कहा जाता है। 'लोक' शब्द का प्रयोग सार्वजनिकता का सूचक है तथा इस विषय को एक विशिष्टता प्रदान करता है। सरकार के तीन अंग होते हैं: व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। क्या लोक प्रशासन में सरकार के तीनों अंगों का अध्ययन किया जाना चाहिए? इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है, जिसके कारण लोक प्रशासन की अलग-अलग परिभाषाएँ की गयी हैं।

लोक प्रशासन की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

“लोक प्रशासन में वे सभी कार्य आ जाते हैं, जिनका उद्देश्य सार्वजनिक नीतियों को पूरा करना अथवा क्रियान्वित करना होता है”- एल0डी0 व्हाइट

“कानून को विस्तृत एवं क्रमबद्ध रूप से क्रियान्वित करने का नाम ही लोक प्रशासन है। कानून को क्रियान्वित करने की प्रत्येक क्रिया एक प्रशासकीय क्रिया है।”- वुडरो विल्सन

“साधारण प्रयोग में लोक प्रशासन का अर्थ उन क्रियाओं से है जो राष्ट्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों की कार्यपालिका शाखाओं द्वारा सम्पादित की जाती है।”- एच0 साइमन

“सामान्यतः लोक प्रशासन, प्रशासन विज्ञान का वह भाग है जो शासन से विशेषकर इसके कार्यपालिका पक्ष से सम्बन्धित है जहाँ सरकार का कार्य किया जाता है। यद्यपि विधायिका एवं न्यायपालिका से सम्बन्धित समस्याएँ भी स्पष्ट रूप से प्रशासकीय समस्याएँ ही हैं।”- लूथर गुलिक

उपर्युक्त परिभाषाओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि लोक प्रशासन शब्द का प्रयोग संकुचित तथा व्यापक दोनों सन्दर्भों में किया जाता है। संकुचित सन्दर्भ में, इसका प्रयोग केवल कार्यपालिका द्वारा किये जाने वाले कार्यों के सन्दर्भ में किया जाता है। व्यापक सन्दर्भ में, लोक प्रशासन को सरकार अर्थात् व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के कार्यों के समग्र अध्ययन से जोड़ा गया है। मोटे तौर पर एल0डी0 व्हाइट के इस कथन से सहमति व्यक्त की जा सकती है कि “लोक प्रशासन में वे सभी कार्य आ जाते हैं जिनका उद्देश्य लोक नीति को पूरा करना अथवा क्रियान्वित करना होता है।”

1.3 लोक प्रशासन की प्रमुख विशेषताएँ

लोक प्रशासन का अर्थ एवं इसकी विभिन्न परिभाषाओं को जानने के उपरान्त आप इसकी प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित रूपों में रेखांकित कर सकते हैं-

1. लोक प्रशासन, प्रशासन का वह भाग है जिसका सम्बन्ध लोक नीतियों को कार्यरूप में परिणत करने से है।
2. यह सार्वजनिक हित के लिए व्यक्ति तथा उसके साधनों का संगठित प्रयास है।
3. इसके अंतर्गत व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका तीनों शाखाएं और उनके परस्पर सम्बन्ध आते हैं, किन्तु औपचारिक रूप से यह सरकारी अधिकारी-तंत्र पर ही विशेष रूप से केन्द्रित होता है।
4. आधुनिक काल में लोक नीति के निर्धारण में भी यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
5. इसका उद्देश्य निश्चित नियमों के अनुसार सरकारी कार्यों का निर्देशन तथा संचालन है।
6. यह किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाने वाला कार्य है।
7. प्रशासन करने वाले व्यक्ति के पास अधिकार का होना आवश्यक है। इसी के आधार पर वह दूसरों से किसी कार्य में सहयोग प्राप्त करता है।
8. इसमें एक से अधिक व्यक्तियों के सहयोग से कार्य किया जाता है। एक व्यक्ति द्वारा किये गये कार्य को लोक प्रशासन की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती है।
9. यह निजी प्रशासन से कई दृष्टियों में भिन्न है।
10. समाज को सुविधायें प्रदान करने की प्रक्रिया में यह निजी समूहों और व्यक्तियों से निकट सम्बन्ध रखता है।

1.4 लोक प्रशासन की प्रकृति

अब तक आप यह समझ चुके होंगे कि लोक प्रशासन का अर्थ क्या है? अब हम इस विषय की प्रकृति पर विचार करेंगे।

लोक प्रशासन एक गतिशील विषय है जिसकी प्रकृति में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। इस विषय के स्वरूप पर बदलती हुई सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों एवं अन्य संबंधित सामाजिक विज्ञानों का व्यापक

प्रभाव पड़ा है। सामान्यतया लोक प्रशासन की प्रकृति पर दो दृष्टियों से विचार किया जाता है- प्रथम इस दृष्टि से कि इस विषय के अंतर्गत किन क्रियाकलापों का अध्ययन किया जाना चाहिए और दूसरे इस दृष्टि से कि यह विज्ञान है या कला या दोनों का समन्वित रूप।

1.4.1 एकीकृत एवं प्रबन्धकीय दृष्टिकोण

लोक प्रशासन की परिभाषा की तरह इसकी प्रकृति के विश्लेषण के सम्बन्ध में भी विद्वान एकमत नहीं है। इस सम्बन्ध में मुख्यतया दो दृष्टिकोण हैं जिन्हें एकीकृत तथा प्रबन्धकीय दृष्टिकोण कहा जा सकता है।

एकीकृत दृष्टिकोण के अनुसार किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्पादित की जाने वाली क्रियाओं का समग्रीकरण का योग ही प्रशासन है चाहे वे क्रियाएँ लेखन, प्रबन्धन या सफाई सम्बन्धी ही क्यों न हो। इस प्रकार उपक्रम अथवा उद्यम विशेष में कार्यरत संदेशवाहक, फोरमैन, चौकीदार, सफाई कर्मचारी तथा शासन के सचिवों एवं प्रबन्धकों तक के कार्य को प्रशासन का भाग माना गया है। इस दृष्टिकोण में उपक्रम में कार्यरत छोटे कर्मचारियों से लेकर बड़े अधिकारियों तक के कार्यों को प्रशासन का भाग माना जाता है। व्हाइट इसी दृष्टिकोण के समर्थक है।

दूसरी ओर प्रबन्धकीय दृष्टिकोण केवल उन्हीं लोगों के कार्यों को प्रशासन मानता है, जो किसी उपक्रम सम्बन्धी केवल प्रबन्धकीय कार्यों का सम्पादन करते हैं। प्रबन्धकीय कार्य का लक्ष्य उपक्रम के विभिन्न क्रियाओं का एकीकरण, नियन्त्रण तथा समन्वय करना होता है। साइमन, स्मिथबर्ग तथा थॉमसन इस दृष्टिकोण के समर्थक हैं। उनके मतानुसार “प्रशासन शब्द अपने संकुचित अर्थों में आचरण के उन आदर्शों को प्रकट करने के लिए प्रयोग किया जाता है, जो अनेक प्रकार के सहयोगी समूहों में समान रूप से पाये जाते हैं।” लूथर गुलिक के अनुसार, “प्रशासन का सम्बन्ध कार्य पूरा किये जाने और निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति से है।”

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में मौलिक अन्तर है। एकीकृत दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर हमें किसी उद्यम में लगे सभी कर्मचारियों के कार्यों को प्रशासन के अंतर्गत मानना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, विषय-वस्तु के अन्तर के कारण एक क्षेत्र का प्रशासन दूसरे क्षेत्र के प्रशासन से भिन्न होगा। जैसे- शिक्षा के क्षेत्र का प्रशासन लोक निर्माण के प्रशासन से भिन्न होगा। दूसरी तरफ प्रबन्धकीय दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर प्रशासन प्रबन्धन की तकनीक बनकर रह जाती है। प्रबन्धक का कार्य संगठन करना तथा उद्देश्य की प्राप्ति हेतु जन तथा साधन सामग्री का प्रयोग करना है। यह दृष्टिकोण प्रशासन को अपने आप में भिन्न तथा पृथक क्रिया मानता है तथा प्रत्येक क्षेत्र के प्रशासन को एक ही दृष्टि से देखता है।

अब आपके मन में यह दुविधा उत्पन्न हो गयी होगी कि उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में किसे उपयुक्त माना जाय? वास्तव में उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में किसी की भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि प्रशासन का ठीक अर्थ उस प्रसंग पर निर्भर करता है जिस सन्दर्भ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। अध्ययन विषय के रूप में प्रशासन उन सरकारी प्रयत्नों के प्रत्येक पहलू की परीक्षा करता है, जो कानून तथा लोक नीति को क्रियान्वित करने हेतु सम्पादित किये जाते हैं। एक प्रक्रिया के रूप में इससे वे सभी प्रयत्न आ जाते हैं जो किसी संस्थान में अधिकार-क्षेत्र प्राप्त करने से लेकर अंतिम ईंट रखने तक उठाये जाते हैं तथा व्यवसाय के रूप में यह किसी भी सार्वजनिक संस्थान के क्रियाकलापों का संगठन तथा संचालन करता है।

1.4.2 लोक प्रशासन विज्ञान है या कला

लोक प्रशासन की प्रकृति को पूर्ण रूप से समझने के लिए आपको यह भी जानना होगा कि यह विषय कला है अथवा विज्ञान अथवा दोनों का समन्वित रूप। एक प्रक्रिया के रूप में लोक प्रशासन को सामान्यतया एक कला

समझा जाता है। कला का अपना कौशल होता है और वह व्यवस्थित ढंग से व्यवहार में लायी जाती है। प्रशासन एक विशेष क्रिया है जिसमें एक विशेष ज्ञान तथा तकनीकी कौशल की आवश्यकता होती है। अन्य कलाओं की भाँति प्रशासन को भी अभ्यास से सीखा जा सकता है। वर्तमान में प्रशासनिक दक्षता के लिए 'निपुण' तथा 'विशिष्ट' प्रकार के दक्ष लोगों की आवश्यकता सरकार के विभिन्न आयामों में महसूस की जा रही है। प्रशासनिक कला में निपुणता हासिल करने के लिए व्यक्ति में धैर्य, नियन्त्रण, हस्तान्तरण, आदेश की एकता आदि गुणों का होना आवश्यक है। इन गुणों के अभाव में प्रशासक अपने कर्तव्यों का सफलतापूर्वक निष्पादन नहीं कर सकता। लूथर गुलिक के अनुसार "एक अच्छे प्रशासक को 'पोस्टकार्ड' तकनीकों में पारंगत होना चाहिए।" जो विचारक प्रशासन को कला नहीं मानते, उनका तर्क है कि प्रशासन की सफलता और असफलता मानवीय वातावरण एवं परिस्थितियों पर निर्भर करती है। एक स्थान पर एक प्रशासक उन्हीं तकनीकों से सफल हो जाता है और दूसरे स्थान पर असफल हो जाता है। यह सच है कि सामाजिक और मानवीय पर्यावरण प्रशासन की कार्यकुशलता को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जिस प्रकार खेल का मैदान बदलने पर नया वातावरण खिलाड़ी के कौशल को प्रभावित करता है। किन्तु प्रशासन एक कौशल है। प्रत्येक व्यक्ति इस कौशल को हासिल नहीं कर सकता। प्रशिक्षण और अभ्यास के बाद ही इस उच्चतम कला को ग्रहण किया जा सकता है। अतः यह कहना उचित होगा कि लोक प्रशासन एक कला है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस विषय को विज्ञान का दर्जा दिया जाय या नहीं। यह एक विवादित प्रश्न है तथा इसका उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि हम विज्ञान शब्द का प्रयोग किस अर्थ में करते हैं। साधारणतः विज्ञान शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है- व्यापक और संकीर्ण।

व्यापक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग 'अनुभव एवं पर्यवेक्षण से प्राप्त क्रमबद्ध ज्ञान' के रूप में किया जाता है। इसी अर्थ में हम सामाजिक विज्ञानों को जिनमें राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, आदि शामिल हैं, विज्ञान की संज्ञा प्रदान करते हैं। दूसरे अर्थ में विज्ञान, ज्ञान का वह निकाय है जो ऐसे परिशुद्ध सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना करता है जिनके आधार पर एक बड़ी सीमा तक परिणामों के सम्बन्ध में पूर्वकथन किया जा सकता है। इस प्रकार के विज्ञानों को 'शुद्ध विज्ञान' के नाम से पुकारा जाता है, जैसे- भौतिकी, रसायनशास्त्र और गणित। सामान्यता लोक प्रशासन को एक 'सामाजिक विज्ञान' माना जाता है, यद्यपि इस विषय पर सभी विद्वान एकमत नहीं हैं। विद्वानों का एक ऐसा वर्ग भी है जो इस विषय को विज्ञान नहीं मानते। ऐसे विद्वानों द्वारा निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं-

मानवीय क्रियाओं से सम्बन्धित हो ने के कारण लोक प्रशासन के नियम कम विश्वसनीय होते हैं। ये स्थान और काल के अनुसार बदलते रहते हैं।

1. लोक प्रशासन के क्षेत्र में सर्वसम्मत एवं सार्वभौमिक सिद्धान्तों का अभाव है।
2. विज्ञान की भाँति लोक प्रशासन के पास कोई ऐसी प्रयोगशाला नहीं है जहाँ पूर्व अर्जित तथ्यों की सत्यता स्थापित की जा सके।
3. विज्ञान में नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का कोई स्थान नहीं होता जबकि लोक प्रशासन के सिद्धान्त निरन्तर प्रशासकीय क्रिया की तथ्यपरक एवं आदर्शपरक धारणाओं, अर्थात् 'क्या है' और 'क्या होना चाहिए' के बीच झूलते रहते हैं।
4. इसमें पूर्व कथनीयता अर्थात् भविष्यवाणी करने की क्षमता का अभाव है।

5. प्रशासकीय आचरण न तो पूर्णतः विवेकनिष्ठ होता है और न ऐसा होना सम्भव ही है। ऐसी स्थिति में उसके विज्ञान होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसमें कोई दो राय नहीं कि संकीर्ण अर्थ में लोक प्रशासन को विज्ञान की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती, परन्तु विषय से सम्बद्ध अधिकांश विद्वानों में इस बात पर मतैक्य पाया जाता है कि व्यापक अर्थ में लोक प्रशासन के विज्ञान होने के दावे को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

लोक प्रशासन के विज्ञान होने के समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं-

1. एक विषय के रूप में लोक प्रशासन, प्रशासन से सम्बन्धित ज्ञान का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।
2. इस विषय के अध्ययन के लिए लगभग सुनिश्चित क्षेत्र निर्धारित कर लिया गया है तथा इस आधार पर इसे अन्य शास्त्रों से पृथक किया जा सकता है।
3. गत वर्षों में प्रशासन के क्षेत्र में जो पर्यवेक्षण, परीक्षण तथा अनुसंधान हुये हैं, उनके परिणामस्वरूप अनेक सुनिश्चित अवधारणाएँ तथा परिकल्पनाएँ विकसित हुई हैं।
4. भारी संख्या में ऐसे तथ्यों का संग्रह कर लिया गया है, जिन पर वैज्ञानिक अध्ययन की पद्धतियों का प्रयोग किया जा रहा है।
5. अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति लोक प्रशासन में भी कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्त विकसित किये जा चुके हैं, जो प्रभावी शासन की स्थापना के लिए पथ प्रदर्शक का काम कर सकते हैं।
6. यह विषय तथ्यों एवं घटनाओं की वैज्ञानिक विवेचना करता है और इसके माध्यम से प्रशासक अनुमान लगा सकते हैं कि इन घटनाओं के क्या परिणाम होंगे? अर्थात् इसमें भविष्यवाणी करने की क्षमता है।
7. इस विषय से सम्बन्धित घटनाओं का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने के उपरान्त इस प्रकार के कारण खोजे की जा सकती हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि समान कारणों का काफी बड़ी सीमा तक समान प्रभाव होता है। उक्त सन्दर्भ में सच तो यह है कि प्रत्येक ज्ञान के दो पहलू होते हैं- एक कला का और दूसरा विज्ञान का। उदाहरण के लिए, फोटोग्राफी अथवा औषधि विज्ञान कला भी है और विज्ञान भी। इसी प्रकार लोक प्रशासन विज्ञान और कला दोनों का समन्वित रूप है। चार्ल्स बेयर्ड के अनुसार, लोक प्रशासन उतना ही विज्ञान है जितना कि अर्थशास्त्र। उनके मत में जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनुसंधान, वैज्ञानिक समितियों तथा वैज्ञानिकों द्वारा ज्ञान एवं परिकल्पनाओं के आदान-प्रदान ने ज्ञान की परिशुद्धता में वृद्धि की है, उसी प्रकार हम यह आशा कर सकते हैं कि प्रशासन के क्षेत्र में भी अनुसंधान, प्रशासकीय समितियों तथा प्रशासकों के पारस्परिक आदान-प्रदान भी ज्ञान की परिशुद्धता में वृद्धि करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि लोक प्रशासन केवल तथ्यों अर्थात् 'क्या है' का ही अध्ययन नहीं करता, वरन् आदर्शों अर्थात् 'क्या होना चाहिए' का भी अध्ययन करता है। इस प्रकार अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति यह तथ्यपरक एवं आदर्शपरक दोनों प्रकार का विज्ञान हो सकता है। अपने पारंपरिक रूप में यह एक तथ्यपरक विज्ञान ही बना रहा है। परन्तु आधुनिक विचारकों ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है कि प्रशासन का ध्येय श्रेष्ठ प्रशासन है। इस धारणा को स्वीकार कर लेने के बाद यह प्रश्न सहज ही उठता है कि श्रेष्ठ प्रशासन की कसौटी क्या है? स्पष्टतः इन प्रश्नों में प्रयोजनों और मूल्यों की समस्या निहित है और यह प्रश्न लोक प्रशासन को आदर्शमूलक अध्ययन का स्वरूप प्रदान करता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन एक प्रगतिशील विज्ञान है, जिसके निष्कर्ष अथवा सिद्धान्त भी नये अनुसंधान तथा नये अनुभव के अनुसार अपने आप को भी बदल डालते हैं। यह सही है कि समय-समय पर प्रतिपादित किये जाने वाले विभिन्न मतों से लोक प्रशासन की समस्या के बारे में सही समझ कायम करने में सहायता मिली है, तथापि उनके सम्बन्ध में पूर्णता का दावा नहीं किया जा सकता है।

1.5 लोक प्रशासन का विषय क्षेत्र

लोक प्रशासन की प्रकृति को समझने के उपरान्त आप यह जानेंगे कि इस विषय के अंतर्गत किन तथ्यों तथा समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, अर्थात् लोक प्रशासन का अध्ययन क्षेत्र क्या है? जिस प्रकार आपने इस विषय की परिभाषा तथा इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों में तीव्र मतभेद पाया, उसी प्रकार का मतभेद विषय के अध्ययन क्षेत्र के सम्बन्ध में भी पाया जाता है। वास्तव में, परिवर्तन के इस युग में लोक प्रशासन जैसे गतिशील विषय का क्षेत्र निर्धारित करना अत्यन्त मुश्किल कार्य है। मोटे तौर पर इस सम्बन्ध में निम्नलिखित दृष्टिकोण प्रचलित हैं-

1.5.1 संकुचित दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन का सम्बन्ध शासन की कार्यपालिका शाखा से है, इसलिए इसके अंतर्गत केवल कार्यपालिका से सम्बन्धित कार्यों का अध्ययन किया जाना चाहिए। हर्वर्ट साइमन तथा लूथर गुलिक जैसे विद्वान इस दृष्टिकोण के समर्थक हैं। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर लोक प्रशासन के क्षेत्र के अंतर्गत निम्नलिखित बातें सम्मिलित की जा सकती हैं- कार्यरत कार्यपालिका अर्थात् असैनिक कार्यपालिका का अध्ययन, सामान्य प्रशासन का अध्ययन, संगठन सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन, कार्मिक प्रशासन का अध्ययन, वित्तीय प्रशासन का अध्ययन और प्रशासनिक उत्तरदायित्व एवं उपलब्धियों का अध्ययन।

1.5.2 व्यापक दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण लोक प्रशासन के क्षेत्र के अंतर्गत उन सभी क्रियाओं के अध्ययन पर बल देता है जिनका उद्देश्य लोक नीति को पूरा करना अथवा क्रियान्वित करना होता है। दूसरे शब्दों में इस दृष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन के अंतर्गत सरकार के तीनों अंगों- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका से सम्बन्धित कार्यों का अध्ययन किया जाना चाहिए। निग्रो, व्हाइट, मार्क्स, विलोबी आदि विद्वान इस दृष्टिकोण के समर्थक हैं। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर लोक प्रशासन के विषय क्षेत्र की व्याख्या में निम्नलिखित बातें दृष्टिगोचर होती हैं- 1. समाज के सहयोगात्मक प्रयास का अध्ययन, 2. सरकार के तीनों अंगों का अध्ययन, 3. लोक नीति के निर्माण एवं क्रियान्वयन का अध्ययन, 4. प्रशासन के सम्पर्क में आने वाले निजी संगठनों एवं व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन।

1.5.3 पोस्टकार्ब दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण के प्रमुख प्रणेता लूथर गुलिक हैं। यद्यपि गुलिक से पहले उर्विक, हेनरी फेयोल इत्यादि विद्वानों ने भी पोस्टकार्ब दृष्टिकोण अपनाया था, किन्तु इन विचारों को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय गुलिक को जाता है। पोस्टकार्ब शब्द अंग्रेजी के सात शब्दों के प्रथम अक्षरों से मिलकर बना है। ये शब्द निम्नवत हैं- 1. Planing- योजना बनाना, 2. Organization- संगठन बनाना, 3. Staffing- कर्मचारियों की व्यवस्था करना, 4. Directing- निर्देशन करना, 5. Coordinaton- समन्वय करना, 6. Reporting- रपट देना और 7. Budgeting- बजट तैयार करना।

1.5.4 आदर्शवादी दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि लोककल्याणकारी राज्य और लोक प्रशासन में कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार लोक कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य जनता का हित करना है, ठीक उसी प्रकार लोक प्रशासन का अर्थ जनता के हित में सरकार के कल्याणकारी कार्यों को मूर्त रूप प्रदान करना है। लोक प्रशासन एक व्यापक विषय है और इसके अंतर्गत जनहित में किये जाने वाले समस्त कार्यों का अध्ययन किया जाना चाहिए। उपर्युक्त दृष्टिकोण की समीक्षा करने पर आपको यह स्पष्ट हो जायेगा कि इनमें से कोई भी दृष्टिकोण पूर्ण नहीं है।

प्रथम दृष्टिकोण लोक प्रशासन को शासन की कार्यपालिका शाखा से सम्बन्धित मानता है, लेकिन यथार्थ में यह केवल कार्यपालिका शाखा का ही अध्ययन नहीं है, बल्कि इससे बहुत ज्यादा है। दूसरे व्यापक दृष्टिकोण के मुताबिक लोक प्रशासन में सरकार के तीनों अंगों को शामिल किया गया है जिसे भी पूर्णतः उचित नहीं कहा जा सकता है। अगर इस दृष्टिकोण को माना जाए तो लोक प्रशासन अस्पष्ट विषय बनकर रह जायेगा। तीसरे दृष्टिकोण, जिसे 'पोस्टडॉर्ब' का नाम दिया जाता है इस आधार पर आलोचना की जा सकती है कि यह केवल प्रशासन की तकनीकों से सम्बन्धित है, उसके पाठ्य विषय से नहीं। इस दृष्टिकोण में यह भी कमी है कि इसमें मानवीय पहलू की उपेक्षा की गयी है। अंत में चौथा दृष्टिकोण आदर्शवादी दृष्टिकोण भी सही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह लोक प्रशासन के वास्तविक क्षेत्र का विवेचन नहीं करके भविष्य में बनने वाले लोक प्रशासन के क्षेत्र का काल्पनिक वर्णन करने लगता है।

स्पष्टतः उपर्युक्त दृष्टिकोणों में किसी एक को पूर्णतः सही मानना ठीक नहीं है, परन्तु सत्यता का अंश सभी में है। यानि लोक प्रशासन सरकार के तीनों अंगों से सम्बन्धित है, परन्तु कार्यपालिका से ज्यादा जुड़ा हुआ है। इसमें 'पोस्टडॉर्ब' की प्रक्रिया अपनायी जाती है और इसका भावी स्वरूप विस्तृत और व्यापक है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन में निम्नलिखित विषय क्षेत्रों का अध्ययन किया जाना चाहिए-

- सार्वजनिक कार्मिक प्रशासन का अध्ययन,
- सार्वजनिक वित्तीय प्रशासन का अध्ययन,
- प्रशासनिक अथवा संगठनात्मक सिद्धान्तों का अध्ययन,
- तुलनात्मक लोक प्रशासन का अध्ययन,

1.6 लोक प्रशासन का महत्व

किसी भी विषय के अध्ययनकर्ता सम्बन्धित विषय के अध्ययन में दिलचस्पी तभी लेते हैं, जबकि वह विषय उन्हें महत्वपूर्ण एवं उपयोगी प्रतीत होता है। लोक प्रशासन के इस विषय का अध्ययन करते समय आप भी विषय के महत्व को जानने को इच्छुक होंगे। राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप किसी भी प्रकार का हो, लोक प्रशासन एक अनिवार्यता है। आधुनिक युग में इसका महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करता है। यही कारण है कि सामाजिक विज्ञानों में लोक प्रशासन ने अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली है और प्रशासनिक व्यवस्था की आधारशिला के साथ-साथ सभ्यता की पहचान बन गया है। यह न केवल एक सैद्धान्तिक विषय है बल्कि सभ्य समाजों में व्यक्ति तथा सरकार के बीच औपचारिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने वाला आवश्यक ज्ञान है। इस सम्बन्ध में चार्ल्स बेयर्ड ने ठीक ही कहा है कि "प्रशासन के

विषय से अधिक महत्वपूर्ण अन्य कोई विषय नहीं हो सकता है। मेरे विचार से शासन तथा हमारी सभ्यता का भविष्य इसी बात पर निर्भर करता है कि सभ्य समाज के कार्यों की पूर्ति के लिए प्रशासन का दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक स्वरूप कितना विकसित होता है।”

लोक प्रशासन, प्रशासन का एक महत्वपूर्ण उपकरण है। देश में शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करना तथा नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना, पारंपरिक रूप से लोक प्रशासन के महत्वपूर्ण कार्य रहे हैं। आधुनिक काल में व्यक्ति की अपेक्षाओं, महत्वाकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं में वृद्धि के साथ-साथ लोक प्रशासन का दायित्व भी बढ़ गया है। इसे कई अन्य चुनौतीपूर्ण कार्यों का सम्पादन करना पड़ता है। देश के विकास और प्रगति को आगे बढ़ाने के लिए सुचारू रूप से संचालन के लिए तथा इनके मार्ग में आने वाली समस्याओं से जूझने के लिए लोक प्रशासन अत्यन्त आवश्यक है। यह विकास एवं परिवर्तन का भी एक प्रमुख उपकरण बन गया है।

आज राज्य का स्वरूप लोककल्याणकारी है तथा यह जनता के उत्थान के लिए बहुमुखी योजनाएं चलाती है। इन योजनाओं की सफलता प्रशासन की कार्यकुशलता एवं निष्पक्षता पर निर्भर करती है। योजनाओं को लागू करने का कार्य लोक सेवकों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। ऐसी स्थिति में राज्य और लोक प्रशासन में अन्तर नहीं रह गया है। डिमॉक के अनुसार “लोक प्रशासन सभ्य समाज का आवश्यक अंग तथा आधुनिक जीवन का एक प्रमुख तत्व है और इसने राज्य के उस स्वरूप को जन्म दिया है जिसे ‘प्रशासकीय राज्य’ कहा जाता है। वस्तुतः लोक प्रशासन व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पादित होने वाले तमाम कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।”

आज लोक प्रशासन सामाजिक परिवर्तन का भी एक प्रमुख साधन बन गया है। विकासशील देशों की परम्परागत जीवन शैली, अंधविश्वास रूढ़ियों तथा कुरीतियों में परिवर्तन लाना एक सामाजिक आवश्यकता है। सुनियोजित सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा, राजनीतिक चेतना, आर्थिक विकास, कानून, दबाव समूह तथा स्वयंसेवी संगठनों सहित प्रशासन भी एक उपकरण माना जाता है। सामाजिक परिवर्तन का हथियार होने के साथ-साथ लोक प्रशासन सामाजिक नियन्त्रण का माध्यम भी है। सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य उस ढंग से है जिसके द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की एकता तथा स्थायित्व को बनाया रखा जा सके और जिसमें सामाजिक व्यवस्था परिवर्तनशील रहते हुए क्रियाशील रहे। हमारे देश में गरीबी, भूखमरी, बेरोजगारी, शोषण, महिला अत्याचार, बाल अपराध, दहेज, छुआछूत, आदि जैसी सामाजिक समस्याएँ विद्यमान हैं। ऐसी जटिल एवं व्यापक सामाजिक समस्याओं एवं कुरीतियों का समाधान केवल सरकार द्वारा निर्मित सामाजिक नीतियों एवं सामाजिक कानूनों द्वारा ही संभव है और इन नीतियों एवं कानूनों को क्रियान्वित करने में लोक प्रशासन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। लोक प्रशासन की भूमिका केवल नीतियों के क्रियान्वयन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसके निर्धारण में भी यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। नीतियों के निर्माण की औपचारिक जिम्मेदारी भले ही राजनीतिज्ञों की हो, लेकिन अपने विशिष्ट ज्ञान प्रशिक्षण तथा अनुभव के कारण एक सलाहकार के रूप में लोक सेवक नीतियों के निर्माण में अहम भूमिका निभाते हैं। वस्तुतः सरकार के कार्यों के सफल संचालन के लिए प्रशासनिक लोक सेवकों का सहयोग आवश्यक है। प्रशासन सरकार के हाथ-पैर हैं और सरकार की सफलता का महत्वपूर्ण माध्यम है।

लोक प्रशासन द्वारा प्रशासकों के प्रशिक्षण जैसे महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करने प्रशासनिक व्यवस्था की गतिशीलता व उपादेयता में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी जाती है। प्रशिक्षण के द्वारा ही लोक प्रशासक यह सीख पाते हैं कि कानून व व्यवस्था बनाये रखा जाये। प्रशासनिक जीवन में समन्वय, संचार, सोपान, नियन्त्रण क्षेत्र इत्यादि की जानकारी भी प्रशासकों को लोक प्रशासन से ही सम्भव है। यही कारण है कि लोक सेवकों को लोक प्रशासन का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक अध्ययन करना पड़ता है।

भूमंडलीकरण एवं आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होते समय कुछ विद्वानों ने यह आशंका व्यक्त की थी कि लोकप्रशासन का महत्व कम हो जायेगा। लेकिन वास्तविकता यह है कि भूमंडलीकरण एवं उदारीकरण के युग में लोक प्रशासन की भूमिका और चरित्र में कुछ बदलाव आया है, लेकिन इसका महत्व कम नहीं हुआ है। अब लोक प्रशासन की एक नवीन भूमिका सुविधाकारक तथा उत्प्रेरक की है। यह और सक्रिय होकर देखता है कि विस्तृत होता हुआ निजी क्षेत्र राष्ट्र के कानून तथा नियमनों की संरचना के अंतर्गत क्रियाशील है या नहीं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सरकार का स्वरूप किसी भी प्रकार का हो लेकिन लोक प्रशासन का महत्व एवं इसकी भूमिका कम नहीं हो सकती। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली ने तो इसके महत्व को और भी बढ़ा दिया है। आज लोक प्रशासन सभ्य समाज की प्रथम आवश्यकता है। देश में शांति-व्यवस्था एवं स्थिरता बनाये रखने तथा विकास कार्य एवं सामाजिक परिवर्तन को गति प्रदान करने के लिए लोक प्रशासन अपरिहार्य है। फाइनर के शब्दों में “कुशल प्रशासन सरकार का एक मात्र सहारा है जिसकी अनुपस्थिति में राज्य क्षत-विक्षत हो जायेगा।”

अभ्यास प्रश्न-

1. प्रशासन एक सुनिश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्यों द्वारा परस्पर सहयोग का नाम है। सत्य/असत्य
2. प्रशासन का सम्बन्ध निजी समस्याओं से है। सत्य/असत्य
3. प्रशासन में वे सभी कार्य आ जाते हैं, जिनका उद्देश्य सार्वजनिक नीतियों को लागू करना है। सत्य/असत्य
4. एकीकृत दृष्टिकोण में लोक प्रशासन के अंतर्गत किन कार्यों को सम्मिलित किया जाता है?
5. प्रबन्ध कीय दृष्टिकोण केवल उन्हीं लोगों के कार्यों को प्रशासन मानता है जो किसी उपक्रम संबंधी केवल प्रबन्ध कीय कार्यों का संपादन करते हैं। सत्य/असत्य
6. एकीकृत दृष्टिकोण प्रत्येक क्षेत्र के प्रशासन को एक ही दृष्टि से देखता है। सत्य/असत्य
7. “एक अच्छे प्रशासक को पोस्टकोब तकनीकों में पारंगत होना चाहिए” यह किसका कथन है?
8. लोक प्रशासन के विज्ञान होने के पक्ष में दो तर्क प्रस्तुत कीजिए।
9. लोक प्रशासन के अध्ययन के चार विषय-क्षेत्रों को निर्धारित कीजिए।
10. लोक प्रशासन की भूमिका केवल नीतियों के क्रियान्वयन तक सीमित है। सत्य/असत्य
11. लोक प्रशासन विकास एवं परिवर्तन का प्रमुख उपकरण है। सत्य/असत्य
12. भूमंडलीकरण के इस युग में लोक प्रशासन की भूमिका एक सुविधाकारक एवं उत्प्रेरक की है। सत्य/असत्य

1.7 सारांश

लोक प्रशासन प्रशासन का वह विशिष्ट भाग है, जिसमें उन सभी क्रियाकलापों का अध्ययन किया जाता है जो सार्वजनिक नीतियों को क्रियान्वित करने से सम्बन्धित है। यह एक गतिशील विषय है जिसके स्वरूप में निरंतर परिवर्तन होता रहा है। यह एक सामाजिक विज्ञान तथा व्यावहारिक कला का समन्वित रूप है। आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्यों में इसकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो गयी है। यह न केवल शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने का बल्कि विकास एवं सामाजिक परिवर्तन का भी एक प्रमुख उपकरण बन गया है। भूमंडलीकरण एवं उदारीकरण के युग में लोक प्रशासन के लिए नयी भूमिका का सृजन हुआ है। इस इकाई में हमने लोक प्रशासन की आधारभूत विशेषताओं तथा इसके महत्व पर प्रकाश डाला है। अगले अध्याय में हम इस विषय के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोण पर प्रकाश डालेंगे।

1.8 शब्दावली

प्रशासनिक राज्य- ऐसा राज्य जिसमें कार्यपालिका शाखा का प्रभुत्व होता है, यद्यपि इसमें व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका भी स्थापित रहते हैं।

लोक कल्याणकारी राज्य- ऐसा राज्य जो समस्त जनता और विशेषकर कमजोर एवं जरूरतमंद लोगों अर्थात् निर्धन, वृद्ध, अपंग, बीमार इत्यादि लोगों को कानून और प्रशासन के द्वारा पर्याप्त सुविधायें प्रदान करता है।

प्रबन्धन- एक ऐसी प्रक्रिया जो प्रशासन द्वारा निर्धारित सीमाओं के अंतर्गत नीतियों के क्रियान्वयन से सम्बन्धित है। लोक नीति- वे सार्वजनिक नीतियाँ जो सरकार द्वारा जनहित में निर्धारित की जाती हैं।

1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. असत्य, 3. सत्य, 4. छोटे कर्मचारियों से लेकर बड़े अधिकारियों तक के कार्यों को, 5. सत्य, 6. असत्य, 7. लूथर गुलिक, 8. प्रशासन से सम्बन्धित ज्ञान का क्रमबद्ध अध्ययन व सुनिश्चित अवधारणाओं तथा परिकल्पनाओं का विकसित होना इत्यादि, 9. सार्वजनिक क्रमिक प्रशासन, सार्वजनिक वित्तीय प्रशासन, संगठनात्मक सिद्धान्त और तुलनात्मक लोक प्रशासन, 10. असत्य, 11. सत्य, 12. सत्य

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अवस्थी एवं माहेश्वरी; 2008, लोक प्रशासन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल आगरा, 2008,
2. व्हाइट, एल0डी0; 1968, इंट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. निग्रो, फेलिक्स ए0 एवं निग्रो, लायड जी0; 1980, मॉडर्न पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, हार्पर और रो, न्यूयार्क।

1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पेरी, जे0; 1989, हैन्डबुक ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन सैन फ्रांसिस्को।
2. वाल्डो, डवाइट, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशन साईंसेज।

1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोक प्रशासन की परिभाषा दीजिए तथा इसके प्रमुख लक्षणों को स्पष्ट कीजिये।
2. लोक प्रशासन की प्रकृति के सन्दर्भ में एकीकृत एवं प्रबन्ध कीय दृष्टिकोणों को स्पष्ट कीजिये।
3. लोक प्रशासन विज्ञान है अथवा कला? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
4. लोक प्रशासन के विषय-क्षेत्र को स्पष्ट कीजिये।
5. लोक प्रशासन विषय के महत्व पर प्रकाश डालिए। क्या भूमंडलीकरण के इस युग में इस विषय का महत्व कम हुआ है?

इकाई- 2 लोक प्रशासन और निजी प्रशासन

इकाई की संरचना

- 2.0 प्रस्तावना
- 2.1 उद्देश्य
- 2.2 लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में समानताएँ
- 2.3 लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में अन्तर
- 2.4 उदारीकरण के अंतर्गत लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन
- 2.5 सारांश
- 2.6 शब्दावली
- 2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.10 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

दूसरी इकाई में आपको लोक प्रशासन के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोणों से अवगत कराया गया। इस इकाई में हम आपको लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के बीच अन्तर को स्पष्ट करेंगे।

सामान्यतया प्रशासन को 'लोक प्रशासन' एवं 'निजी प्रशासन' में वर्गीकृत किया जाता है तथा यह माना जाता है कि कुछ समानताओं के बावजूद दोनों प्रकार के प्रशासन में मौलिक अन्तर है, परन्तु कुछ ऐसे भी विचारक हैं, जो यह मानते हैं कि सभी प्रकार के प्रशासन एक से होते हैं और सबकी आधारभूत विशेषताएँ एक सी होती हैं। दूसरे शब्दों में लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। ऐसी स्थिति में आपके मन में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठ रहा होगा कि वास्तव में लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन एक जैसे हैं या दोनों में कुछ आधारभूत अन्तर है? कुछ विद्वानों का मानना है कि इन दोनों प्रकार के प्रशासन में जो अन्तर भी था वह उदारीकरण के इस युग में मिट चुका है। ऐसी स्थिति में इस दोनों प्रकार के प्रशासन को एक ही दृष्टि से देखा जाना चाहिए। अब आप यह जानने को उत्सुक होंगे कि उदारीकरण का 'लोक प्रशासन' एवं निजी प्रशासन के संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ा है?

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप-

- लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन की समानताओं को समझ सकेंगे।
- इनके बीच अन्तर कर सकेंगे।
- उदारीकरण के अंतर्गत लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के स्वरूपों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

2.2 लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में समानताएँ

हेनरी फेयोल, एम0 पी0 फॉलेट तथा एल0 उर्विक जैसे कुछ विचारक हैं जो यह मानते हैं कि सभी प्रकार के प्रशासन एक से होते हैं और सबकी आधारभूत विशेषताएँ एक समान होती हैं। वे लोक और निजी प्रशासन में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। हेनरी फेयोल के शब्दों में “अब हमारे समक्ष कोई प्रशासनिक विज्ञान नहीं है, बल्कि केवल एक है जिसे लोक तथा निजी दोनों ही प्रशासनों के लिए समान रूप से भली-भाँति प्रयोग किया जा सकता है।”

फेयोल के विचार से सहमत होते हुए और उस विचार को और अधिक स्पष्ट करते हुए उर्विक ने लिखा है कि “यह बात गम्भीरतापूर्वक सोचना कठिन है कि पिछे से काम करने वाले व्यक्तियों का एक अलग जीव रसायन विज्ञान होता है, प्राध्यापकों का एक पृथक शरीर क्रिया ज्ञान तथा राजनीतिज्ञों का एक अलग रोग मनोविज्ञान होता है। वस्तुतः ये सब व्यक्तियों के लिए समान रूप से एक जैसे ही होते हैं।” इसी प्रकार उर्विक के अनुसार, किसी संगठन के विशेष स्वरूप के प्रयोजनों के आधार पर प्रबन्ध प्रशासन का उप-विभाजन करना गलत है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि सार्वजनिक तथा निजी दोनों ही प्रशासनों में बहुत सी बातें समान हैं। दोनों में अन्तर मात्रा का है, प्रकार का नहीं।

लोक तथा निजी दोनों प्रशासनों की समानताओं को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है-

1. प्रशासन में चाहे वह व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक, समान रूप से संगठन की आवश्यकता होती है। यह संगठन लगभग समान सिद्धान्तों तथा गुणों पर आधारित होता है और प्रशासन का शरीर है। यदि मानवीय एवं भौतिक साधनों का उचित संगठन न किया जाए तो प्रशासन के लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं की जा सकती।
2. दोनों प्रकार के प्रशासन की कार्यप्रणाली लगभग समान होती है। बड़े पैमाने के एक व्यावसायिक उद्यम का प्रशासन तथा एक बड़ी सरकारी सेवा का प्रशासन न्यूनाधिक रूप से एक ही रीति से सम्पन्न किया जाता है। दोनों प्रकार के प्रशासन में नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय तथा नियंत्रण की आवश्यकता होती है।
3. प्रबन्ध एवं संगठन सम्बन्धी अनेक तकनीकें दोनों ही प्रकार के प्रशासन में समान रूप से अपनायी जाती हैं। फाइलें रखना, रिपोर्ट तैयार करना, नोटिंग तथा ड्राफ्टिंग करना, आदेश देना, हिसाब-किताब रखना, आंकड़े उपलब्ध करना आदि की पद्धति सार्वजनिक तथा निजी दोनों प्रकार के प्रशासनों में समान रूप से देखने को मिलती है।
4. दोनों प्रकार के प्रशासन के उत्तरदायित्व समान होते हैं। इसका कारण यह है कि पदाधिकारियों के ध्येय एक जैसे रहते हैं- अपने नियत कार्य-क्षेत्र में काम करते हुए उपलब्ध मानवीय एवं भौतिक सामग्री को इस प्रकार प्रयुक्त करना, ताकि यथासम्भव अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकें।
5. दोनों ही प्रकार के प्रशासन की सफलता के लिए जनसंपर्क आवश्यक है। प्रजातंत्र में लोक प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। निजी प्रशासन में भी प्रचार द्वारा जनता से निकट सम्पर्क स्थापित किया जाता है। यदि प्रबन्धकों से जनता का विश्वास उठ जाता है तो व्यापार को हानि उठानी पड़ती है।
6. दोनों ही प्रकार का प्रशासन कर्मचारियों की योग्यता और दक्षता पर निर्भर करता है। ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा, परिश्रम, कुशलता, बौद्धिक स्तर, नेतृत्व आदि के गुण दोनों ही प्रशासनों के कर्मचारियों के

लिए समान रूप से आवश्यक होते हैं। अच्छे कुशल सरकारी कर्मचारियों के कार्यमुक्त होने पर निजी उद्योग पुनः नियुक्ति देते हैं।

7. आधुनिक युग में निजी प्रशासन के क्षेत्र में कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति, वेतनक्रम, सेवानिवृत्ति, पदच्युत करने के नियम तथा पेंशन आदि की वही व्यवस्था अपनायी जाती है जो सार्वजनिक क्षेत्र में अपनायी जाती है। नौकरशाही ढाँचा, प्रशासनिक ज्ञान, नियुक्ति की परीक्षा पद्धति, शिकायतों का निपटारा तथा अनुशासन के नियम आदि ने व्यक्तिगत सेवाओं को सरकारी सेवाओं के समान बना दिया है।
8. दोनों ही प्रकार के प्रशासन समान रूप से विकास की ओर अग्रसर होते हैं। यह विकास आन्तरिक संगठन की दृढ़ता और कुशलता पर निर्भर करता है। इसके लिए नये-नये सिद्धान्त, तकनीकें एवं उपकरण अपनाये जाते हैं तथा प्रशासन को आधुनिकतम बनाया जाता है। वस्तुतः दोनों प्रकार के प्रशासन को अधिक क्षमताशील तथा उन्नतिशील बनाने के लिए अन्वेषण की आवश्यकता होती है। नवीन अन्वेषणों द्वारा नवीन सिद्धान्त, विधाएँ तथा उपकरण आदि उपलब्ध कराये जाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

इस प्रकार लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन कई दृष्टियों से समान है।

2.3 लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में अन्तर

कुछ समानताओं के बावजूद लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन एक दूसरे से भिन्न है। लोक प्रशासन में ऐसे अनेक लक्षण हमें देखने को मिलते हैं जो निजी प्रशासन में देखने में नहीं आते। लोक तथा निजी प्रशासन के बीच असमानताओं के पक्ष में साइमन, एपलबी, सरजोसिया स्टाम्प आदि ने अपने विचार प्रकट किए हैं।

हर्बर्ट साइमन के अनुसार “सामान्य व्यक्तियों की दृष्टि में सार्वजनिक प्रशासन राजनीति से परिपूर्ण नौकरशाही और लालफीताशाही वाला होता है, जबकि निजी प्रशासन राजनीति शून्य और चुस्ती से काम करने वाला होता है।”

इसी प्रकार पॉल एच0 एपलबी ने लोक प्रशासन की यह विशेषता बतायी है कि इसमें निजी प्रशासन की अपेक्षा सार्वजनिक आलोचना और जाँच की अधिक सम्भावना होती है।

निजी तथा लोक प्रशासन के अन्तर को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है-

1. लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में उद्देश्यगत भिन्नता होती है। लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य जनता की सेवा करना होता है, जबकि निजी प्रशासन मुख्य रूप से लाभ की भावना से प्रेरित होता है। लोक प्रशासन का दायित्व न केवल जनता को सुरक्षा प्रदान करना बल्कि उनके बहुमुखी विकास की दशाएँ भी उपलब्ध कराना है, जबकि निजी प्रशासन ऐसे किसी दायित्व से बंधा हुआ नहीं होता और अपने हर कार्य को लाभ-हानि की दृष्टि से देखता है।
2. लोक प्रशासन का क्षेत्र एवं प्रभाव निजी प्रशासन की तुलना में व्यापक होता है। पॉल एच0 एपलबी के अनुसार “संगठित शासन समाज में विद्यमान या गतिशील प्रत्येक वस्तु को किसी भी रूप में अपने में समाविष्ट कर लेता है, उससे टकराता है और उसे प्रभावित करता है।” वर्तमान समय में राज्य ने अपने परम्परागत दृष्टिकोण का परित्याग करके आर्थिक क्षेत्र में भी प्रवेश कर लिया है। वह रोजगार प्रदान करने, उद्योग चलाने तथा निर्माण कार्य करने से लेकर सामाजिक सुरक्षा तक के समस्त कार्यों को पूर्ण करता है। निजी प्रशासन का क्षेत्र एवं प्रभाव सीमित है क्योंकि व्यक्तिगत प्रशासन का सम्बन्ध निजी संस्थानों के कार्य क्षेत्रों तक ही सीमित रहता है।

3. निजी प्रशासन की जनता के प्रति जबाबदेही उस रूप में नहीं होती, जिस रूप में लोक प्रशासन की। लोक प्रशासन को समाचार पत्रों तथा राजनीतिक दलों की आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। कोई भी विशिष्ट कदम उठाने से पूर्व प्रशासकों को इस बात पर सावधानी के साथ विचार करना पड़ता है कि उस पर जनता की सम्भावित प्रतिक्रिया क्या होगी, उस पर व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका का भी नियन्त्रण रहता है। इस तरह जनता के प्रति उत्तरदायित्व लोक प्रशासन का एक ऐसा लक्षण है जो निजी प्रशासन में नहीं पाया जाता।
4. लोक प्रशासन के अंतर्गत व्यवहार में कुछ एकरूपता अथवा समानता पायी जाती है। इस प्रशासन में प्रशासकों द्वारा बिना किसी प्रकार का पक्षपातपूर्ण अथवा विशिष्ट व्यवहार किए समाज के सभी सदस्यों को वस्तुएं तथा सेवाएं प्रदान की जाती हैं। निजी प्रशासन में पक्षपातपूर्ण अथवा विशिष्ट व्यवहार किया जा सकता है। दुकानदार उस व्यक्ति को उधार देने में संकोच नहीं करता जो उससे रोज सामान खरीदता है लेकिन एक डाक क्लर्क रोजाना पोस्टकार्ड खरीदने वाले को उधार नहीं दे सकता। निजी प्रशासन में उन व्यक्तियों के प्रति अगाध रूचि प्रकट की जाती है जिनसे व्यवसाय को अधिक से अधिक लाभ हो सकता है।
5. लोक प्रशासन द्वारा समाज को प्रदान की जाने वाली अनेक सेवाएं एकाधिकारी प्रवृत्ति की होती है। जैसे-सेना, रेल आदि के कार्य निजी स्तर पर नहीं किए जा सकते। इन विषयों पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण होता है। निजी प्रशासन में इस प्रकार का एकाधिकार नहीं पाया जाता। एक ही क्षेत्र में अनेक उद्यम होते हैं तथा इनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा रहती है।
6. लोक प्रशासन की अनेक क्रियाओं में एक प्रकार की अनिवार्यता होती है, जिसका निजी प्रशासन के क्षेत्र में अभाव होता है। देश की सुरक्षा, शांति और सुव्यवस्था, आदि ऐसे कार्य हैं जिनकी एक भी दिन अवहेलना नहीं की जा सकती।
7. लोक प्रशासन अपेक्षाकृत कानूनों एवं नियमों से अधिक नियमित होता है, जितना निजी प्रशासन नहीं होता है। इसमें कार्य संचालन की पद्धति, क्रय-विक्रय तथा टेण्डर आदि के निश्चित नियम होते हैं, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। जबकि निजी प्रशासन में सुविधानुसार कार्य किया जाता है तथा प्रक्रिया एवं नियमों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। इसमें पद्धति की जटिलता की अपेक्षा प्राप्त होने वाले परिणाम का ध्यान रखा जाता है।
8. लोक प्रशासन में प्रशासकीय कार्य की गति धीमी होती है तथा प्रक्रियात्मक कठोरता के परिणामस्वरूप लापरवाही, भ्रष्टाचार, अदक्षता जैसी प्रशासनिक बुराईयां उत्पन्न होती है। इस प्रशासन में प्रश्नों के उत्तर विलम्ब से दिए जाते हैं तथा प्रशासकीय-तंत्र में शिथिलता आ जाती है। इसके प्रतिकूल निजी प्रशासन के क्षेत्र में प्रशासकीय कार्य तीव्र गति से सम्पन्न होते हैं और निर्णय लेने में विलम्ब नहीं होता।
9. सेवा सुरक्षा की दृष्टि से भी लोक प्रशासन, निजी प्रशासन से भिन्न होता है। सरकारी सेवाओं में कर्मचारियों को सुरक्षा का भरोसा होता है। निजी सेवाओं में मनोवैज्ञानिक रूप से कर्मचारी अपने को असुरक्षित समझते हैं। आर्थिक नुकसान की स्थिति में निजी उद्यम या तो पूरी तरह बंद कर दिए जाते हैं या बहुत से कर्मचारियों की छटनी कर दी जाती है। ऐसी स्थिति में निजी प्रशासन के क्षेत्र में कार्यरत कर्मचारियों को अपनी सेवा के स्थायित्व का कोई आश्वासन नहीं होता है। लोक सेवा में एक बार प्रवेश पा लेने पर आसानी से किसी कर्मचारी को नौकरी से निकाला नहीं जा सकता।

10. लोक प्रशासन शासन की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें शासन की बाध्यकारी शक्ति होती है। निजी प्रशासन में यह गुण नहीं होता है। यह न तो जनता का प्रतिनिधित्व करता है और न ही बाध्यकारी शक्ति रखता है।
11. लोक प्रशासन का स्वरूप राजनीतिक होता है। एपलबी का विचार है कि प्रशासन राजनीति है, क्योंकि इसका ध्येय लोक हित है। उन्हीं के शब्दों में “इन तथ्यों पर बल देना आवश्यक है कि लोक प्रिय राजनीतिक प्रक्रियाएँ जो प्रजातन्त्र का स्तर हैं, केवल शासकीय संगठनों द्वारा ही कार्य करती हैं और सभी शासकीय संगठन केवल प्रशासकीय ही नहीं हैं, वरन् राजनीतिक जीवाणु भी हैं और उन्हें ऐसा होना भी चाहिए।” निजी प्रशासन का स्वरूप राजनीतिक नहीं होता है। इसीलिए इसका विस्तार सीमित होता है तथा यह व्यक्तिगत हित का ध्यान रखता है।
12. लोक प्रशासन के विभिन्न विभागों में पारस्परिक सहयोग, सामंजस्य तथा समन्वय पाया जाता है। इसलिए वे एक-दूसरे के साथ सहयोग की भावना से कार्य करते हैं। इसके विपरीत निजी प्रशासन में प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या-द्वेष और प्रतियोगिता की भावना होती है। यहाँ विभिन्न प्रतिष्ठान एक-दूसरे को पीछे छोड़ने तथा एक-दूसरे से आगे निकलने में लगे रहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोक प्रशासन और निजी प्रशासन कई दृष्टियों से एक दूसरे से भिन्न हैं। लोक प्रशासन में जो लोक हित की भावना, जबावदेहिता, व्यवहार की एकरूपता, कानून और नियमों का अनुपालन, वित्त पर बाह्य नियन्त्रण इत्यादि विशेषताएँ पायी जाती हैं, वे निजी प्रशासन में नहीं पायी जाती। परन्तु फिर भी लोक प्रशासन और निजी प्रशासन दो भिन्न विधाएँ नहीं हैं, वरन् एक ही प्रशासन के दो भाग हैं। इनके बीच का अन्तर मात्रात्मक है, गुणात्मक नहीं।

2.4 उदारीकरण के अन्तर्गत लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन

कतिपय विद्वानों का यह मानना है कि उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के इस युग में लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के मध्य संस्थागत विशिष्टताएँ लगातार धुंधली पड़ती जा रही हैं। इनके मध्य सीमा रेखा अस्पष्ट तथा अवास्तविक है और अब तो बिल्कुल समाप्ति की ओर है। लेकिन दूसरी ओर अधिकांश विद्वानों का मानना है कि उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के कारण लोक प्रशासन की भूमिका में थोड़ा परिवर्तन अवश्य हुआ है, लेकिन यह अब भी आधारभूत रूप से निजी प्रशासन से भिन्न है।

लोक प्रशासन के क्षेत्र में राज्य बनाम बाजार चर्चा का एक प्रमुख विषय बन गया है। इसका प्रमुख कारण लगभग दो दशक पूर्व साम्यवादी देश सोवियत संघ का विघटन तथा उदारवाद को विश्वव्यापी स्वरूप धारण करना है। ऐसा माना जा रहा है कि विकासशील देशों के आर्थिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक विकास की बागडोर राज्य के हाथों से छूटती जा रही है। राज्य विकासशील देशों के नियोजनात्मक विकास के कार्यों में अपनी भूमिका सीमित करके नियामकीय कार्यों को बेहतर बनाने में लग गया है ताकि बाजार व्यवस्था बेहतर बनाई जा सके। राज्य को निजी उद्यमों की भाँति बाजार प्रणाली में कूदना पड़ रहा है। परिणामस्वरूप विकासशील देशों में राज्य और बाजार में अन्तर का प्रतिशत सिमटता जा रहा है। इस आधार पर कुछ लोगों का यह मानना है कि आने वाले समय में लोक प्रशासन की वे सभी विशिष्टताएँ जो इसे निजी प्रशासन से अलग करती हैं बिल्कुल समाप्त हो जायेंगी। इनमें कोई दो राय नहीं कि उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के इस दौर में राज्य का सिकुड़न हो रहा है और निजी क्षेत्र का विस्तार हो रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र में घाटे में चल रहे उद्योगों का विनिवेशीकरण किया जा रहा है और निजी

उद्यमियों को अधिक से अधिक पूँजी निवेश के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। शिक्षा एवं स्वास्थ्य जैसी आधारभूत सुविधायें प्रदान करना पहले राज्य का मुख्य दायित्व समझा जाता था, लेकिन अब इन क्षेत्रों में भी निजी पूँजी निवेश को बढ़ावा दिया जा रहा है। अब लोक प्रशासन में भी निजी प्रशासन की तरह 'मितव्ययिता' तथा दक्षता को अपनाने तथा आधुनिक वैज्ञानिक प्रबन्धन तकनीक के अधिक से अधिक प्रयोग करने पर बल दिया जा रहा है। निजी प्रशासन की तरह लोक प्रशासन में भी कार्य सम्पादन की गुणवत्ता को बढ़ाना एक प्रमुख उद्देश्य बन गया है। आज लोक प्रशासन प्रमुख नियोक्ता नहीं रह गया है और बड़े पैमाने पर निजी प्रशासन में रोजगार के अवसर सृजित हो रहे हैं। सार्वजनिक सुविधाएँ तथा सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के क्षेत्र में भी लोक प्रशासन की भूमिका सीमित हो गयी है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच के अन्तर को समाप्त मान लेना चाहिए?

सच तो यह है कि उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के इस दौर में लोक प्रशासन की भूमिका एवं इसके स्वरूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है। लोक प्रशासन में धीरे-धीरे नियंत्रणों, नियमनों, लाइसेंस परमिट आदि को कम करने के प्रयास किये गये हैं तथा इसकी भूमिका एक 'नियामक' एवं 'सुविधाकारक' के रूप में महत्वपूर्ण बन गयी है। लेकिन उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के इस युग में भी लोक प्रशासन की कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जो उसे निजी प्रशासन से अलग करती हैं-

1. 'जनहित संरक्षण' एवं 'लोक हित संरक्षण' आज भी लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य है, जबकि निजी प्रशासन का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना है। इसमें कोई दो राय नहीं कि शिक्षा, स्वास्थ्य, जीवन सुरक्षा बीमा इत्यादि कई ऐसी सेवाएँ हैं जो पहले लोक प्रशासन के कार्यक्षेत्र में ही आती थी, लेकिन आज निजी क्षेत्र बड़े पैमाने पर इन सेवाओं को प्रदान कर रहा है। लेकिन यहाँ भी इसका उद्देश्य लाभ कमाना ही होता है या कम से कम किसी प्रकार का नुकसान उठाना नहीं होता है। परिणामस्वरूप निजी क्षेत्र में प्रदान की गयी शिक्षा या स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएँ सरकारी क्षेत्र की तुलना में काफी महंगी होती है जिसे समाज का निर्धन-वर्ग वहन नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में समाज के कमजोर वर्गों के हितों की रक्षा लोक प्रशासन के माध्यम से ही की जाती है। इस प्रकार लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में उद्देश्य गत भिन्नता उदारीकरण के इस युग में भी बनी हुई है।
2. प्रभाव की दृष्टि से भी लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच का अन्तर बना हुआ है। यद्यपि उदारीकरण में सरकार की भूमिका पहले से थोड़ी कम अवश्य हुई है, लेकिन एक 'नियामक' एवं 'नियंत्रक' के रूप में इसकी विशिष्टता अब भी बनी हुई है। जैसे- प्रदूषण फैलाने वाले उद्यमों पर रोक लगाना या निर्धारित मापदंडों का उल्लंघन करने वाले उद्यमों को दंडित करना इत्यादि लोक प्रशासन का ही दायित्व है। इसके अतिरिक्त आर्थिक उथल-पुथल या मंदी के दौर में देश को संकट से उबारना या मंहगाई को नियंत्रित करना भी लोक प्रशासन का ही दायित्व माना जाता है। देश में शांति और सुव्यवस्था स्थापित करना या कमजोर वर्गों के हितों की सुरक्षा करना तो परंपरागत रूप लोक प्रशासन की विशिष्टता रही है जो आज भी बनी हुई है। अतः उदारीकरण के इस युग में भी लोक प्रशासन का प्रभाव क्षेत्र निजी प्रशासन की तुलना में व्यापक है।
3. जबाबदेहिता की दृष्टि से भी लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच का अन्तर बना हुआ है। सार्वजनिक होने के कारण लोक प्रशासन जनता के जाँच के लिए खुला होता है, सरकारी अधिकारियों द्वारा की गयी एक छोटी सी गलती भी समाचार-पत्रों की सुर्खियों में प्रकाशित होती है। संसद एवं विधान

- सभाओं में हंगामा खड़ा हो जाता है। पुलिस जैसे संगठनों को भी अपने कार्यों का स्पष्टीकरण देना होता है और यह सिद्ध करना होता है कि उनके किसी भी कार्य से जनता में रोष नहीं फैले। इस प्रकार का व्यापक प्रचार निजी प्रशासन में नहीं होता और न उस पर जनता तथा समाचार पत्रों की निगाह ही रहती है।
4. उदारीकरण के इस युग में भी लोक प्रशासन के कार्यों में लचीलापन देखने को नहीं मिलता। कानूनों, नियमों एवं विनियमों से बंधे होने के कारण सरकारी कर्मचारियों द्वारा कई बार आवश्यक कार्यों के सम्पादन में भी अनावश्यक विलंब होता है। इसके विपरीत निजी प्रशासन इस तरह के कानूनी बन्धनों से मुक्त रहते हैं। हर प्रकार के व्यवसाय के नियंत्रण के लिए सामान्य कानून जरूर होते हैं, किन्तु निजी फर्में बदलती हुई परिस्थितियों को देखते हुए अपने कार्यों में काफी लचीलापन अपनाती है। ऐसा करना केवल उन्हीं के लिए सम्भव है, क्योंकि उन पर लोक प्रशासन की तरह के कानूनी बन्धन नहीं होते।
 5. लोक प्रशासन में किसी भी प्रकार के पक्षपात अथवा भेदभावपूर्ण व्यवहार की अपेक्षा नहीं की जाती। अगर ऐसा होता है तो यह संसद, विधानसभाओं या जनसंचार के माध्यमों में तीव्र आलोचना का विषय बन जाता है तथा संबंधित प्रशासनिक अधिकारियों के विरुद्ध सख्त कार्रवाई की मांग की जाती है। लेकिन निजी प्रशासन में प्रतियोगी मांगों के कारण खुलकर भेदभाव होता है। उत्पादनों के चयन तथा कीमतें निश्चित करने में व्यापारिक प्रतिष्ठान भेदभाव और पक्षपात करते हैं, जो व्यापारिक संस्कृति का एक अंग बन गया है।
 6. लोक प्रशासन का संगठन एक व्यापारिक अथवा निजी संगठन से बहुत अधिक जटिल होता है। प्रकाशन की प्रत्येक इकाई संबंधित लोक संगठनों के साथ जुड़ी होती है और उस इकाई को संबंधित इकाईयों के साथ कार्य करना होता है। इसके विपरीत निजी प्रशासन अधिक संक्षेपता, पृथकता और स्वायत्ता के साथ कार्य करता है।
 7. उदारीकरण की प्रक्रिया ने निजी क्षेत्र में बड़े पैमाने पर रोजगार के अवसर सृजित किये हैं तथा उच्च तकनीकी अथवा व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त युवकों को लोक प्रशासन की तुलना में अधिक आकर्षक वेतनमान एवं सुविधाएँ भी दी जा रही हैं, लेकिन फिर भी इनमें असुरक्षा का भाव बना रहता है, क्योंकि बाजार पर आधारित व्यापार अनिश्चितताओं से भरा होता है। इसके विपरीत लोक प्रशासन में कार्यरत कर्मचारियों में सुरक्षा का भाव होता है। अभी हाल ही में विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के दौरान जिस प्रकार निजी क्षेत्र में बड़े पैमाने पर कर्मचारियों की छंटनी की गयी, इससे हमारे युवकों में लोक प्रशासन के अंतर्गत कार्य करने का रुझान एक बार फिर से बढ़ गया है। अतः सेवा सुरक्षा की दृष्टि से भी उदारीकरण के इस युग में लोक प्रशासन की विशिष्टता बनी हुई है।
 8. लोक प्रशासन राजनीतिक प्रभाव और दबाव से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है, जबकि निजी प्रशासन इससे मुक्त होता है।
 9. लोक प्रशासन अत्यधिक जटिल सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पर्यावरण में क्रियाशील होता है, जिसके परिणामस्वरूप कार्यक्रम प्रभाव एवं संगठनात्मक कार्यशीलता का मापन कठिन हो जाता है। निजी प्रशासन में संगठनात्मक कार्यशीलता का मापन अपेक्षाकृत सरल होता है।
 10. लोक प्रशासन के ऊपर राष्ट्र निर्माण और भावी समाज को दिशा देने जैसी जिम्मेदारियां होती हैं, इसलिए यह सामाजिक मूल्यों की स्थापना करने की ओर झुका होता है। निजी प्रशासन को सरकार द्वारा निर्धारित मार्गदर्शन का पालन करना होता है।

इस प्रकार उदारीकरण के युग में भी लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच अन्तर बना हुआ है, यद्यपि यह अन्तर पहले की अपेक्षा कम हुआ है।

अभ्यास प्रश्न-

1. लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन दोनों में नियोजन एवं संगठन की आवश्यकता होती है। सत्य/असत्य
2. लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में उद्देश्यगत भिन्नता होती है। सत्य/असत्य
3. लोक प्रशासन का क्षेत्र निजी प्रशासन की तुलना में संकुचित होता है। सत्य/असत्य
4. निजी प्रशासन की जनता के प्रति जबावदेहिता उस रूप में नहीं होती, जिस रूप में लोक प्रशासन की। सत्य/असत्य
5. उदारीकरण के अंतर्गत प्रशासन में नियंत्रणों, नियमनों, लाइसेंस, परमिट आदि को कम करने के प्रयास किये गए हैं। सत्य/असत्य
6. उदारीकरण के युग में लोक प्रशासन की भूमिका एक सुविधाकारक की बन गई है। सत्य/असत्य
7. उदारीकरण के युग में लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में कोई अन्तर नहीं है। सत्य/असत्य
8. जनहित संरक्षण आज भी लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य है। सत्य/असत्य

2.5 सारांश

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन में कुछ समानताएँ पायी जाती हैं, लेकिन फिर भी आधारभूत रूप से ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। दोनों ही प्रशासन में नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय तथा नियंत्रण की आवश्यकता होती है। प्रबन्ध की अनेक तकनीकें तथा कार्यप्रणाली भी समान होती है। लेकिन लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य जनता की सेवा करना होता है, जबकि निजी प्रशासन लाभ की भावना से प्रेरित होता है। निजी प्रशासन की तुलना में लोक प्रशासन का क्षेत्र एवं प्रभाव व्यापक होता है। निजी प्रशासन की जबावदेहिता जनता के प्रति उस रूप में नहीं होती, जिस रूप में लोक प्रशासन की होती है। लोक प्रशासन के कार्यों में प्रक्रियात्मक कठोरता पाई जाती है, लेकिन निजी प्रशासन के कार्यों में लचीलापन। प्रशासकीय कार्यों की गति लोक प्रशासन में निजी प्रशासन की तुलना में धीमी होती है। लोक प्रशासन में कार्यरत कर्मचारियों में सुरक्षा का भाव होता है, जबकि निजी प्रशासन में कार्यरत कर्मचारियों में असुरक्षा का। लोक प्रशासन राजनीतिक प्रभाव और दबाव से प्रभावित होता है, जबकि निजी प्रशासन इन प्रभावों से मुक्त होता है। लोक प्रशासन में नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों की प्रधानता निजी प्रशासन की तुलना में अधिक होती है।

उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच अन्तर कुछ कम अवश्य हुआ है, लेकिन इनके मध्य की सीमा रेखा अब भी बनी हुई है। उदारीकरण के युग में भी लोक प्रशासन जनहित से प्रेरित होता है, ना कि व्यापारिक दृष्टिकोण से। सार्वजनिकता की विशेषता इस प्रशासन को विशिष्टता की स्थिति प्रदान करती है और निजी प्रशासन से अलग करती है। उदारीकरण के अंतर्गत जहाँ कुछ क्षेत्रों में लोक प्रशासन की भूमिका में कटौती हुई है, वहीं दूसरी तरफ एक नियामक एवं सुविधाकारक के रूप में इसके लिए नई भूमिका का सृजन हुआ है।

2.6 शब्दावली

व्यावसायिक उद्यम- ऐसे उद्यम जिनका उद्देश्य लाभ कमाना होता है।

नियामक- दूसरों के कार्यों पर निगरानी तथा नियंत्रण रखने वाला।

सुविधाकारक- प्रक्रियात्मक कठिनाईयों को दूर कर किसी कार्य को सरल या सुविधाजनक बनाने वाला।

उदारीकरण- उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें आयात-निर्यात तथा पूँजी निवेश को बढ़ावा देने के लिए आर्थिक नियमों को लचीला बनाया जाता है।

वैश्वीकरण- आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं तकनीकी रूप से विश्व के विभिन्न देशों में एकीकरण की प्रवृत्ति जिसमें विभिन्न देशों में व्यक्ति, वस्तु या मुद्रा के आवागमन पर लगी रोक कम कर दी जाती है या हटा ली जाती है।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. असत्य, 4. सत्य, 5. सत्य, 6. सत्य, 7. असत्य, 8. सत्य

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अवस्थी एवं माहेश्वरी, (2008), लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. निग्रो, फलिक्स ए0 एवं निग्रो लॉयड जी, (1980), मॉडर्न पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, हार्पर और रो, न्यूयार्क।
3. व्हाइट, एल0डी0,(1968), इंट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
4. भट्टाचार्य, मोहित, (1998), न्यू हॉरिजन्स ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
5. अरौड़ा, रमेश के (संपादित) (1979), पर्सपेक्टिव इन एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरी, एसोसियेटेड पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. बार्कर, आर0जे0एस0,1972, एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरी एण्ड पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन।
2. गॉर्टनर, हैरोल्ड एफ0, (1977) एडमिनिस्ट्रेशन इन द पब्लिक सेक्टर।

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. कुछ समानताओं के बावजूद लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन एक दूसरे से मौलिक रूप से भिन्न है। विवेचना कीजिए।
2. क्या आप इस मत से सहमत हैं कि उदारीकरण के अंतर्गत लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के मध्य सीमा रेखा अस्पष्ट एवं अवास्तविक है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

-
3. 'लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के मध्य अन्तर मात्रा का है, प्रकार का नहीं।' क्या आप इस मत से सहमत हैं? स्पष्ट कीजिए।

इकाई- 3 लोक प्रशासन का विकास, नवीन लोक प्रशासन

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 लोक प्रशासन का विकास: प्राचीन काल

3.3 लोक प्रशासन का विकास: आधुनिक काल

3.3.1 प्रथम चरण (1887-1926)

3.3.2 द्वितीय चरण (1927-1937)

3.3.3 तृतीय चरण (1938-1947)

3.3.4 चतुर्थ चरण (1948-1970)

3.3.5 पंचम चरण (1971-1990)

3.3.6 षष्ठम चरण (1991- अब तक)

3.4 नवीन लोक प्रशासन: पृष्ठभूमि

3.4.1 नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएँ

3.4.2 नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्य

3.4.2.1 प्रासंगिकता

3.4.2.2 मूल्य

3.4.2.3 सामाजिक समता

3.4.2.4 परिवर्तन

3.5 सारांश

3.6 शब्दावली

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.10 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

लोक प्रशासन के अध्ययन से संबंधित यह चौथी इकाई है। इससे पहले की इकाईयों के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि लोक प्रशासन क्या है, इसके अन्तर्गत किन विषयों का अध्ययन किया जाता है, इसके अध्ययन के परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोणों में क्या अन्तर है तथा यह किस प्रकार निजी प्रशासन के भिन्न है?

किसी भी विषय के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए उसके अतीत को समझना आवश्यक होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह अध्ययन के विषय को व्यापक सन्दर्भ में स्थापित करने में सहायक होता है तथा व्यावहारिक दृष्टि से भूतकाल के ज्ञान का उपयोग वर्तमान में विषय के विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में सहायक होता है। प्रबन्ध की क्रिया के रूप में लोक प्रशासन उतना ही प्राचीन है जितना कि मनुष्य का सामाजिक जीवन। परन्तु अध्ययन की

एक शाखा या विधा के रूप में इसका विधिवत विकास आधुनिक काल में ही संभव हो सका है। इस इकाई में लोक प्रशासन विषय के विकास के विभिन्न चरणों पर प्रकाश डाला गया है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह स्पष्ट कर सकेंगे कि नवीन लोक प्रशासन किस प्रकार परम्परागत लोक प्रशासन से भिन्न है तथा इसकी क्या विशिष्टताएँ हैं?

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- लोक प्रशासन के अध्ययन के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को जान सकेंगे।
- विभिन्न चरणों में विषय की प्रकृति में अन्तर कर सकेंगे।
- नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएँ एवं इसके महत्व के बारे में जान सकेंगे।
- विकासशील समाजों के लिए नवीन लोक प्रशासन की प्रासंगिकता को स्पष्ट कर सकेंगे।

3.2 लोक प्रशासन का विकास: प्राचीन काल

एक क्रियाकलाप के रूप में लोक प्रशासन प्राचीन काल से ही अस्तित्व में रहा है। इसके विभिन्न सिद्धान्त हमें प्राचीन भारत के ग्रन्थ- रामायण, महाभारत तथा विभिन्न स्मृतियों के साथ-साथ मुख्यतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलते हैं। अर्थशास्त्र राज्य के उद्देश्यों तथा उन उद्देश्यों की प्राप्ति के व्यावहारिक साधनों पर एक विशिष्ट तथा कुशल शोध प्रबन्ध माना जाता है। प्राचीन भारत में लोक प्रशासन पर यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

कौटिल्य ने प्रशासन की समस्याओं को समझने के लिए 'राजनैतिक अर्थनीति' का मार्ग अपनाया है। प्रशासन के सिद्धान्त मुख्यतः राजा, मंत्रियों आदि के कार्यों द्वारा इंगित किये गये हैं। अधिकार आज्ञापालन तथा अनुशासन के सिद्धान्तों को राज्य के प्रशासन का केन्द्र माना गया है। इस बात पर बल दिया गया है कि कार्य विभाजन, श्रेणीबद्ध पदानुक्रम तथा समन्वय जैसे सिद्धान्तों को आंतरिक संगठन की कार्यविधि में अपनाया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त संभवतः कौटिल्य ही ऐसे जाने-माने विचारक थे जिन्होंने प्रशासन में सांख्यिकी के महत्व को मान्यता दी। उनके चिंतन में जिस प्रकार राज्य के व्यापक दायित्वों, जैसे- अनाथ बच्चों, महिलाओं, वृद्धों कमजोर वर्गों इत्यादि का भरण-पोषण करना तथा जनसामान्य के हितों के लिए कल्याणकारी योजनाएं चलाना इत्यादि पर बल दिया गया है, इससे एक कल्याणकारी राज्य की झलक मिलती है जो बहुत कुछ आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य की तरह ही है।

यद्यपि कौटिल्य द्वारा वर्णित प्रशासकीय व्यवस्था राजतंत्रीय शासन के सन्दर्भ में थी, जोकि आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों की प्रशासनिक व्यवस्था से भिन्न है, फिर भी उसके द्वारा स्थापित लोक प्रशासन ही परम्पराएँ महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये लोक प्रशासन विज्ञान तथा शासन कला के व्यवस्थित विश्लेषण पर जोर देते हैं।

इसी प्रकार के विवेचन में चीन में कन्फ्यूसियस द्वारा दिये गये उपदेशों, अरस्तू की महान रचना 'पॉलिटिक्स' हॉब्स की रचना 'लेवियाथन' और मैकियावली की रचना 'द प्रिन्स' में देखने को मिलते हैं।

3.3 लोक प्रशासन का विकास: आधुनिक काल

18वीं सदी में जर्मनी और आस्ट्रिया में कैमरलवाद का अभ्युदय हुआ जो सरकारी मामलों के व्यवस्थित प्रबन्धन से जुड़ा हुआ था। कैमरलवादियों ने लोक प्रशासन की संरचनाओं, सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं के विवरणात्मक अध्ययनों पर और लोक अधिकारियों के पेशेवर प्रशिक्षण पर बल दिया।

18वीं सदी के अंतिम वर्षों में संभवतः अमेरिका में पहली बार लोक प्रशासन के अर्थ और उद्देश्य को हैमिल्टन की पुस्तक 'फेडरलिस्ट' में पारिभाषित किया गया। चार्ल्स ज्यां बूनिन पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अलग से लोक प्रशासन पर फ्रेन्च भाषा में पुस्तक की रचना की। परन्तु परम्परागत रूप से शोध के अलग क्षेत्र के रूप में लोक प्रशासन का विकास उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ।

आधुनिक काल में अध्ययन के एक विषय के रूप में लोक प्रशासन के विकास का इतिहास उतार-चढ़ाव से भरा हुआ है, जिसे निम्नलिखित चरणों में समझा जा सकता है-

3.3.1 प्रथम चरण (1887-1926)

विकास के प्रथम चरण में लोक प्रशासन एवं राजनीति के द्विभाजन पर बल दिया गया। वुडरो विल्सन, जिन्हें लोक प्रशासन का जनक माना जाता है, ने 1887 में एक निबन्ध प्रकाशित किया जिसका शीर्षक था 'दी स्टडी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन'। इस निबन्ध में उन्होंने राजनीति और प्रशासन को अलग-अलग बताया तथा यह भी कहा कि 'एक संविधान की रचना सरल है पर इसको चलाना बड़ा कठिन है।' उन्होंने इस चलाने के क्षेत्र अर्थात् लोक प्रशासन को एक स्वायत्त विषय बनाने पर बल दिया।

विल्सन के पश्चात फ्रैंक गुडनाउ ने 1900 में अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन' में यह तर्क दिया कि राजनीति राज्य इच्छा को प्रतिपादित करती है, जबकि प्रशासन इस इच्छा या नीतियों के क्रियान्वयन से सम्बन्धित है। इसलिए नीति-निर्माण का कार्य नीति-क्रियान्वयन के कार्य से अलग है। नीति-निर्माण का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिकाओं द्वारा सम्पादित किया जाना चाहिए तथा उसके क्रियान्वयन का कार्य राजनीतिक रूप से तटस्थ, योग्य एवं तकनीकी दक्षता से युक्त प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए।

1926 में एल0 डी0 व्हाइट द्वारा 'इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' नामक पुस्तक प्रकाशित की गयी जिसे लोक प्रशासन की प्रथम पाठ्य पुस्तक होने की मान्यता प्राप्त है। इस पुस्तक में व्हाइट ने राजनीति एवं प्रशासन के मध्य अन्तर को स्वीकार करते हुए इस बात पर बल दिया कि लोक प्रशासन का मुख्य लक्ष्य दक्षता एवं मितव्ययिता हैं। उनके अनुसार प्रशासन किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बहुत से व्यक्तियों का निर्देशन, समन्वयीकरण तथा नियन्त्रण की कला है।

3.3.2 द्वितीय चरण (1927-1937)

इस चरण में लोक प्रशासन के सैद्धान्तिक पहलू पर बल दिया गया। ऐसी आस्था व्यक्त की गयी कि प्रशासन के कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं जिनका पता लगाकर इनके क्रियान्वयन को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में 1927 में डब्ल्यू0 एफ0 विलोबी द्वारा लिखित पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विलोबी इस बात में पूर्ण विश्वास रखते थे कि प्रशासन के अनेक सिद्धान्त हैं, जिन्हें कार्यान्वित करने से लोक प्रशासन में सुधार हो सकता है।

विलोबी के बाद अनेक विद्वानों ने उक्त सन्दर्भ में पुस्तकें लिखी जिनमें मेरी पार्कर फॉलेट, हेनरी फेयोल, मूने तथा रैले इत्यादि के नाम प्रमुख हैं।

1937 में लूथर गुलिक तथा उर्विक द्वारा लिखित ग्रन्थ 'पेपर्स ऑन दी साइंस ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन' में इस बात पर बल दिया गया कि प्रशासन में सिद्धान्त होने के कारण यह एक विज्ञान है। गुलिक तथा उर्विक ने प्रशासन के सिद्धान्तों को 'पोस्टडॉक्टोरी' के रूप में व्यक्त किया। इस चरण को लोक प्रशासन के विकास में स्वर्णिम युग माना जाता है।

3.3.3 तृतीय चरण (1938-1947)

यह चरण लोक प्रशासन के अध्ययन के विकास में विध्वंसकारी चरण माना जाता है, जिसमें प्रशासनिक सिद्धान्तों को चुनौती दी गयी।

चेस्टर बर्नार्ड ने 1938 में अपनी पुस्तक 'दी फक्सन्स ऑफ एक्सक्यूटिव' में प्रशासन को एक सहकारी सामाजिक क्रिया बताते हुए इस बात पर बल दिया कि व्यक्तियों के आचारण प्रशासकीय कार्यों को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। बर्नार्ड के विचारों के फलस्वरूप लोक प्रशासन के सिद्धान्त वादी दृष्टिकोण पर प्रहार शुरू हुआ।

1946 में हरबर्ट साइमन ने अपना एक लेख प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने तथाकथित सिद्धान्तों का उपहास करते हुए उन्हें मुहावरे की संज्ञा दी। एक वर्ष बाद ही उन्होंने अपनी पुस्तक 'एडमिनिस्ट्रेटिव विहेवियर' में यह भली-भाँति सिद्ध कर दिया कि प्रशासन में सिद्धान्त नाम की कोई चीज नहीं है।

1947 में रॉबर्ट ए0 डॉहल ने अपने एक लेख में सिद्धान्तवादियों की इस मान्यता का जोरदार खण्डन किया कि लोक प्रशासन एक विज्ञान है। उन्होंने लोक प्रशासन के सिद्धान्त की खोज में तीन बाधाओं का जिक्र किया, यथा-मूल्य सापेक्षता, मानव व्यवहार की विविधता, एवं सामाजिक ढाँचा।

इस प्रकार लोक प्रशासन का तीसरा चरण चुनौतियों एवं आलोचनाओं से परिपूर्ण रहा।

3.3.4 चतुर्थ चरण (1948-1970)

इस चरण में लोक प्रशासन अपनी 'पहचान के संकट' से जूझता रहा। विषय की सिद्धान्तवादी विचारधारा अविश्वसनीय प्रतीत होने लगी तथा इसका वैज्ञानिक स्वरूप भी वाद-विवाद का विषय बन गया।

विषय को इस पहचान के संकट से उबारने के लिए मोटे तौर पर दो रास्ते अपनाये गये। कुछ विद्वान राजनीति शास्त्र की ओर मुखातिब हुए परन्तु राजनीतिशास्त्र में इस समय कुछ परिवर्तन आ रहे थे। लोक प्रशासन का राजनीति शास्त्र में जितना महत्व पहले था, उसमें गिरावट आ गयी। ऐसी अवस्था में यह विषय सौतेलापन व अकेलापन अनुभव करने लगा।

दूसरे प्रयास में कुछ विद्वानों ने लोक प्रशासन को निजी प्रबन्धों के साथ जोड़कर प्रशासनिक विज्ञान बनाने का प्रयास किया। इन विद्वानों की यह मान्यता थी कि प्रशासन चाहे दफ्तरों में हो या कारखानों में दोनों ही क्षेत्रों में यह प्रशासन है। इसी प्रयास के अंतर्गत 1956 में 'एडमिनिस्ट्रेटिव साइंस क्वार्टरली' नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया गया। इस प्रयास में भी लोक प्रशासन को अपना निजी स्वरूप गंवाना पड़ा तथा इसे प्रबन्ध विज्ञान की ओर मुखातिब होना पड़ा। इस तरह दोनों ही प्रयासों के बावजूद लोक प्रशासन के 'पहचान का संकट' बरकरार रहा।

3.3.5 पंचम चरण (1971-1990)

इस चरण में विषय के अन्तर्विषयक दृष्टिकोण का विकास हुआ। चतुर्थ चरण के संकट ने लोक प्रशासन के विषय के विकास में अनेक चुनौतियां प्रस्तुत की थी, जो इसके लिए वरदान सिद्ध हुआ। अनेक शाखाओं के विज्ञान के समावेश से इसके विकास में सर्वांगीण उन्नति हुई। राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थी तो सदैव ही लोक प्रशासन में रूचि लेते रहे हैं, इसके साथ-साथ अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, आदि शास्त्रों के विद्वान भी इस विषय में रूचि लेने लगे। इन सबके फलस्वरूप लोक प्रशासन अन्तर्विषयी बन गया। आज समाजशास्त्रों में यदि कोई सबसे अधिक अन्तर्विषयी है तो वह लोक प्रशासन ही है। 'तुलनात्मक लोक प्रशासन' तथा 'विकास

प्रशासन' का प्रादुर्भाव भी विषय की नूतन प्रवृत्तियों को दर्शाता है। तुलनात्मक लोक प्रशासन विभिन्न संस्कृतियों में कार्यरत विभिन्न देशों की सार्वजनिक प्रशासनिक संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। विकास प्रशासन विकासशील देशों की सरकार के प्रशासन से सम्बन्धित है।

3.3.6 षष्ठम चरण (1991- अब तक)

इस चरण में उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के सन्दर्भ में लोक प्रशासन के अंतर्गत नवीन लोक प्रबन्धन की अवधारणा का विकास हुआ है। ऐसा माना जा रहा है कि लोक प्रशासन को लोक प्रबन्धन में बदला जाना चाहिए, ताकि लोक निर्णय शीघ्रता एवं मितव्ययिता के साथ की जा सके। नवीन लोक प्रबन्धन लोक प्रशासन में कार्य सम्पादन को अधिक महत्व देता है। लोक प्रशासन में धीरे-धीरे नियन्त्रणों, नियमनों, लाइसेन्स, परमिट आदि को कम करने के प्रयास किये गये हैं तथा प्रशासन को एक सुविधाकारक तंत्र के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया गया है। दूसरे शब्दों में पारंपरिक लोक प्रशासन को बाजारोन्मुख लोक प्रशासन में परिवर्तित करने पर बल दिया जा रहा है। नवीन लोक प्रबन्धन का प्रयोग सर्वप्रथम 1991 में क्रिस्टोफर हुड के द्वारा किया गया। इसके उपरान्त इस दृष्टिकोण के विकास में गेराल्ड केइन, पी0 हैगेट, सी0 पौलिट, आर रोड्स तथा एल0 टेरी ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस प्रकार, अध्ययन के एक विषय के रूप में लोक प्रशासन का स्वरूप बदलते हुए राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिवेश एवं विचारधाराओं के अनुरूप परिवर्तित, संशोधित एवं संवर्द्धित होता रहा है। वर्तमान समय में लोक प्रशासन के अध्ययन में राजनैतिक एवं नीति निर्धारण प्रक्रियाओं तथा लोक कार्यक्रमों के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाने लगा है। 1971ई0 के पश्चात से नवीन लोक प्रशासन के विकास ने लोक प्रशासन के अध्ययन को समृद्ध किया है।

3.4 नवीन लोक प्रशासन: पृष्ठभूमि

प्रायः देखा गया है कि उथल-पुथल, अस्थिरता एवं अव्यवस्था के कालों में नवीन विचारों का अभ्युदय होता है और वे परम्परागत शास्त्रों के विषयों को नवीन दिशा प्रदान करते हैं। यह बात लोक प्रशासन के सम्बन्ध में सत्य प्रतीत होती है। सातवें दशक में लोक प्रशासन की क्रिया प्रणाली के उद्देश्य के रूप में मितव्ययिता तथा कार्यकुशलता को अपर्याप्त एवं अपूर्ण पाया गया। इस दशक के अंतिम वर्षों में कुछ विद्वानों, विशेषकर युवा-वर्ग ने लोक प्रशासन में मूल्यों एवं नैतिकता पर विशेष बल देना प्रारम्भ कर दिया। यह कहा जाने लगा कि कार्यकुशलता ही समस्त लोक प्रशासन का लक्ष्य नहीं है, उसे मूल्योन्मुखी होना चाहिए। इस नवीन प्रवृत्ति को नवीन लोक प्रशासन की संज्ञा दी गयी।

वास्तव में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को मूर्त रूप देने के प्रयत्नों ने लोक प्रशासन में अनेक नवीन प्रवृत्तियों को जन्म दिया है, जिन्हें नवीन लोक प्रशासन के नाम से जाना जाता है। इसके अंतर्गत नैतिकता एवं सामाजिक उपयोगिता पर बल दिया जाता है तथा इसका मुख्य उद्देश्य मानव कल्याण है।

नवीन लोक प्रशासन का आरम्भ 1967 के 'हनी प्रतिवेदन' से समझा जा सकता है। प्रो0 जॉन सी0 हनी का प्रतिवेदन अमेरिका में लोक प्रशासन का स्वतंत्र विषय के रूप में 'अध्ययन की सम्भावनाएँ' पर आधारित था। इस प्रतिवेदन में लोक प्रशासन को विस्तृत एवं व्यापक बनाने पर जोर दिया गया। इस प्रतिवेदन का जहाँ एक तरफ स्वागत हुआ वही दूसरी तरफ इसको लेकर तीव्र विवाद भी उत्पन्न हुआ। प्रतिवेदन में जो मुद्दे उठाये गये थे, वे महत्वपूर्ण थे। परन्तु जो मुद्दे नहीं उठाये गये थे, वे उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण थे। तत्कालीन सामाजिक समस्याओं के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करने के लिए इस प्रतिवेदन में कोई ठोस सुझाव नहीं दिया गया था। फिर भी इस

प्रतिवेदन ने अनेक विद्वानों को समाज में लोक प्रशासन की भूमिका पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने के लिए प्रेरित किया।

हनी प्रतिवेदन के पश्चात 1967 में अमेरिका के फिलाडेल्फिया शहर में इसी विषय पर सम्मेलन आयोजित हुआ। सम्मेलन में जहाँ कुछ चिन्तकों ने लोक प्रशासन को महज बौद्धिक चिन्तन का केन्द्र माना तो दूसरों ने उसे मात्र प्रक्रिया माना। कुछ चिन्तकों ने इसे प्रशासन का तो कुछ ने समाज का अंग माना। वस्तुस्थिति यह रही कि इस सम्मेलन में भी लोक प्रशासन का नवीन स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सका।

1968 में आयोजित मिन्नोब्रुक सम्मेलन ने लोक प्रशासन की प्रकृति में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया तथा यह नवीन लोक प्रशासन को स्थापित करने में मील का पत्थर सिद्ध हुआ। इस सम्मेलन में युवा विचारकों का प्रतिनिधित्व रहा तथा वे समस्त बिन्दुवाद विवाद की परिधि में आये जो बीते दो सम्मेलनों में शामिल नहीं किये गये थे। इस सम्मेलन में परम्परागत लोक प्रशासन के स्थान पर नवीन लोक प्रशासन नाम प्रकाश में आया।

1971 में फ्रेंक मेरीनी कृत 'टूवार्ड्स ए न्यू पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन-मिन्नोब्रुक पर्सपेक्टिव' के प्रकाशन के साथ ही नवीन लोक प्रशासन को मान्यता प्राप्त हुई। इसी समय ड्वाइट वाल्डो की कृति ने नवीन लोक प्रशासन को और सशक्त बना दिया। उक्त दोनों पुस्तकों में नवीन लोक प्रशासन को सामाजिक समस्याओं के प्रति संवेदनशील माना गया है।

सन् 1980 व 1990 के दौरान विकसित राष्ट्रों को सार्वजनिक क्षेत्र प्रबन्धन में दृढता तथा अधिकारी प्रवृत्ति से नमनीयता की ओर मुड़ते देखा गया। इसके अतिरिक्त विभिन्न राष्ट्रों में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की चाह में लोक प्रशासन को सरकार व जनता के मध्य नवीन सम्बन्ध स्थापित करने पर बल दिया गया। इन तथ्यों का उल्लेख 1980 में प्रकाशित एच0 जार्ज फ्रेडरिकसन की पुस्तक 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन डेवलपमेंट एज ए डिस्प्लिन' में देखा जा सकता है।

1990 के दशक में भी नवीन लोक प्रशासन में नये प्रतिमान विकसित किये गये हैं, जिसे नवीन लोक प्रबन्धन बाजार आधारित लोक प्रशासन, उद्यमकर्ता शासन आदि का नाम दिया जा सकता है। इसके अंतर्गत दक्षता, मितव्ययिता तथा प्रभावदायकता पर बल दिया गया है।

इस प्रकार विगत चार दशकों में लोक प्रशासन अपने नवीन रूप में लोक प्रिय हो चला है।

3.4.1 नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएँ

नवीन लोक प्रशासन की विचारधारा समयानुकूल तथा परम्परागत लोक प्रशासन में परिवर्तन की विचारधारा है। परम्परागत लोक प्रशासन में मूल्य निरपेक्षता, दक्षता, निष्पक्षता, कार्यकुशलता इत्यादि पर बल दिया गया था, जबकि नवीन लोक प्रशासन नैतिकता, उत्तरदायित्व, सामाजिक सापेक्षता, नमनीय तटस्थता एवं प्रतिबद्ध प्रशासनिक प्रणाली पर बल देता है। यह माना जाता है कि नवीन लोक प्रशासन सामाजिक परिवर्तन का सर्वश्रेष्ठ संवाहक है तथा यह लक्ष्य अभिमुखी है।

नवीन लोक प्रशासन की प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित रूपों में व्यक्त किया जा सकता है-

1. नवीन लोक प्रशासन परम्परागत लोक प्रशासन की 'यान्त्रिकता' एवं आर्थिक मानव की अवधारणा को स्वीकार नहीं करता है। यह मानवीय व्यवहार दृष्टिकोण एवं मानवीय सम्बन्धों का समर्थन करता है। दूसरे शब्दों में नवीन लोक प्रशासन मानवोन्मुख है।
2. यह राजनीति और प्रशासन के द्विभाजन तथा निजी एवं लोक प्रशासन के बीच के अन्तर को अस्वीकार करता है। इस तरह का विभाजन अव्यहारिक, अप्रासंगिक तथा अवास्तविक माना जाता है।

3. यह सम्बन्धात्मक है और ग्राहक केन्द्रित दृष्टिकोण पर बल देता है। यह इस बात पर बल देता है कि नागरिक को यह बताने का अधिकार होना चाहिए कि उनको क्या, किस प्रकार और कब चाहिए? संक्षेप में लोक प्रशासन को नागरिकों की रूचि एवं आवश्यकतानुसार सेवा करनी चाहिए।
4. यह परिवर्तन तथा नवीनता का समर्थक है। परम्परागत दृष्टिकोणों को त्यागता हुआ और व्यवहारवादी दृष्टिकोण की दीवार को लांघता हुआ नवीन लोक प्रशासन उत्तर व्यवहारवादी दृष्टिकोण के निकट पहुँच चुका है। साथ ही इसमें पारिस्थिकी एवं पर्यावरण के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता है।
5. कल्याणकारी योजनाओं को शीघ्र एवं प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए नवीन लोक प्रशासन परिवर्तनशील प्रशासनिक तंत्र, विकेन्द्रीकरण तथा प्रत्यायोजन का समर्थन करता है।
6. यह मूल्यों से परिपूर्ण प्रशासन, जनसहभागिता, उत्तरदायित्व तथा सामाजिक रूप से हितप्रद कार्यों पर बल देता है।

इस प्रकार नवीन लोक प्रशासन परम्परागत लोक प्रशासन से कई दृष्टियों में भिन्न है। कुछ विचारक इसे एक मौलिक विषय के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो कुछ अन्य विचारक इसे परम्परागत प्रशासन का ही एक संशोधित रूप मानते हैं। कैम्पबेल के अनुसार नवीन लोक प्रशासन का विषय मौलिक अध्ययन की अपेक्षा पुनर्व्याख्या पर अधिक बल देता है। इसी प्रकार एक अन्य विचारक राबर्ट टी0 गोलमब्यूस्की का कहना है कि नवीन लोक प्रशासन शब्दों में क्रांतिवाद का उद्-घोष करता है, किन्तु वास्तव में यह पुरातन सिद्धान्तों व तकनीकों की स्थिति है।

यथार्थ में अगर देखा जाये तो कैम्पबेल एवं गोलमब्यूस्की जैसे विचारक पूर्वाग्रह से ग्रसित प्रतीत होते हैं। इस सन्दर्भ में निग्रो एवं निग्रो के इस मत से सहमति व्यक्त की जा सकती है कि नवीन लोक प्रशासन के समर्थकों ने रचनात्मक वाद-विवाद को प्रेरित किया है। उन्ही के शब्दों में “जब से नवीन लोक प्रशासन का उदय हुआ है मूल्यों और नैतिकता के प्रश्न लोक प्रशासन के मुख्य मुद्दे रहे हैं। नवीन लोक प्रशासन को जो लोग नयी बोटल में पुरानी शराब मानते हैं, वे लोक प्रशासन के विकास और परिवर्तन के पक्षधर नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि लोक प्रशासन के विचारों, व्यवहारों, कार्यशैली और तकनीकों में जो अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ आयी हैं, उसे समय के बहाव के साथ स्वीकार करना होगा और इसके सकारात्मक उद्देश्यों को समर्थन देना होगा।”

3. 4.2 नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्य

नवीन लोक प्रशासन के चार प्रमुख लक्ष्य हैं- प्रासंगिकता, मूल्य, सामाजिक समता तथा परिवर्तन। इनकी व्याख्या निम्नवत की जा सकती है-

3.4.2.1 प्रासंगिकता

नवीन लोक प्रशासन तथ्यों की प्रासंगिकता पर अत्यधिक बल देता है। यह परम्परागत लोक प्रशासन के लक्ष्यों-कार्यकुशलता एवं मितव्ययिता को समकालीन समाज की समस्याओं के समाधान हेतु अपर्याप्त मानता है और इस बात पर बल देता है कि लोक प्रशासन का ज्ञान एवं शोध समाज की आवश्यकता के सन्दर्भ में प्रासंगिक तथा संगतिपूर्ण होना चाहिए।

मिन्नोब्रुक सम्मेलन में प्रतिनिधियों ने ‘नीति उन्मुख लोक प्रशासन’ की आवश्यकता पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और इस बात पर प्रकाश डाला कि लोक प्रशासन को सभी प्रशासनिक कार्यों के राजनीतिक एवं आदर्श निहित अर्थों एवं तात्पर्यों पर स्पष्ट रूप से विचार करना चाहिए।

3.4.2.2 मूल्य

नवीन लोक प्रशासन आदर्शपरक है और मूल्यों पर आधारित अध्ययन को महत्व प्रदान करता है। यह परम्परागत लोक प्रशासन के मूल्यों को छिपाने की प्रवृत्ति तथा प्रक्रियात्मक तटस्थता को अस्वीकार करते हुए ऐसे शोध प्रयासों को अपनाने पर बल देता है, जो सामाजिक न्याय के अनुरूप हों। इसके अनुसार लोक प्रशासन को खुले रूप में उन्हीं मूल्यों को अपनाना होगा जो समाज में उत्पन्न समस्याओं का समाधान कर सकें तथा समाज के दुर्बल वर्गों के लिए सक्रिय कदम उठाये।

3.4.2.3 सामाजिक समता

नवीन लोक प्रशासन समाज की विषमता को दूर करके सामाजिक समानता एवं सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को अपनाने पर बल देता है, यह इस बात पर बल देता है कि लोक प्रशासन समाज के कमजोर एवं पिछड़े-वर्गों की आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पीड़ा को समझे और इस दिशा में समुचित कदम उठाये। फ़ैरडरिक्सन के शब्दों में “वह लोक प्रशासन जो परिवर्तन लाने में असफल है, जो अल्प संख्यकों के अभावों को दूर करने का निरर्थक प्रयास करता है, संभवतः उसका प्रयोग अंततः उन्हीं अल्प संख्यकों को कुचलने के लिए किया जायेगा।” इस प्रकार नवीन लोक प्रशासन में जन कल्याण पर विशेष बल दिया गया है।

3.4.2.4 परिवर्तन

नवीन लोक प्रशासन यथास्थिति बनाये रखने का विरोधी है और सामाजिक परिवर्तन में विश्वास करता है। इसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि परिवर्तनों के समर्थक लोक प्रशासन को केवल शक्तिशाली हित समूहों या दबाव समूहों के अधीन कार्य नहीं करना चाहिए, बल्कि इसे तो सम्पूर्ण सामाजिक आर्थिक तंत्र में परिवर्तन का अंगुवा बनना चाहिए। इस प्रकार सामाजिक आर्थिक परिवर्तन के लिए एक सशक्त अभिमुखता ही नवीन लोक प्रशासन की अनिवार्य विषय वस्तु है। शीघ्र परिवर्तित वातावरण के अनुरूप संगठन के नवीन रूपों का विकास किया जाना चाहिए।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि परम्परागत लोक प्रशासन की अपेक्षा नवीन लोक प्रशासन जातिगत कम और सार्वजनिक अधिक, वर्णनात्मक कम और आदेशात्मक अधिक, संस्था उन्मुख कम और जन प्रभाव उन्मुख अधिक तथा तटस्थ कम और आदर्शात्मक अधिक है। साथ ही इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने पर भी बल दिया गया है।

अभ्यास प्रश्न-

1. एक क्रियाकलाप के रूप में लोक प्रशासन प्राचीन काल से ही अस्तित्व में रहा है। सत्य/असत्य
2. कौटिल्य ने प्रशासन की समस्याओं को समझने के लिए कौन सा मार्ग अपनाया?
3. लोक प्रशासन का जनक किसे माना जाता है?
4. द्वितीय चरण (1927-1937) में लोक प्रशासन के किस पहलू पर बल दिया गया?
5. नवीन लोक प्रशासन का आरम्भ 1667 के हनी प्रतिवेदन से समझा जाता है। सत्य/असत्य
6. नवीन लोक प्रशासन राजनीति एवं प्रशासन के द्विभाजन को स्वीकार करता है। सत्य/असत्य
7. नवीन लोक प्रशासन के चार लक्ष्य लिखिए।

3.5 सारांश

शासन की एक क्रिया के रूप में लोक प्रशासन का अस्तित्व प्राचीन काल से ही देखने को मिलता है, लेकिन एक व्यवस्थित एवं स्वातंत्र्य विषय के रूप में इसका अध्ययन उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रारम्भ हुआ। आधुनिक काल में विषय का विकास अनेक उतार चढ़ाव से भरा हुआ है। प्रथम चरण (1887-

1926) में लोक प्रशासन एवं राजनीति के पृथक्करण पर बल दिया गया। द्वितीय चरण (1927-1937) में प्रशासन के सैद्धान्तिक पहलू पर बल दिया गया। गुलिक व उर्विक ने प्रशासन के सिद्धान्तों को 'पोस्टकार्ब' के रूप में व्यक्त किया। तृतीय चरण (1938-1947) में प्रशासनिक सिद्धान्तों को चुनौती दी गयी। चतुर्थ चरण (1948-1970) में यह विषय पहचान के संकट से जूझता रहा। पंचम चरण (1971-1990) में इस विषय में अन्तःअनुशासनात्मक दृष्टिकोण का विकास हुआ तथा तुलनात्मक लोक प्रशासन एवं विकास प्रशासन की नूतन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। 1991 के बाद से उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत लोक प्रशासन में 'नवीन लोक प्रबन्धन' की अवधारणा का विकास हुआ है।

नवीन लोक प्रशासन की अवधारणा का अभ्युदय सत्तर के दशक के अंतिम वर्षों में लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा को मूर्त रूप देने के प्रयत्नों में हुआ। यह परम्परागत लोक प्रशासन में परिवर्तन की विचारधारा हैं। मितव्ययिता एवं कार्यकुशलता के लक्ष्य को अपर्याप्त मानते हुए नवीन लोक प्रशासन नैतिकता एवं सामाजिक उपयोगिता पर बल देता है। यह मानवोन्मुख एवं सम्बन्धात्मक हैं तथा मूल्यों से परिपूर्ण परिवर्तनशील प्रशासनिकतंत्र, विकेन्द्रीकरण, प्रत्यायोजन, जनसहभागिता, उत्तरदायित्व तथा सार्वजनिक रूप से हितकर कार्यों पर बल देता है।

3.6 शब्दावली

राजतंत्रीय शासन- शासन की वह प्रणाली जिसमें समस्त शक्तियाँ एक व्यक्ति के (राजा या रानी) हाथ में केन्द्रित होती हैं और सामान्यतया उसका पद वंशानुगत आधार पर निर्धारित होता है।

द्विभाजन- दो भागों में।

मूल्य सापेक्षता- मूल्यों अथवा आदर्शों के प्रति झुकाव अथवा उसमें आस्था व्यक्त करना।

मितव्ययिता- कम व्यय में किसी कार्य को सम्पादित करने की प्रवृत्ति।

अधिकारी प्रवृत्ति- प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा अपने आपको आम जनता से उच्च समझने की प्रवृत्ति।

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. राजनैतिक अर्थनीति, 3. वुडरो विल्सन, 4. सैद्धान्तिक पहलू, 5. सत्य, 6. असत्य, 7. प्रासंगिकता, मूल्य, सामाजिक समता तथा परिवर्तन

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गोलमब्यूस्की, राबर्ट टी, (1977), पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन एज ए डेवलपिंग डिस्सिप्लीन, मॉरसिल डेक्कर, न्यूयार्क।
2. अवस्थी एवं माहेश्वरी, (2008), लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
3. मेरिनी, फ्रैंक, (1971), टूवर्ड्स ए न्यू पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन-मिन्नोब्रुक पर्सपेक्टिव।

3.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. स्वेर्डलो इरविग, (1968), डेवलपमेंट एडमिनिस्ट्रेशन: कॉन्सेप्ट एण्ड प्राब्लम्स, सिरेकुस, युनिवर्सिटी प्रेस, सिरेकुस।

-
2. वर्मा, एस0पी0 एवं शर्मा एस0 के0, (1983), डेवलपमेंट एडमिनिस्ट्रेशन, आई0आई0पी0ए0, नई दिल्ली।
-

3.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. अध्ययन के एक विषय के रूप में लोक प्रशासन के विकास पर प्रकाश डालिए।
2. नवीन लोक प्रशासन से आप क्या समझते हैं? यह पुराने लोक प्रशासन से किस प्रकार भिन्न है?
3. नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्यों अथवा उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 4 संगठन के सिद्धान्त- पदसोपान, नियंत्रण का क्षेत्र

इकाई की संरचना

- 4.0 प्रस्तावना
- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 पदसोपान
- 4.3 नियंत्रण का क्षेत्र
- 4.4 आदेश की एकता
- 4.5 सारांश
- 4.6 शब्दावली
- 4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 4.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.10 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

संगठन किसी भी प्रशासनिक व्यवस्था की रीढ़ होता है। कार्यों का सुव्यवस्थित संचालन तभी संभव है जब अधिकार, जिम्मेदारी और आदेश की शृंखला स्पष्ट रूप से निर्धारित हो। इसी संदर्भ में संगठन के दो प्रमुख सिद्धान्त सामने आते हैं—*पदसोपान (Hierarchy)* और *नियंत्रण का क्षेत्र (Span of Control)*। पदसोपान से आशय उस क्रम से है जिसमें अधिकार और आदेश शीर्ष स्तर से निम्न स्तर तक प्रवाहित होते हैं। यह संगठन में अनुशासन, उत्तरदायित्व और व्यवस्था बनाए रखने का आधार प्रदान करता है। दूसरी ओर, नियंत्रण का क्षेत्र उस सीमा को दर्शाता है जिसके भीतर कोई अधिकारी अपने अधीनस्थों पर प्रभावी निगरानी रख सकता है। यदि यह सीमा बहुत बड़ी या बहुत छोटी हो जाए, तो संगठन की कार्यकुशलता प्रभावित हो सकती है। प्रशासन और प्रबंधन दोनों ही क्षेत्रों में इन दोनों सिद्धान्तों की उपयोगिता अत्यधिक मानी जाती है, क्योंकि ये संगठनात्मक संरचना की नींव को मजबूती प्रदान करते हैं।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- संगठन के प्रथम सिद्धान्त पदसोपान के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- नियंत्रण के क्षेत्र की अवधारणा का विश्लेषण कर सकेंगे।
- आदेश की एकता सम्बन्धी सिद्धान्त की विवेचना कर सकेंगे।
- नियंत्रण के क्षेत्र (Span of Control) की अवधारणा, प्रकार तथा सीमाओं को समझ सकेंगे।
- यह विश्लेषण कर पाएँगे कि पदसोपान और नियंत्रण का क्षेत्र संगठनात्मक दक्षता को कैसे प्रभावित करते हैं।

4.2 पदसोपान

प्रशासनिक दृष्टि से देखा जाय तो पदसोपान का अर्थ किसी अधीनस्थ पर वरिष्ठ की सत्ता या उच्चता से है। यह एक ऐसा बहुस्तरीय संगठन है, जिसमें क्रमवार कई स्तर होते हैं जो आपस में एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिससे किसी संगठन के विभिन्न व्यक्तियों के प्रयासों को एक-दूसरे से समन्वित ढंग से सम्बन्धित किया जाता है। संगठन के विभिन्न सिद्धान्तों में का पदसोपान स्थान महत्वपूर्ण एवं प्रथम है। दूसरे शब्दों में यह अधिकार और आदेश की शीर्ष स्तरीय व्यवस्था है।

संगठन का एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है पदसोपान, पदसोपान के अभाव में किसी संगठन की कल्पना सम्भव नहीं हो सकती है। इसलिए यह सभी संगठनों की एक आधारभूत आवश्यकता होती है। प्रत्येक प्रशासकीय संगठन पदसोपान के रूप में गठित होता है। अतः शिखर से नीचे तक उच्च अधिकारियों एवं अधीनस्थों के सम्बन्धों को परस्पर सम्बद्ध करने की व्यवस्था को ही पद-सोपान की संज्ञा दी जाती है।

संगठन सिद्धान्त के पितामह फेयोल के अनुसार उच्चतम प्रबन्ध से न्यूनतम पदों तक की श्रृंखला ही पद सोपान के नाम से जानी जाती है। इसमें आदेश ऊपर से नीचे तथा एक क्रम में चलने चाहिये। पदसोपान में उत्तरदायित्व के अनेक स्तर होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि जहाँ तक सम्भव हो अधीनस्थ को अपने वरिष्ठ की सत्ता का उल्लंघन नहीं करना है। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर तथा शीघ्र निर्णय लेने के लिये, फेयोल के अनुसार कभी-कभी इस क्रम को तोड़ा भी जा सकता है।

संगठन में इन सम्बन्धों से पिरामिड आकार की संरचना की स्थापना हो जाती है। इस संरचना को मूने और रैले ने सीढ़ीनुमा प्रक्रिया की संज्ञा दी है। संगठन में “सीढ़ीनुमा” का तात्पर्य है, अधिकारी तथा संबन्धित दायित्वों के अनुपात में दायित्वों का स्तर निर्धारित करना। मूने के अनुसार यह सीढ़ीनुमा श्रृंखला समस्त संगठनो में पायी जाती है, अतः जहाँ कहीं भी वरिष्ठ और कनिष्ठों के मध्य सम्बन्धों की स्थापना होगी, एक संगठन होगा, वहाँ सीढ़ीनुमा सिद्धान्त भी क्रियात्मक रूप से लागू होगा।

इस सिद्धान्त के अनुसार सभी पदाधिकारियों के मध्य प्रत्यक्ष सम्पर्क होना चाहिये। किसी भी सूचना का संचार सभी सम्बन्धित प्रबन्धकीय पदाधिकारियों के स्तर से होना चाहिये। वरिष्ठ एवं अधीनस्थों के मध्य सम्बन्धों की स्पष्ट श्रृंखला निर्धारित होनी चाहिए और श्रृंखला का उल्लंघन कदापि नहीं किया जाना चाहिए। आज्ञा व लेने-लेने के मार्ग बिल्कुल स्पष्ट होने चाहिये। इस प्रकार पद-सोपान आदेशों का एक प्रवाह बन जाता है।

पदसोपान में चूँकि सत्ता के अनेक स्तर होते हैं। अतः उसमें सत्ता का हस्तान्तरण करना अनिवार्य होता है। उच्च अथवा प्रवर अधिकारी द्वारा प्रत्येक अधीनस्थ कर्मचारी को कार्य का एक क्षेत्र आवंटित किया जाता है। इस आवंटित क्षेत्र में उसे निर्णय लेने का पूर्ण अधिकार होता है। प्रत्यायोजन द्वारा उच्च अधिकारी जो कुछ भी करता है उसके लिये सदा अपने उच्च अधिकारी के प्रति उत्तरदायी होता है।

प्रत्येक आज्ञा, पत्र-व्यवहार, तथा संचार आदि उचित मार्ग द्वारा ही आना जाना चाहिये। अर्थात् तत्काल उच्च अधिकारी द्वारा शिखर अधिकारी तक क्रम से जाना चाहिये। एक लिपिक, प्रधान लिपिक के अधीन है, प्रधान लिपिक एक कार्यालय अधीक्षक के अधीन है तथा कार्यालय अधीक्षक अनुभाग अधिकारी के अधीन है आदि। यदि लिपिक को कोई बात अनुभाग अधिकारी से कहनी है, तो वह प्रधान लिपिक के माध्यम से कार्यालय अधीक्षक तक पहुँचेगा और तब उसके द्वारा अनुभाग-अधिकारी तक पहुँचेगा।

इसी प्रकार यदि अनुभाग अधिकारी लिपिक की कोई आदेश देना चाहता है तो वह आदेश कार्यालय अधीक्षक के द्वारा ही प्रधान लिपिक तक पहुँचना चाहिए और तब उसके माध्यम से लिपिक तक आना चाहिए। उपरोक्त

निर्वचन के उपरान्त पद सोपान सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताओं का प्रतिपादन किया जा सकता है। इन्हें क्रमबद्ध कर समझने का प्रयास करें-

1. प्रशासनिक संगठन की क्रिया-कलाप को इकाइयों और उप-इकाइयों में विभाजित करना सम्भव हो जाता है।
2. इन इकाइयों की स्थापना एक के नीचे एक की जाती है, जिससे पिरामिड के आकार की संरचना का निर्माण होता है।
3. विभिन्न स्तरों को से सम्बन्धित अधिकारों एवं उत्तर-दायित्वों का निर्धारण सम्भव हो पाता है।
4. सोपानक्रम पर आधारित संगठन सुव्यवस्थित रूप से उचित माध्यम से सिद्धान्त का पालन करता है।
5. कर्मचारी केवल अपने से निकटतम वरिष्ठ अधिकारी से आदेश माँगता है किसी भी अन्य अधिकारी से नहीं।
6. अधिकार और उत्तरदायित्व में समुचित समन्वय एवं ताल-मेल रेखा जाता है, क्योंकि बिना उत्तरदायित्व के अधिकार खतरनाक होते हैं तथा बिना अधिकार के उत्तरदायित्व महत्वहीन बन जाते हैं।

सोपानक्रम के बिना किसी संगठन की कल्पना करना कठिन है। एक प्रशासनिक संगठन में विभिन्न कर्मचारी एक साथ काम करते हैं। अतः यह वांछनीय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का बोध हो। यही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का भी ज्ञान होना चाहिये कि उसके अन्य व्यक्तियों के साथ क्या सम्बन्ध हैं? उसके मस्तिष्क में यह तथ्य स्पष्ट होना चाहिये कि उसे किसकी आज्ञा का अनुपालन करना है। केवल ऐसा होने पर ही संगठन से भ्रम, विवाद तथा मतभेद दूर किये जा सकते हैं और इसे प्रभावी रूप से जनता के प्रति जावबदेह बनाया जा सकता है।

इस प्रकार जो संगठन पदसोपान के अनुसार कार्य करते हैं, उनमें अधिकार एवं सत्ता ऊपर से नीचे की ओर एक-एक सीढ़ी या एक-एक स्तर से उतरते हुए आते हैं। इस सीढ़ीनुमा व्यवस्था की आवश्यकता दो कारणों से पूरी होती है, पहला- कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त करने के उद्देश्य से कार्य को उसके आवश्यक हिस्सों में बाँटवारा। और दूसरा- विशेषताओं के व्यवहार तथा कार्यों को एक संयुक्त प्रयास में समन्वित ढंग से जोड़ने की प्रक्रिया को प्राप्त करना। पदसोपान में ऊपर या नीचे एक-एक स्तर चढ़ कर या उतर कर आया जाता है। इस प्रकार सोपानक्रम संगठन में संचार तथा सत्ता के विभिन्न स्तरों के मध्य आदेशों की एक श्रृंखला का सशक्त बन जाता है। सोपानक्रम सिद्धान्त में यह आवश्यक है कि ऊपर या नीचे के स्तर से सम्पर्क स्थापित करते समय बीच के किसी भी स्तरा को अनेदेखा न किया जाए। संगठन में सोपानक्रम सिद्धान्त के प्रयोग से होने वाले लाभों को निम्नलिखित ढंग से क्रमबद्ध कर आत्मसात् किया जा सकता है-

1. प्रशासनिक संगठन में उद्देश्यों में एकता होनी चाहिए। यह एकता पद सोपान द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।
2. संगठन में कार्यों का विभाजन होता है, जिससे विभिन्न कार्य इकाइयाँ अस्तित्व में आती हैं। सोपानक्रम, संगठन की विभिन्न इकाइयों को आपस में समन्वित कर एक संयुक्त ढाँचे की रचना करता है। जिससे संगठनात्मक एकीकरण एवं समन्वय द्वारा संगठन को और प्रभावी बनाया जाता है।
3. इस सिद्धान्त में संगठन में नीचे से ऊपर तक एवं ऊपर से नीचे तक आवश्यक संचार व्यवस्था स्थापित की स्थापना होती है। जिससे प्रत्येक कार्मिक को यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका अगल सम्बन्ध किस कर्मचारी से है।

4. यह सिद्धान्त प्रत्येक स्तर और पद पर उत्तरदायित्व निर्धारित करने में सहायक होता है। प्रत्येक कर्मचारी को संगठन में अपनी स्थिति और उत्तरदायित्वों का ज्ञान होता है तथा यह भी मालूम होता है कि वह किसके प्रति प्रत्यक्ष तौर पर उत्तरदायी है।
5. इसके द्वारा उचित माध्यम से व्यवस्था में प्रक्रिया का कड़ाई से नियमानुसार पालन किया जाता है, जिससे आसान तथा भ्रष्ट रास्तों का प्रयोग प्रतिबन्धित हो जाता है।
6. सोपानक्रम के फलस्वरूप उच्चतम स्तर पर काम का भार कम हो जाता है तथा विकेन्द्रीकरण द्वारा निर्णय लेने की प्रक्रिया आसान हो जाती है। संगठन का प्रत्येक कर्मचारी निर्णय लेने और अपने अधीनस्थों के मार्गनिर्देशन के लिए प्रशिक्षित किया जाता है, जिससे अधीनस्थ कर्मचारियों एवं अधिकारियों में भी संगठन में अपने महत्व की भावना उत्पन्न होती है।
7. सुव्यवस्थित व्यवस्था तथा नियमों का कड़ाई से पालन किये जाने के कारण कर्षों की गति आसान हो जाती है और यह जानना आसान हो जाता है कि किसी कार्य से सम्बन्धित पत्रावली किस कर्मचारी विशेष के पास तथा किन कारणों से अवरूद्ध है।

यद्यपि पदसोपान व्यवस्था की उपयोगिता को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है। परन्तु साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि सिक्के के दो पहलू होते हैं। अर्थात् इस व्यवस्था के निम्नलिखित दोषों को भी रेखांकित करना आवश्यक है-

यह सिद्धान्त कार्य के निष्पादन में अनावश्यक विलम्ब करता है। इस व्यवस्था में कई दिन सप्ताह तथा महीने लग सकते हैं। अतः यह सिद्धान्त लालफीताशाही को बढ़ावा मिलता है तथा भ्रष्टाचार का जन्म होता है।

अत्यधिक औपचारिक के कारण संगठन में उच्च अधिकारियों एवं अधीनस्थों के मध्य औपचारिक सम्बन्ध पैदा हो जाते हैं। ऐसे सम्बन्धों के कारण उच्चतर पदाधिकारियों एवं निम्न पदाधिकारियों के मध्य पारस्परिक सहयोग की भावना में कमी हो जाती है तथा सभी यांत्रिक बनकर मूकदर्शक बने रहते हैं।

वस्तुतः इस सिद्धान्त के गुणों एवं दोषों को देखते हुए यह सिद्ध हो जाता है कि संगठन में पदसोपान के दोषों की अपेक्षा उसके लाभ की अधिकता है। यदि उच्च एवं निम्न अधिकारियों के मध्य समुचित निष्ठा एवं विश्वास पैदा हो जाये, तो कार्य के विलम्ब के दोषों तथा उच्चाधिकारियों एवं अधीनस्थ से उत्पन्न दोषों को निश्चित रूप से कम किया जा सकता है। जिससे एक प्रशासनिक संगठन को अधिक पारदर्शी, जवाबदेह तथा प्रभावी बनाया जा सकता है।

4.3 नियंत्रण का क्षेत्र

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है कि प्रशासनिक संगठन में किसी अधिकारी का कार्य-क्षेत्र कितना होना चाहिए? नियन्त्रण के माध्यम क्या होने चाहिये? इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में 'नियंत्रण का क्षेत्र' नामक सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। संगठन में अधिकारी के पास अधिक कार्य भी नहीं होना चाहिये और कम भी नहीं, क्षमता के अनुसार ही कार्य-क्षेत्र निर्धारित होना चाहिये।

लोक प्रशासन के चिन्तकों के अनुसार अधिकारियों का नियन्त्रण क्षेत्र सीमित होना चाहिये, क्योंकि नियन्त्रण क्षेत्र के व्यापक होने पर नियंत्रण का प्रभाव कम हो जाता है।

'स्पैन' का शाब्दिक अर्थ वह दूरी है, जो किसी व्यक्ति के अंगूठे और कनिष्ठ ऊंगली को फैलाये जाने से बनती है। जबकि नियंत्रण शब्द का मतलब आदेश-निर्देश या नियंत्रित करने वाले अधिकार या सत्ता से है। लोक प्रशासन में

नियंत्रण के क्षेत्र का तात्पर्य उन अधीनस्थ कर्मचारियों से है, जिन पर एक अधिकारी कारगर एवं प्रभावी ढंग से नियंत्रण करता है।

संगठन में एक उच्च अधिकारी को अपने अधीनस्थ कर्मचारी वर्ग की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखना होता है। इससे वह आश्वस्त होता है कि प्रत्येक कार्य नियमों एवं निर्देशों के अनुसार किया जा रहा है या नहीं। परन्तु उस नियन्त्रण के क्षेत्र की भी शारीरिक व मानसिक सीमाएँ होती हैं, जोकि एक उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर लागू कर सकता है।

नियन्त्रण के क्षेत्र पर एक महत्वपूर्ण सीमा मानवीय ध्यान-क्षेत्र द्वारा लागू होती है। उदाहरण के तौर पर यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति केवल सीमित कर्मचारियों, जैसे- सात, नौ अथवा बारह का ही सक्रिय पर्यवेक्षक कर सकता है। यदि एक उच्च अधिकारी से आशा की जाये कि वह उससे अधिक व्यक्तियों की क्रियाओं का नियन्त्रण करेगा, जितनी कि वह वास्तव में कर सकता है तो उसका परिणाम होगा कार्य में देरी तथा अकुशलता।

अनुसंधानकर्ताओं ने इस तथ्य की खोज के अनेक प्रयास किये हैं कि व्यक्तियों की वह आदर्श संख्या क्या होनी चाहिये जिनकी क्रियाओं पर एक उच्च अधिकारी द्वारा प्रभावी नियन्त्रण किया जा कर सके वस्तुतः ऐसा अनुसंधान पूर्णतः निरर्थक है। एक अधिकारी द्वारा कितने व्यक्तियों पर प्रभावी नियन्त्रण किया जा सकता है। यह तथ्य नियन्त्रणकर्ता की शक्ति, सौंपे गये कार्य की प्रवृत्ति और कर्मचारियों की शारीरिक स्थिति पर निर्भर करता है। आइये सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार को के मतों को जानने व समझने का प्रयास करें-

- एल0 उर्विक के मतानुसार एक व्यक्ति अधिक से अधिक पाँच या छः सहायक कर्मचारियों की क्रियाओं पर सफलतापूर्वक नियन्त्रण रख सकता है।
- ई0 एफ0 एल0 ब्रीच के मतानुसार एक उच्चधिकारी के अधीन अधीनस्थों की संख्या पर्याप्त है। लिण्डाल के मतानुसार, कोई एक व्यक्ति अपने तुरन्त अधीन अधिक से अधिक पाँच सहायक कर्मचारियों की क्रियाओं का प्रबन्ध कर सकता है।
- हेमिल्टन ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है, सामान्यतया एक मानव तीन से छः मस्तिष्क पर प्रभावी ढंग से नियंत्रण रख सकता है।
- हेनरी फेयोल के विचारानुसार प्रबन्धक पर्यवेक्षक के नियंत्रण में अधिक से अधिक पाँच या छः अधीनस्थ होने चाहिए।

वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि सभी विचारकों में यह सहमति प्रदर्शित होती है कि क्षेत्र जितना छोटा होगा, सम्पर्क उतना ही ज्यादा होगा और परिणाम स्वरूप नियंत्रण अधिक कारगर होगा, क्योंकि शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टियों से मानव क्षमता की एक सीमा होती है। इसलिए कोई वरिष्ठ अधिकारी कितनी भी सक्षम क्यों न हो वह असीमित संख्या में अधीनस्थों का निरीक्षण नहीं कर सकता। एक प्रबन्धक अधिक से अधिक छः या सात अधीनस्थों के कार्य का नियंत्रण कर सकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. 'संगठन सिद्धान्त' के पितामह किसे माना जाता है?
2. संगठन संरचना की तुलना सीढ़ी संरचना से किस विद्वान ने की है?
3. पदसोपान व्यवस्था में कितने स्तर होते हैं?
4. लोक प्रशासन में 'नियंत्रण का क्षेत्र' किससे सम्बन्धित है?

5. नियंत्रण के लिये किसने कहा कि 'यह पाँच या छः सह कर्मियों की क्रियाओं को सुव्यवस्थित कर सकता है'

4.4 सारांश

वर्तमान युग सूचना प्रौद्योगिक और ज्ञान का युग है, जब प्रशासनिक संगठनों की जवाबदेही ही सुनिश्चित करना एक राज्य का सर्वोत्तम प्रयास माना जाने लगा है। ऐसी संगठनात्मक कार्यकुशलता, पारदर्शिता और प्रभावपूर्णता बनाये रखने के लिये संगठन की संरचना में लोक प्रशासन के विचार को वर्णित सिद्धान्तों द्वारा कठोरता से अनुपालन किया जाना अनिवार्य है।

4.5 शब्दावली

प्रशासनिक दृष्टिकोण- प्रबन्ध के कार्यों तथा उनके निष्पादन के लिए आवश्यक गुणों के सन्दर्भ में प्रबन्ध न प्रक्रिया का विश्लेषण करना।

तंत्र विचारधारा- संतुलित तथा एकीकृत तंत्र के रूप में प्रबन्ध को समझना।

समग्र अध्ययन- किसी कार्य का निष्पादन करने में लगने वाले समय का मापन व विश्लेषण करने के लिए प्रयोग की जाने वाली तकनीक।

नियंत्रण का विस्तार- एक प्रबन्ध क के द्वारा प्रभावपूर्ण पर्यवेक्षण करने के लिए सीमित कर्मचारियों की संख्या का निर्धारण।

आदेश की सोपान श्रृंखला- उच्चतम अधिकारी से लेकर नीचे के स्तर तक उपक्रम में कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच अधिकार सम्बन्ध का यह सोपान बोध कराती है। इसमें अधिकारियों की कड़ी होती है, जो दोनों ही दिशाओं, (ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर) में संवहन के लिए कड़ी के रूप में कार्य करते हैं।

प्रबन्ध की सार्वभौमिकता- प्रबन्ध विज्ञान के मूल अथवा प्रमुख तत्व, सिद्धान्त अवधारणाएँ सभी प्रकार की परिस्थितियों में सभी स्थानों पर लागू होते हैं। व्यवहार में उनका प्रयोग सांस्कृतिक अंतरों, संभाव्यताओं अथवा परिस्थितियों के अनुसार किया जाता है।

आदेश की सोपान श्रृंखला- उच्चतम अधिकारी से लेकर नीचे के स्तर तक उपक्रम में कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच अधिकार सम्बन्ध का यह सोपान बोध कराती है, इसमें अधिकारियों की एक श्रृंखला होती है जो दोनों ही दिशाओं(ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर) में संवहन के लिए कड़ी के रूप में कार्य करते हैं।

प्रबन्ध अथवा नियंत्रण का विस्तार- एक प्रबन्ध क के द्वारा प्रभावपूर्ण पर्यवेक्षण करने के लिए सीमित कर्मचारियों की संख्या निर्धारण।

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. फेयोल, 2. मूने तथा रेले, 3. संगठन की आवश्यकता एवं प्रकृति के अनुसार, 4. आदेश, 5. उर्विक

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Bhattacharya, Mohit, 1987 Public Administration, The World Press Private Ltd: Calcutta.
2. Prasad, Ravindra D. Etc. al 9eds.) 1989 Administrative thinkers: Sterling Publishers: New Delhi.
3. चतुर्वेदी, त्रिलोक नाथ, 1989 तुलनात्मक लोक प्रशासन, रिसर्च पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
4. Avasth, A., & maheshwari S, 1984 Public Adiministration; Lakshmi Narain Agarwal; Agra

4.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Baker R.J.S. 1972 Adiministrative Theory and Aublic Administration; Hut Chinos: London.
2. Gros Betras, 1964 the Managing Organisations: The Administrative Struggle Vol: The Fee Press of Glencoe : London.
3. Gulick L. and Urwick L. (rds.) 1937 Papers on Science of Administation ; The Institute of Public Adminisration ; Columbia Unviersity : New Yrk.
4. Prasad, Ravindra, D.(ed) 1989 Administrative Thinkers: Sterling Pulishers; New Delhi.

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. पदसोपन की अवधारण को समझाते हुए स्पष्ट करिये कि पदसोपान किसी संगठन के लिये क्यों आवश्यक है?
2. नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, टिप्पणी करें।
3. संगठन के लिये आदेश की एकता का क्या महत्व है? प्रशासनिक संगठन में इसे कैसे स्थापित किया जा सकता है?
4. नियंत्रण का विस्तार करते समय किन तथ्यों की जानकारी होना आवश्यक है?
5. क्या प्रभावी नियोजन ही प्रभावी नियंत्रण का आधार बन जाता है? टिप्पणी करें।

इकाई-5 आदेश की एकता, प्रत्यायोजन

इकाई संरचना

- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 उद्देश्य
- 5.3 आदेश की एकता: परिचय
- 5.4 आदेश की एकता: अर्थ एवं परिभाषा
- 5.5 आदेश की एकता सिद्धांत की आवश्यकता
- 5.6 आदेश की एकता सिद्धांत के गुण
- 5.7 आदेश की एकता सिद्धांत की आलोचना
- 5.8 प्रत्यायोजन: परिचय
- 5.9 प्रत्यायोजन: परिभाषा
- 5.10 प्रत्यायोजन की प्रमुख विशेषताएँ
- 5.11 प्रत्यायोजन की आवश्यकता
- 5.12 प्रत्यायोजन के प्रकार
- 5.13 प्रत्यायोजन की उपयोगिता
- 5.14 सारांश
- 5.15 शब्दावली
- 5.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 5.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 5.18 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रशासनिक सिद्धांतों में आदेश की एकता (Unity of Command) और प्रत्यायोजन (Delegation) दो ऐसे आधार हैं जिन पर संगठनात्मक व्यवस्था की कार्यकुशलता, उत्तरदायित्व और समन्वय टिका होता है। किसी भी संगठन का प्रभावी संचालन इस बात पर निर्भर करता है कि आदेश किस प्रकार दिए जाते हैं, किसके द्वारा दिए जाते हैं, और वे आदेश किस सीमा तक नीचे तक कार्यान्वयन के लिए पहुँचते हैं।

आदेश की एकता का सिद्धांत यह सुनिश्चित करता है कि कोई भी अधीनस्थ कर्मचारी केवल एक ही वरिष्ठ अधिकारी से आदेश प्राप्त करे और उसी के प्रति जवाबदेह हो। इससे संगठन में आदेशों की स्पष्टता बनी रहती है, विरोधाभासी निर्देशों की संभावना समाप्त होती है, और कार्यों में समन्वय तथा अनुशासन बना रहता है।

वहीं प्रत्यायोजन का सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि वरिष्ठ अधिकारी अपनी शक्तियों और कार्यों का एक भाग अपने अधीनस्थों को सौंपे ताकि निर्णय प्रक्रिया विकेन्द्रीकृत हो, प्रशासनिक भार संतुलित हो, और कार्यों में गति आए। प्रत्यायोजन न केवल कार्य विभाजन का माध्यम है, बल्कि यह अधीनस्थों के कौशल विकास, उत्तरदायित्व-बोध और नेतृत्व क्षमताओं को भी बढ़ावा देता है।

इन दोनों सिद्धांतों के बीच गहरा संबंध है। प्रत्यायोजन तभी सफल होता है जब आदेशों की एकता बनी रहे, और आदेश की एकता का पालन तब ही संभव है जब कार्यों का प्रत्यायोजन सुव्यवस्थित ढंग से किया गया हो। एक अधिकारी जब अपने अधीनस्थ को कोई कार्य सौंपता है, तो यह अपेक्षा की जाती है कि वह अधीनस्थ केवल उसी अधिकारी से आदेश प्राप्त करे और उसी को उत्तरदायी हो — यही आदेश की एकता का सार है।

इस प्रकार, आदेश की एकता और प्रत्यायोजन, दोनों सिद्धांत मिलकर संगठन में *नियंत्रण, उत्तरदायित्व, कार्य विभाजन और समन्वय* को सुनिश्चित करते हैं। प्रशासन की जटिल संरचनाओं में इन सिद्धांतों का सन्तुलित अनुप्रयोग संगठन को न केवल कार्यकुशल बनाता है, बल्कि उसे लचीला, उत्तरदायी और सशक्त भी बनाता है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त शिक्षार्थी जान सकेंगे:

1. आदेश (Command) की अवधारणा, विशेषताओं एवं प्रशासनिक महत्त्व को समझना।
2. प्रत्यायोजन (Delegation) की प्रक्रिया, परिभाषा, उद्देश्य और उसकी व्यावहारिक उपयोगिता का विश्लेषण करना।
3. प्रत्यायोजन के प्रकारों को पहचानना और प्रशासन में उनके प्रयोग की उपयुक्तता को समझना।

4. प्रत्यायोजन और आदेश के मध्य संबंध को समझकर प्रशासनिक उत्तरदायित्व और कार्य-क्षमता के दृष्टिकोण से इनकी भूमिका स्पष्ट करना।

5.3 आदेश की एकता: परिचय

लोक प्रशासन की सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक है—संगठन के सभी सदस्यों से सामूहिक सहयोग और समन्वय के साथ काम करवाना। प्रशासनिक दृष्टि से यह जरूरी है कि सभी कर्मचारी एक ही उद्देश्य के लिए, एक स्वर और एक दिशा में लगातार कार्य करें, न कि एक-दूसरे के विरुद्ध या असंबद्ध तरीकों से।

यही कारण है कि प्रशासन में **आदेश की एकता** (Unity of Command) को एक मूलभूत सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार, हर कर्मचारी को केवल *एक ही अधिकारी* से आदेश प्राप्त होने चाहिए ताकि वह उसी के प्रति जवाबदेह बना रहे। यदि उसे एक से अधिक वरिष्ठ अधिकारियों से निर्देश मिलते हैं, तो वे आदेश आपस में टकरा सकते हैं और कर्मचारी भ्रमित हो सकता है। ऐसी स्थिति में न तो वह अपने उत्तरदायित्व का सही ढंग से निर्वहन कर पाएगा, और न ही अनुशासन बनाए रख पाएगा, जिससे पूरी प्रशासनिक व्यवस्था में अस्थिरता पैदा हो सकती है।

आदेश की एकता कर्मचारियों के बीच विश्वास, स्पष्टता और आत्मविश्वास पैदा करती है। जब एक ही अधिकारी से निर्देश मिलते हैं, तो भ्रम, गलती और अनावश्यक विलंब की गुंजाइश नहीं रहती। इससे कर्मचारी अधिक निष्ठा और सजगता से कार्य करते हैं।

हालाँकि व्यवहारिक स्तर पर इस सिद्धांत को लागू करना सरल नहीं है। उदाहरण के रूप में यदि हम राज्य स्तर पर *मुख्य सचिव* की भूमिका को देखें तो वह कृषि, पशुपालन, शिक्षा, स्वास्थ्य, कानून-व्यवस्था जैसे कई विभागों का प्रमुख होता है। परन्तु व्यवहार में देखा जाता है कि इन विभागों के कर्मचारी सीधे मुख्य सचिव से नहीं, बल्कि अपने *विभागीय प्रमुखों*, *प्रमुख सचिवों* और *मंत्रियों* से आदेश लेते हैं। ऐसे में आदेश की एकता का सिद्धांत कठिनाई में पड़ जाता है।

इस संदर्भ में यह स्पष्ट करना जरूरी है कि आदेश की एकता में *मूल बात* "एकता" की है, न कि "समावेश" की। मतलब यह नहीं कि केवल एक व्यक्ति ही आदेश दे सकता है, बल्कि यह कि जो भी आदेश दे, वह संगठन के उद्देश्यों के अनुरूप और परस्पर समन्वित हो। जब तक तकनीकी और

सामान्य अधिकारी संगठनात्मक एकता बनाए रखते हैं, तब तक आदेश में विविधता समस्या नहीं बनती।

इस विवेचना के आधार पर हम आदेश की एकता की कुछ मुख्य विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में समझ सकते हैं:

- यह संगठनात्मक शक्ति-स्रोतों को स्पष्ट करता है, जिससे पता चलता है कि आदेश कहाँ से आ रहा है।
- यह आदेश और उत्तरदायित्व के बीच सीधा संबंध स्थापित करता है, जिससे जवाबदेही सुनिश्चित होती है।
- यदि आदेश अनेक स्रोतों से आते हैं, तो विरोधाभास उत्पन्न हो सकता है और कर्मचारी उसका अनुचित लाभ उठाकर गुटबाज़ी या टकराव की स्थिति पैदा कर सकते हैं।
- विरोधी निर्देशों की संभावना कम हो जाती है, जिससे कार्य सुगमता से आगे बढ़ता है।
- कर्मचारियों पर प्रभावशाली नियंत्रण और निरीक्षण संभव होता है, क्योंकि जवाबदेही स्पष्ट होती है।
- कार्य के विभाजन के साथ उत्तरदायित्व भी स्पष्ट होता है, जिससे कार्य निष्पादन अधिक गुणात्मक और समयबद्ध होता है।

आदेश की एकता कर्मचारियों को न केवल अनुशासित और उत्तरदायी बनाती है, बल्कि उन्हें संगठन के उद्देश्य के प्रति सजग, समर्पित और कार्य-कुशल भी बनाती है। यह सिद्धांत प्रशासनिक संरचना की रीढ़ है, जिसे व्यवहार में लचीलेपन और व्यावहारिक समझ के साथ अपनाना आवश्यक है।

5.4 आदेश की एकता: अर्थ एवं परिभाषा

प्रशासनिक संरचना में 'आदेश की एकता' (Unity of Command) एक ऐसा सिद्धांत है जो संगठन के सुचारु संचालन, कार्यों के समन्वय और उत्तरदायित्व की स्पष्टता को सुनिश्चित करता है। इस सिद्धांत के अनुसार, संगठन में कार्यरत प्रत्येक कर्मचारी को केवल एक वरिष्ठ अधिकारी से ही आदेश प्राप्त करने चाहिए। वह केवल उसी अधिकारी के प्रति जवाबदेह होगा।

इसका सीधा अर्थ यह है कि किसी कर्मचारी को अपने कार्यों के निष्पादन के लिए अलग-अलग वरिष्ठ अधिकारियों से निर्देश नहीं मिलने चाहिए, अन्यथा वह परस्पर विरोधी आदेशों के बीच

फंसकर भ्रम की स्थिति में आ जाएगा। ऐसा होने पर कार्य की गति धीमी हो सकती है, अनुशासन टूट सकता है, और संगठनात्मक नियंत्रण कमजोर पड़ सकता है।

जब किसी संगठन में आदेश देने वाला केवल एक होता है, तो कार्यों में अच्छा समन्वय होता है, उत्तरदायित्व स्पष्ट रहता है और प्रशासनिक निर्णयों में स्थिरता आती है। इसके विपरीत, यदि कोई अधीनस्थ अनेक वरिष्ठ अधिकारियों से आदेश ग्रहण करता है, तो न केवल वह भ्रमित होता है बल्कि आदेशों के बीच टकराव से निर्णय प्रक्रिया भी बाधित होती है।

प्रमुख परिभाषाएँ

- **फिफनर और प्रेस्थस के अनुसार:**
"आदेश की एकता से यह आशय है कि किसी संगठन का प्रत्येक सदस्य एक और केवल एक वरिष्ठ अधिकारी के प्रति ही जवाबदार होगा।"
- **हेनरी फेयोल के अनुसार:**
"किसी कर्मचारी को केवल एक ही उच्च अधिकारी द्वारा आदेश दिया जाना चाहिए।"

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि आदेश की एकता केवल आदेश देने-लेने की प्रक्रिया नहीं, बल्कि प्रशासन में अनुशासन, नियंत्रण और कार्यकुशलता बनाए रखने की एक अनिवार्य शर्त है। यह न केवल संगठन में कार्य-व्यवस्था को सरल बनाता है, बल्कि निर्णय प्रक्रिया को भी सुदृढ़ करता है।

इस प्रकार, आदेश की एकता एक ऐसा सिद्धांत है जो यह सुनिश्चित करता है कि हर कर्मचारी को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो कि वह किससे आदेश प्राप्त करेगा और किसके प्रति जवाबदेह रहेगा। इससे न केवल कार्य निष्पादन में सरलता आती है, बल्कि प्रशासनिक उत्तरदायित्व भी प्रभावी रूप से तय होता है।

5.5 आदेश की एकता के सिद्धांत की आवश्यकता

आदेश की एकता का सिद्धांत किसी भी संगठन के सुचारु संचालन के लिए बेहद जरूरी होता है। इसका मूल मतलब यह है कि हर कर्मचारी को केवल एक ही वरिष्ठ अधिकारी से आदेश मिलने चाहिए ताकि वह यह स्पष्ट रूप से जान सके कि वह किसके प्रति उत्तरदायी है। इस सिद्धांत की जरूरत क्यों है, इसे निम्न बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है:

1. दोहरे नियंत्रण से संगठन गड़बड़ा जाता है

कोई भी संगठन इस तरह की रचना पर काम नहीं करता जिसमें एक ही कर्मचारी पर दो अलग-अलग अधिकारियों का नियंत्रण हो। इससे पूरी कार्यप्रणाली असंतुलित हो जाती है।

2. दो आदेश देने वाले अधिकारी गड़बड़ी बढ़ाते हैं

जब एक ही व्यक्ति को दो वरिष्ठ अधिकारी आदेश देने लगते हैं, तो उनके निर्देशों में टकराव होना तय है। इससे न केवल भ्रम फैलता है बल्कि कर्मचारी यह तय नहीं कर पाता कि किसका आदेश पहले माने।

3. उत्तरदायित्व तय होना ज़रूरी है

हर सदस्य को यह मालूम होना चाहिए कि उसका एक ही अधिकारी है, जिसके प्रति वह जवाबदेह है। इससे उत्तरदायित्व तय होता है और कार्य में पारदर्शिता आती है।

4. कर्मचारी विरोधाभासी आदेशों का फायदा उठा सकता है

अगर कई अधिकारी आदेश देने लगे तो कर्मचारी जानबूझकर आदेशों में विरोध खोजकर अपना काम निकालने लगते हैं। इससे अनुशासन बिगड़ता है और प्रशासनिक ढांचा ढीला पड़ जाता है।

5. विरोधी आदेशों से कर्मचारी असमंजस में पड़ सकता है

अलग-अलग अधिकारियों से आदेश मिलने की स्थिति में कर्मचारी को दो परस्पर विरोधी निर्देश मिल सकते हैं, जिससे वह उलझन में पड़ जाता है और काम अटक सकता है।

6. भ्रम और गैर-जिम्मेदारी की स्थिति बनती है

जब स्पष्ट नहीं होता कि आदेश किसका मानना है, तो कर्मचारी न तो पूरी जिम्मेदारी लेता है, न ही कोई अधिकारी उसे जवाबदेह ठहरा सकता है। इससे कार्य कुशलता प्रभावित होती है।

इसलिए, आदेश की एकता का सिद्धांत संगठन की स्पष्टता, उत्तरदायित्व, अनुशासन और प्रभावी कार्यान्वयन के लिए आवश्यक है। यह प्रशासनिक कार्यों को सही दिशा में चलाने में मदद करता है और समन्वय बनाए रखता है।

5.6 आदेश की एकता सिद्धांत के गुण

आदेश की एकता का सिद्धांत इस विचार पर आधारित है कि "एक व्यक्ति, एक अधिकारी (या स्वामी)"—यानी हर कर्मचारी को केवल एक ही वरिष्ठ से आदेश मिलना चाहिए। यह विचार संगठन को साफ-सुथरी और सुगठित दिशा में चलाने में काफी मदद करता है। जब आदेश देने वाला केवल

एक होता है, तो संगठन में शक्ति और जिम्मेदारी की रेखाएं (lines of authority) स्पष्ट हो जाती हैं।

अगर किसी कर्मचारी को अलग-अलग जगहों से आदेश मिलने लगें, तो स्थिति बिगड़ जाती है—कर्मचारी भ्रमित होता है, काम में देरी होती है, और कोई यह तय नहीं कर पाता कि जिम्मेदारी किसकी थी। इससे न सिर्फ कुशलता घटती है बल्कि संगठन की प्रभावशीलता भी कम हो जाती है।

अब बात करते हैं इस सिद्धांत के प्रमुख गुणों की:

1. प्रशासनिक कुशलता बढ़ती है

आदेश की एकता से संगठन में दिशा साफ होती है और कोई भी काम बेवजह अटकता नहीं। जब कर्मचारी को पता होता है कि किसके निर्देश मानने हैं, तो वह जल्दी और सही निर्णय ले पाता है।

2. स्कैलर श्रेणी के अनुकूल

यह सिद्धांत प्रशासन में 'श्रृंखला व्यवस्था' (scalar chain) के सिद्धांत के अनुरूप चलता है। यानी आदेश ऊपर से नीचे तक एक तय क्रम में चलते हैं, जिससे हर कर्मचारी अपनी जगह और जिम्मेदारी जानता है।

3. आज्ञा को लेकर भ्रम नहीं होता

जब आदेश देने वाला एक ही अधिकारी होता है, तो कर्मचारी को यह स्पष्ट रहता है कि किसका निर्देश मानना है। इससे आदेशों में उलझन नहीं होती और काम तय समय पर पूरा हो जाता है।

4. उत्तरदायित्व की स्पष्टता होती है

हर कर्मचारी को यह अच्छी तरह पता होता है कि वह किसके प्रति जवाबदेह है और किससे आदेश लेना है। इससे संगठन में जिम्मेदारी तय रहती है और जवाबदेही भी बनती है।

हेनरी फेयोल—जो प्रशासन के सिद्धांतों के प्रमुख विचारक माने जाते हैं—ने भी आदेश की एकता के समर्थन में कहा था:

"यदि इस सिद्धांत का उल्लंघन होता है, तो संगठन में सत्ता कमजोर हो जाती है, अनुशासन बिगड़ता है, व्यवस्था चरमराने लगती है और स्थायित्व खतरे में पड़ जाता है।"

इसलिए, आदेश की एकता का सिद्धांत किसी भी संगठन के लिए बेहद ज़रूरी है। यह न केवल कुशल प्रशासन सुनिश्चित करता है बल्कि कर्मचारियों में स्पष्टता, जवाबदेही और अनुशासन भी बनाए रखता है।

5.7 आदेश की एकता सिद्धांत की आलोचना

आदेश की एकता का सिद्धांत कहता है कि हर कर्मचारी को केवल एक ही अधिकारी से आदेश मिलने चाहिए। लेकिन व्यवहार में यह सिद्धांत कई बार पूरी तरह लागू नहीं हो पाता। चलिए, इसे थोड़ा सरल तरीके से समझते हैं।

1. हर स्थिति में लागू नहीं किया जा सकता

असल ज़िंदगी में कई बार ऐसा होता है कि एक ही कर्मचारी को दो अलग-अलग अधिकारियों से आदेश लेने पड़ते हैं।

उदाहरण के लिए, एक सहायक अभियंता (Assistant Engineer) को देखें—वह एक तकनीकी व्यक्ति है।

- प्रशासनिक रूप से वह जिला कलेक्टर के अधीन होता है।
- लेकिन तकनीकी मामलों में उसे अपने कार्यपालन अभियंता (Executive Engineer) की बात माननी होती है।

इस तरह वह दो तरह के नियंत्रण में होता है—एक प्रशासनिक और दूसरा तकनीकी। इसलिए कुछ कामों में दोहरी निगरानी (Dual Supervision) ज़रूरी हो जाती है। मिलेट ने भी माना कि आदेश की एकता का पालन करते हुए यह समझना चाहिए कि कुछ जगहों पर तकनीकी और प्रशासनिक दोनों तरह की निगरानी ज़रूरी होती है।

2. टेलर का विरोध और कार्यात्मक निर्देशन

फ्रेडरिक टेलर ने आदेश की एकता के सिद्धांत को सीधा नकार दिया।

उन्होंने कार्यात्मक निर्देशन (Functional Foremanship) का सिद्धांत दिया, जिसमें उन्होंने कहा कि एक कर्मचारी को एक नहीं, बल्कि आठ अलग-अलग विशेषज्ञों से निर्देश लेने चाहिए:

1. गैंग बॉस (Gang Boss)
2. स्पीड बॉस (Speed Boss)
3. इंस्पेक्टर (Inspector)
4. रिपेयर बॉस (Repair Boss)
5. वर्क एंड रूट क्लर्क
6. इंस्ट्रक्शन कार्ड क्लर्क
7. टाइम एंड कॉस्ट क्लर्क
8. शॉप डिसिप्लिनेरियन

टेलर के मुताबिक, इससे कामकाज में विशेषज्ञता आती है और हर काम में तकनीकी दक्षता बढ़ती है।

3. 'सैनिक चौधराहट' का खतरा

टेलर ने यह भी आलोचना की कि एक ही व्यक्ति से आदेश लेना एक 'सैनिक जैसी चौधराहट' को जन्म देता है, जो प्रशासन में लचीलापन खत्म कर देती है। उनके अनुसार, अगर कर्मचारी सिर्फ एक ही अधिकारी की बात मानेगा, तो वह बाकी तकनीकी विशेषज्ञों से सीख नहीं पाएगा और न ही कुशल बन पाएगा।

4. सेकलर हडसन की आलोचना

सेकलर हडसन ने इस सिद्धांत को अनुभव के आधार पर अप्रायोगिक, असंभव और काल्पनिक बताया।

उनका कहना था कि

“वास्तविक प्रशासनिक जीवन में शायद ही कोई ऐसा मामला होता है, जहाँ किसी कर्मचारी का सिर्फ एक ही 'बॉस' हो।”

सरकारी अधिकारी आम तौर पर कई लोगों को रिपोर्ट करते हैं—

- किसी से नीति के आदेश
- किसी से स्टाफिंग के

- किसी से बजट या संसाधनों से जुड़े निर्देश

इसलिए एक अधिकारी की अवधारणा अब पुरानी हो चुकी है।

5. समकालीन प्रशासन में इसकी प्रासंगिकता घट रही है

आज के जटिल प्रशासनिक ढांचे में जहां विशेषज्ञों की संख्या बढ़ गई है, वहां आदेश की एकता का सिद्धांत व्यवहार में बहुत सीमित हो गया है। अब एक कर्मचारी को कई विषयों के विशेषज्ञों और वरिष्ठों के साथ समन्वय करना पड़ता है।

फिर भी इसकी उपयोगिता खत्म नहीं हुई है

हालांकि आलोचनाएं वाजिब हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि आदेश की एकता का सिद्धांत पूरी तरह अप्रासंगिक हो गया है।

जहाँ इसे लागू किया जा सकता है, वहाँ यह संगठन में अनुशासन, स्पष्ट जिम्मेदारी और स्थिरता सुनिश्चित करता है। इससे संगठन अधिक संगठित और कार्यकुशल बनता है।

आदेश की एकता सिद्धांत आज की बदलती जरूरतों के अनुसार पूरी तरह फिट नहीं बैठता, लेकिन इसकी मूल भावना—स्पष्ट आदेश और जवाबदेही—आज भी प्रशासन में जरूरी है। आधुनिक प्रशासन में इसकी भूमिका सीमित जरूर हो गई है, लेकिन यह सिद्धांत अब भी संगठनात्मक अनुशासन और नियंत्रण की नींव है।

5.8 प्रत्यायोजन: परिचय

आज के दौर में, खासकर सूचना क्रांति के युग में, किसी एक व्यक्ति के लिए पूरे संगठन या उपक्रम के हर काम को खुद अकेले संभालना न तो व्यावहारिक है और न ही संभव। इसलिए जिम्मेदारियाँ बाँटी जाती हैं। जब कोई वरिष्ठ अधिकारी अपने कुछ कार्य या निर्णय लेने के अधिकार किसी अधीनस्थ कर्मचारी को सौंपता है, तो इस प्रक्रिया को प्रत्यायोजन (Delegation) कहा जाता है।

सादा शब्दों में कहें तो, प्रत्यायोजन का मतलब है—किसी व्यक्ति को कोई जिम्मेदारी सौंपने के साथ-साथ उसे उस काम को पूरा करने के लिए जरूरी अधिकार भी देना। अगर किसी को कोई काम

दिया गया है लेकिन उसे उसे पूरा करने के अधिकार नहीं मिले, तो वह उस काम को ठीक से नहीं कर पाएगा। इसलिए कर्तव्यों के साथ अधिकारों का दिया जाना ज़रूरी होता है।

प्रत्यायोजन एक ऐसी प्रक्रिया है जो संगठन में काम के बँटवारे, जिम्मेदारियों की स्पष्टता और समय के प्रभावी उपयोग को सुनिश्चित करती है। इससे नेतृत्व क्षमता का विकास होता है, अधीनस्थों में आत्मविश्वास बढ़ता है और संगठन में कुशलता से काम होता है।

5.9 प्रत्यायोजन: परिभाषा

एफ. जी. मूरे के अनुसार—

“अधिकार प्रत्यायोजन का आशय, कार्यों का अन्य व्यक्तियों को हस्तान्तरण तथा उस कार्य को करने की शक्ति का हस्तांतरण है।”

जैसे कि मूरे की परिभाषा प्रत्यायोजन को एक स्पष्ट और सीधी प्रक्रिया के रूप में देखती है, जिसमें सिर्फ कार्य नहीं, बल्कि उस कार्य को पूरा करने की शक्ति यानी अधिकार भी साथ में सौंपे जाते हैं। मतलब, अगर कोई अधिकारी किसी अधीनस्थ को कोई काम सौंपता है, तो उसके साथ यह सुनिश्चित करता है कि उस व्यक्ति के पास उस काम को पूरा करने के लिए आवश्यक निर्णय लेने की आज़ादी और संसाधनों तक पहुँच हो। केवल काम थोपना प्रत्यायोजन नहीं है—अधिकारों का समुचित हस्तांतरण इसका अनिवार्य हिस्सा है।

लुईस ए. ऐलन के अनुसार—

“प्रत्यायोजन एक क्रियात्मक संचालन शक्ति है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसका अनुसरण करते हुए एक प्रशासक अपने कार्य को इस तरह विभाजित करता है कि इसका ऐसा भाग जो केवल वह स्वयं ही संगठन में अपनी अद्वितीय स्थिति के कारण प्रभावपूर्णता के साथ कर सकता है, वह स्वयं करता है और अन्य भागों के सम्बन्ध में ही दूसरों से सहायता लेता है।”

ऐलन की परिभाषा प्रत्यायोजन को महज़ जिम्मेदारी बाँटने की प्रक्रिया नहीं मानती, बल्कि इसे नीतिगत सोच और संचालन कौशल के साथ जोड़ती है। वह यह स्पष्ट करते हैं कि कोई भी प्रशासक अपने सभी कार्यों को दूसरों को नहीं सौंप सकता। कुछ कार्य—जैसे नीतिगत फैसले, संवेदनशील निर्णय, या रणनीतिक दिशा तय करना—ऐसे होते हैं जो उसके पद की प्रकृति के कारण केवल वही कर सकता है। लेकिन बाकी नियमित या तकनीकी कार्यों को वह अपने अधीनस्थों को सौंप सकता

है। इस प्रकार प्रत्यायोजन एक सोच-समझकर किया गया कार्य-विभाजन है, जो संगठन को कुशलता से संचालित करने के लिए आवश्यक होता है।

दोनों विद्वानों की परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यायोजन का मतलब सिर्फ काम देना नहीं है, बल्कि अधिकार देना, कार्य की प्रकृति को समझकर उसका बँटवारा करना, और यह तय करना कि कौन सा कार्य शीर्ष स्तर पर ही रहना चाहिए और कौन सा नीचे के स्तरों पर सौंपा जा सकता है—यह सब एक सुविचारित प्रक्रिया के तहत होता है। यही प्रत्यायोजन की सफलता की कुंजी है।

5.10 प्रत्यायोजन की प्रमुख विशेषताएँ

1. **संगठनात्मक प्रक्रिया के रूप में अधिकारों का हस्तांतरण**
प्रत्यायोजन वह प्रक्रिया है, जिसके ज़रिए एक अधिकारी अपने अधीनस्थों को अधिकारों का एक हिस्सा सौंपता है ताकि वे कुछ कार्य स्वतंत्र रूप से कर सकें।
2. **अधिकारों का नियंत्रण मूल अधिकारी के पास बना रहता है**
अधिकारों का यह बँटवारा पूर्ण विकेन्द्रीकरण नहीं है। अधिकारी स्वयं उस काम के लिए अंततः उत्तरदायी रहता है। यानी अधिकार सौंपे ज़रूर जाते हैं, पर छोड़ें नहीं जाते।
3. **प्रत्यायोजन की दिशा—ऊर्ध्वगामी या समान स्तर पर भी संभव**
इसका अर्थ है कि कभी-कभी समान स्तर के कर्मचारियों को भी अधिकार सौंपे जा सकते हैं। इससे संगठन में *साफ़ सीमाएँ* और उत्तरदायित्व तय होते हैं।
4. **अधिकार सौंपना, त्यागना नहीं होता**
यह प्रक्रिया अधिकारों को त्यागने की नहीं, बल्कि उचित रूप से बाँटने की होती है जिससे अधिकारी कार्यभार संभाल सके और काम की गति बनी रहे।
5. **अधिकारों की मात्रा परिवर्तनीय होती है**
सौंपे गए अधिकार समय, स्थिति और ज़रूरत के अनुसार कम या ज्यादा किए जा सकते हैं।
6. **कार्य की सीमाएँ स्पष्ट होती हैं**
जिस व्यक्ति को अधिकार दिए जाते हैं, उसके कर्तव्यों और कार्यक्षेत्र की *सीमाएँ स्पष्ट* की जाती हैं ताकि कोई भ्रम न रहे।
7. **उद्देश्य: प्रशासनिक दक्षता**
प्रत्यायोजन का मूल उद्देश्य संगठन को अधिक कुशल बनाना है। यह बिना स्पष्ट सिद्धांतों के नहीं किया जा सकता।

8. केवल अपने अधिकारों का ही प्रत्यायोजन संभव

ऐसा कोई अधिकार सौंपा नहीं जा सकता जो अधिकारी के पास स्वयं ही न हो।

9. पद नहीं, कार्य के लिए अधिकार दिए जाते हैं

इसका सीधा मतलब यह है कि अधिकार किसी पद की प्रतिष्ठा के तहत नहीं दिए जाते, बल्कि कार्य निष्पादन की ज़रूरत के आधार पर दिए जाते हैं।

5.11 प्रत्यायोजन की आवश्यकता:**1. मानवीय सीमाओं का ध्यान**

कोई भी अधिकारी कितना ही सक्षम क्यों न हो, वह अकेले सभी कार्य नहीं कर सकता। समय और ऊर्जा की सीमाएं होती हैं। इसलिए कार्यभार को बाँटना ज़रूरी होता है।

2. विशेषज्ञता की अनिवार्यता

आज का युग विशेषज्ञता का है। किसी भी व्यक्ति के लिए सभी क्षेत्रों में निपुण होना असंभव है। इसीलिए विशेषज्ञ अधिकारियों को विशेष कार्यों की जिम्मेदारी सौंपना अनिवार्य हो जाता है।

3. संगठन का विस्तार और नई शाखाओं की ज़रूरत

संचार और सूचना तकनीक के कारण कार्य-क्षेत्र बढ़ा है। संगठन को फैलाने के लिए नई इकाइयों और उपविभागों की स्थापना होती है, जहाँ प्रत्यायोजन की निरंतर आवश्यकता पड़ती है।

4. कर्मचारियों का प्रशिक्षण और नेतृत्व विकास

जब उच्चाधिकारी कुछ अधिकारों का प्रत्यायोजन करते हैं, तो इससे निचले स्तर के कर्मचारियों को सीखने और निर्णय लेने के अवसर मिलते हैं। इससे भविष्य के नेतृत्व की आधारशिला रखी जाती है।

5.12 प्रत्यायोजन के प्रकार

लोक प्रशासन में कार्यों को बाँटने और अधिकारों को सौंपने की प्रक्रिया को बेहतर ढंग से समझने के लिए विद्वानों ने प्रत्यायोजन के विभिन्न प्रकार बताए हैं। आइए, इन्हें एक-एक करके आसान भाषा में समझते हैं:

1. सामान्य प्रत्यायोजन

जब किसी अधिकारी को पूरे संगठन के कामकाज की जिम्मेदारी सौंप दी जाती है, तो इसे सामान्य प्रत्यायोजन कहते हैं। इसमें कार्यों और अधिकारों का व्यापक रूप से हस्तांतरण होता है।

2. निश्चित प्रत्यायोजन

अगर किसी व्यक्ति को विशेष या सीमित कार्यों की जिम्मेदारी दी जाती है—जैसे कि केवल वित्त या मानव संसाधन संभालना—तो यह निश्चित प्रत्यायोजन कहलाता है।

3. लिखित प्रत्यायोजन

जब अधिकार सौंपने की प्रक्रिया कागज़ पर, यानी लिखित रूप में की जाती है, तो उसे लिखित प्रत्यायोजन कहा जाता है। यह अधिक औपचारिक और सुरक्षित तरीका माना जाता है क्योंकि इससे स्पष्टता और जवाबदेही बनी रहती है।

4. मौखिक प्रत्यायोजन

यदि काम और अधिकार मौखिक रूप से सौंपे जाएं, यानी बिना किसी दस्तावेज़ के, तो इसे मौखिक प्रत्यायोजन कहते हैं। इसकी तुलना में लिखित रूप अधिक विश्वसनीय माना जाता है।

5. औपचारिक प्रत्यायोजन

जब अधिकारों को संगठन की तयशुदा नियमावली और प्रशासनिक ढांचे के अनुरूप सौंपा जाता है, तो वह औपचारिक प्रत्यायोजन होता है। यह पूरी तरह प्रशासनिक व्यवस्था के भीतर होता है।

6. अनौपचारिक प्रत्यायोजन

इसमें अधीनस्थ कर्मचारी बिना किसी सीधी आज्ञा के, अपनी पहल पर कुछ जिम्मेदारियाँ उठा लेते हैं। इसका उद्देश्य यह होता है कि काम में अनावश्यक देरी या लालफीताशाही कम हो और जिम्मेदारी की भावना बढ़े।

7. पार्श्विक (या पाश्विक) प्रत्यायोजन

जब समान स्तर के अधिकारी एक-दूसरे को कार्य या अधिकार सौंपते हैं—जैसे एक शाखा प्रमुख दूसरे शाखा प्रमुख को कोई काम सौंपे—तो इसे पार्श्विक प्रत्यायोजन कहते हैं।

8. अधोगामी प्रत्यायोजन

यह सबसे सामान्य प्रकार का प्रत्यायोजन होता है, जिसमें वरिष्ठ अधिकारी अपने अधीनस्थ अधिकारियों को अधिकार और कार्य सौंपते हैं। यही प्रक्रिया संगठनात्मक ढांचे का मूल आधार बनती है।

इन विभिन्न प्रकारों के माध्यम से प्रत्यायोजन को संगठन की ज़रूरत, स्थिति और उद्देश्य के अनुसार लागू किया जाता है। सही प्रत्यायोजन से न केवल काम का बोझ बाँटा जाता है, बल्कि कर्मचारियों में जिम्मेदारी की भावना और कुशलता भी विकसित होती है।

5.13 प्रत्यायोजन की उपयोगिता:

इस सवाल को लेकर अक्सर चर्चा होती है कि क्या प्रत्यायोजन (delegation of authority) वास्तव में प्रशासनिक व्यवस्था के लिए लाभकारी है या नहीं? इस विषय में लोक प्रशासन के विद्वानों की राय स्पष्ट है—उनका मानना है कि प्रत्यायोजन केवल ज़रूरी ही नहीं, बल्कि संगठन की कार्यक्षमता और उत्तरदायित्व बढ़ाने के लिए बेहद फायदेमंद भी है। आइए, इसके मुख्य लाभों को सरल भाषा में समझें:

- **संगठन का मजबूत आधार बनता है:** प्रत्यायोजन से संगठन के भीतर कार्यों और जिम्मेदारियों का स्पष्ट बंटवारा होता है, जिससे पूरी व्यवस्था व्यवस्थित और मजबूत बनती है।
- **निर्णय-निर्माण अधिक प्रभावशाली होता है:** जब अधिकारी अपने अधीनस्थों को निर्णय लेने की शक्ति देते हैं, तो फैसले ज़मीनी स्तर तक पहुँचते हैं और विभिन्न स्तरों के बीच सहयोग भी बेहतर होता है।
- **प्रशिक्षण का अवसर मिलता है:** अधीनस्थ जब जिम्मेदारियाँ निभाते हैं, तो वे व्यावहारिक रूप से सीखते हैं, जिससे उनका प्रशिक्षण बिना किसी औपचारिक व्यवस्था के हो जाता है।
- **पदोन्नति के निर्णय में मदद मिलती है:** प्रत्यायोजन यह जानने का एक ज़रिया बनता है कि कौन कर्मचारी ज़्यादा सक्षम है और किसमें नेतृत्व की क्षमता है, जिससे पदोन्नति के निर्णय अधिक न्यायसंगत होते हैं।
- **प्रशासनिक निगरानी बेहतर होती है:** जब अधिकारों का बंटवारा स्पष्ट होता है, तो वरिष्ठ अधिकारी नीतिगत और पर्यवेक्षणात्मक कार्यों पर अधिक ध्यान दे पाते हैं, जिससे समग्र निगरानी अधिक प्रभावशाली हो जाती है।
- **नीति-निर्माण के लिए समय मिलता है:** जब दिन-प्रतिदिन के काम अधीनस्थों को सौंपे जाते हैं, तो वरिष्ठ अधिकारियों को रणनीतिक सोच और दीर्घकालिक योजनाओं पर ध्यान केंद्रित करने का समय मिल जाता है।

- **संगठन का विस्तार सरल होता है:** प्रत्यायोजन के जरिये नए विभाग या शाखाएँ बनाना और उन्हें काम सौंपना आसान हो जाता है, जिससे संगठन का विकास बिना अड़चन के होता है।
- **यह एक आवश्यक प्रशासनिक उपकरण है:** कार्यों और निर्णयों के निष्पादन के लिए प्रत्यायोजन को एक अहम उपकरण माना जाता है, जो प्रशासन को गति देता है।
- **अधीनस्थों का मनोबल बढ़ता है:** जब कर्मचारियों को अधिकार सौंपे जाते हैं, तो वे खुद को जिम्मेदार महसूस करते हैं। इससे उनका आत्मविश्वास और प्रेरणा दोनों बढ़ती हैं और उनके व्यक्तिगत विकास में भी मदद मिलती है।

अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित में से किस विद्वान ने प्रत्यायोजन को "एक क्रियात्मक संचालन शक्ति" कहा है?

- एफ. डब्ल्यू. टेलर
- लूथर गुलिक
- लुईस ए. ऐलन
- एफ. जी. मूरे

2. जब अधिकारों का हस्तांतरण ऊपर से नीचे की ओर होता है, तो उसे क्या कहते हैं?

- पार्श्व प्रत्यायोजन
- अधोगामी प्रत्यायोजन
- अनौपचारिक प्रत्यायोजन
- मौखिक प्रत्यायोजन

3. अनौपचारिक प्रत्यायोजन का मुख्य उद्देश्य क्या है?

- प्रशासनिक नियंत्रण
- लालफीताशाही और भ्रष्टाचार को समाप्त करना
- संगठन विस्तार
- आदेशों का अनुपालन

4. जब समस्त कार्यभार किसी एक व्यक्ति को सौंप दिया जाता है, तो उसे क्या कहते हैं?

- निश्चित प्रत्यायोजन
- पार्श्विक प्रत्यायोजन
- सामान्य प्रत्यायोजन
- मौखिक प्रत्यायोजन

5. कौन-सा प्रत्यायोजन संगठन की अधिकार रेखा के अनुसार होता है?

- अनौपचारिक प्रत्यायोजन
- पार्श्व प्रत्यायोजन
- मौखिक प्रत्यायोजन
- औपचारिक प्रत्यायोजन

5.14 सारांश

लोक प्रशासन में आदेश और प्रत्यायोजन दो ऐसे बुनियादी उपकरण हैं जो किसी संगठन की कार्यकुशलता और उत्तरदायित्व की रीढ़ बनाते हैं। आदेश न केवल दिशा प्रदान करता है बल्कि संगठनात्मक अनुशासन और समन्वय को भी बनाए रखता है। वहीं प्रत्यायोजन प्रशासनिक लचीलापन और कार्य-विभाजन की एक रणनीतिक प्रक्रिया है, जिससे संगठनात्मक स्तर पर शक्ति और कार्य का विवेकपूर्ण वितरण होता है।

प्रत्यायोजन से न केवल वरिष्ठ अधिकारियों का बोझ कम होता है, बल्कि अधीनस्थ कर्मचारियों के लिए सीखने और नेतृत्व कौशल विकसित करने का अवसर भी मिलता है। इससे प्रशासनिक दक्षता, पारदर्शिता, और उत्तरदायित्व जैसे मूल सिद्धांतों को बल मिलता है।

इस इकाई से यह स्पष्ट होता है कि यदि आदेश प्रभावी ढंग से दिए जाएँ और प्रत्यायोजन सोच-समझकर किया जाए, तो संगठन का समुचित संचालन संभव है। इससे संगठनात्मक लक्ष्य की प्राप्ति तो सुनिश्चित होती ही है, साथ ही अधीनस्थों का मनोबल और क्षमता भी बढ़ती है, जो अंततः जनता के प्रति उत्तरदायी, संवेदनशील और दक्ष प्रशासन की ओर अग्रसर करता है।

5.15 शब्दावली

आदेश (Order) – उच्चाधिकारी द्वारा अधीनस्थ को किसी कार्य के निष्पादन हेतु दी गई निर्देशात्मक अभिव्यक्ति।

प्रत्यायोजन (Delegation) – कार्य एवं उससे संबंधित अधिकारों को अधीनस्थ को सौंपने की प्रक्रिया।

नियन्त्रण (Control) – संगठन में अनुशासन बनाए रखने एवं लक्ष्य की प्राप्ति सुनिश्चित करने हेतु की गई क्रियाएँ।

अधोगामी प्रत्यायोजन – जब आदेश या अधिकार ऊपर से नीचे की ओर हस्तांतरित होता है।

पाश्चिक प्रत्यायोजन – समकक्ष स्तर पर कार्य या अधिकार का हस्तांतरण।

5.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. c) लुईस ए. ऐलन, 2. b) अधोगामी प्रत्यायोजन, 3. b) लालफीताशाही और भ्रष्टाचार को समाप्त करना, 4. c) सामान्य प्रत्यायोजन, 5. d) औपचारिक प्रत्यायोजन

5.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. लक्ष्मी नारायण – लोक प्रशासन
2. बी.एल. फड़िया – लोक प्रशासन: सिद्धांत और व्यवहार
3. एम.पी. शर्मा और बी.एल. साधाना – लोक प्रशासन सिद्धांत एवं व्यवहार
4. अवस्थी और महेश्वरी – सार्वजनिक प्रशासन
5. एस.पी. नायपाल – Public Administration: Principles and Practice
6. Nicholas Henry – Public Administration and Public Affairs
7. L.D. White – Introduction to the Study of Public Administration

5.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोक प्रशासन में आदेश की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। आदेश की विशेषताओं एवं आवश्यकताओं का वर्णन कीजिए।
2. प्रत्यायोजन क्या है? प्रत्यायोजन की परिभाषाओं की व्याख्या करते हुए इसके प्रकारों का विस्तार से उल्लेख कीजिए।
3. प्रत्यायोजन के प्रमुख लाभों की विवेचना कीजिए। क्या यह अधीनस्थों के सशक्तिकरण की दिशा में सहायक है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
4. आदेश और प्रत्यायोजन के बीच क्या संबंध है? इन दोनों के माध्यम से प्रशासन में कार्य कुशलता कैसे सुनिश्चित की जा सकती है?
5. प्रत्यायोजन की सफलता किन शर्तों पर निर्भर करती है? क्या इससे संगठनात्मक दक्षता में वृद्धि होती है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

इकाई 6 : भारतीय प्रशासन का विकास

इकाई की संरचना

- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 उद्देश्य
- 6.3 भारतीय प्रशासन: विकास
 - 6.3.1 मौर्य प्रशासन
 - 6.3.2 मुगल प्रशासन
 - 6.3.3 ब्रिटिश प्रशासन
- 6.4 सारांश
- 6.5 शब्दावली
- 6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 6.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 6.9 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

यद्यपि लोक प्रशासन एक अध्ययन के विषय के रूप में नवीन विषय है जिसका जन्म 1887 में वुडरो विल्सन की राजनीति-प्रशासन द्वैतभाव की विचारधारा के प्रतिपादन के परिणामस्वरूप हुआ, तथापि लोक प्रशासन एक कार्य या प्रक्रिया के रूप में सभ्यता के अस्तित्व के साथ ही दिखाई देता है। जब से सभ्यता का अस्तित्व के साथ ही दिखाई देता। जब से सभ्यता का अस्तित्व है तब से मानव के विकास हेतु निरंतर संगठित प्रयास होते रहे और सभ्यता के अस्तित्व के साथ ही प्रशासन का अस्तित्व भी देखने को मिलता है।

भारतीय परिवेश में भी प्रशासन का विकास प्राचीन काल से ही देखा जा सकता है। हड़प्पा सभ्यता से लेकर आज तक भारतीय प्रशासन अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरा है। भारतीय प्रशासन अपने वर्तमान रूप में विरासत और निरंतरता का परिणाम है जिसके विकास की कड़ियां किसी न किसी रूप में अतीत से जुड़ी हुई हैं। हालांकि वर्तमान भारतीय शासन प्रणाली मूल रूप से ब्रिटिश काल की देन मानी जाती है।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत हम --

1. भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे |
2. मौर्यकाल में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे।

3. मुगलकाल में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे ।
4. ब्रिटिश शासन में भारतीय प्रशासन के विकास प्रक्रिया को जान सकेंगे ।

6.3 भारतीय प्रशासन विकास

वी. सुब्रह्मण्यम के अनुसार वर्तमान प्रशासनिक प्रक्रिया का सिलसिला सदियों तक विचारों का रहा, न कि संस्थाओं का। संस्थागत सिलसिला अंग्रेजों के शासनकाल की देन है।

भारतीय प्रशासन के विकास में मौर्यकाल, मुगलकाल तथा ब्रिटिशकाल का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

6.3.1 मौर्य प्रशासन

मौर्य प्रशासन का अथवा भारतीय इतिहास में दिलचस्पी का विषय है। मौर्य प्रशासन का अध्ययन पूर्ववर्ती प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है, अर्थात् इसकी स्थिति वैदिक कबायली संरचना और सामंतवादी युग के बीच की है। मौर्यकालमें भारत ने पहली बार राजनीतिक एकता प्राप्त की तथा एक विशाल साम्राज्य पर मौर्य शासकों ने शासन किया। इस विशाल साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले अनेक ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इंडिका, अशोक के शिलालेख व अनेक यूनानी रचनाओं से मौर्य शासन प्रणाली के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा अपने गुरु और प्रधानमंत्री चाणक्य की सहायता से जिस शासन प्रणाली का प्रारंभ किया गया, उसके अनेक तत्व वर्तमान प्रशासन में भी दृष्टिगोचर होते हैं।

मौर्य प्रशासन के दौरान निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है-

1. यह एक अति केन्द्रीकृत प्रशासन था जिसकी पहुँच नागरिक जीवन के सभी क्षेत्रों में थी। इसकी चिंता बाजार-व्यवस्था के नियंत्रण से लेकर नागरिक जीवन में नैतिक मूल्यों की सुरक्षा तक थी।
2. यह एक नौकरशाही पर आधारित प्रशासन था जिसमें सबल एवं निर्बल दोनों पक्ष थे।
3. वस्तुतः मौर्य प्रशासन कोई नवीन प्रशासन नहीं था वरन् नंद शासकों की पद्धति का ही एक विकसित रूप था अर्थात् केन्द्रीकरण की प्रक्रिया नंद शासकों के समय ही शुरू हो गई थी।

केन्द्रीय प्रशासन:-

मौर्य साम्राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। अतः शासन का प्रधान राजा होता था। राजपद एक महत्वपूर्ण पद हो गया और इस पद की शक्ति एवं अधिकार बढ़ गए। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियाँ भी थीं। राजा की खुशी प्रजा की खुशी पर निर्भर करती थी। जनकल्याण पर राजा का कल्याण आश्रित था। राज्य में रहने वाले लोगों के हितों का संपादन ही राजा का प्रमुख कर्तव्य था।

राजा अब केवल दूरस्थ संरक्षक नहीं वरन जनता का एक निकट संरक्षक बन गया। राजशक्ति निरंकुश पितृसत्तावाद पर आधारित थी। अशोक ने स्पष्ट रूप से अपने धौली शिलालेख में घोषणा की कि “सारी प्रजा मेरी संतान है”। अर्थात् मौर्य शासक जनता के व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करने लगे थे। राजा अब न केवल धर्मशास्त्र के द्वारा संचालित होता था। बल्कि अर्थशास्त्र के द्वारा संचालित होता था। अर्थशास्त्र में राजा की विवेकशीलता पर बल दिया गया, अर्थात् राजा न केवल पुराने कानूनों का पालन करवा सकता था वरन प्रशासनिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर नए कानूनों का निर्माण भी कर सकता था और फिर परंपरागत कानून तथा राजा के कानून में किसी प्रकार का विरोधाभास उत्पन्न होने की दशा में राजा का कानून ही ज्यादा मान्य होता था। अर्थशास्त्र के अनुसार प्रशासन के प्रत्येक पहलू में राजा का आदेश या विचार ही सर्वोपरि है।

अर्थशास्त्र में राजा के कर्तव्यों का भी निर्धारण किया गया। अर्थशास्त्र ने इस बात पर बल दिया, कि राजा को किसी भी समय कर्मचारियों एवं जनता की पहुंच से परे नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर गड़बड़ी एवं अशांति फैलेगी और राजा शत्रुओं का शिकार हो जाएगा। मेगस्थनीज का भी कहना है कि मालिश करवाते समय राजा से विचार विमर्श के लिए मिला जा सकता है। अशोक के शिलालेख भी इस बात की पुष्टि करते हैं। अर्थशास्त्र में राजा के कुछ आवश्यक गुण भी निर्धारित किए गये, जिसके अनुसार जनसाधारण, राजा नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त राजा को दैवीय बुद्धि व शक्ति वाला, वृद्धजनों की बात सुनने वाला, धार्मिक व सत्यवादी होना आवश्यक है।

मंत्रिपरिषद-

सिद्धांत के रूप में मौर्य काल में राज्य की संपूर्ण शक्ति राजा के हाथों में ही केंद्रित थी, किंतु व्यवहार में अनेक प्रतिबंधों के कारण राजा की शक्ति की निरंकुशता सीमित थी विशाल मंत्रिपरिषद व प्राचीन परंपराओं के पालन ने मौर्य शासकों की निरंकुशता पर सदैव अंकुश लगाए रखा। राजा को अपने कर्तव्यों के निर्वहन में सहायता हेतु एक मंत्रिपरिषद होती थी। अर्थशास्त्र एवं अशोक के अभिलेखों में मंत्रिपरिषद का जिक्र है। अर्थशास्त्र के अनुसार राज्यरूपी रथ केवल एक पहिए (राजा) के द्वारा नहीं चल सकता। अतएव दूसरे पहिए के रूप में उसे मंत्रिपरिषद की आवश्यकता होती है।

मंत्रिपरिषद एक परामर्शदात्री निकाय थी जिसकी शक्ति राजा एवं मंत्रियों की परस्पर स्थिति पर निर्भर करती थी। सामान्यतः राजा के समानांतर मंत्रिपरिषद् की शक्ति कमजोर थी और राजा मंत्रिपरिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं था। राजा के समानांतर मंत्रियों की स्थिति का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि राजा अपने मंत्री को स्वयं नियुक्त करता था। मेगस्थनीज के अनुसार राजा के सलाहकार एक विशेष जाति से नियुक्त होते थे। राजा द्वारा मुख्यमंत्री तथा पुरोहित का चुनाव उनके चरित्र की भली भांति जांच के बाद किया जाता था।

अर्थशास्त्र में मंत्रियों के कुछ गुण निर्धारित किए गये अर्थात् उनमें उच्चकुल में जन्म, वीर, बुद्धिमान, ईमानदारी जैसे गुण होने चाहिए। मंत्रिपरिषद से 3-4 मंत्रियों की एक छोटी उपसमिति भी बनती थी जो राजा को कुछ विशिष्ट बातों में परामर्श देती थी। कौटिल्य ने नीति निर्धारण की गोपनीयता पर बल दिया है। मंत्रिपरिषद का अपना सचिव होता था, जिस पर उसके कार्यालय की देखभाल का भार था। कौटिल्य ने उसे मंत्रिपरिषद अध्यक्ष कहा है। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने मौर्यकालीन मंत्रिपरिषद की तुलना इंग्लैंड की प्रिवि-कौंसिल से की है।

नौकरशाही

मंत्रिपरिषद व राजा के द्वारा मुख्यतः नीति निर्धारण का कार्य किया जाता था। तत्पश्चात् उन नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रमुख कार्य नौकरशाही के द्वारा किया जाता था। मौर्यकालीन नौकरशाही अत्यधिक सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित थी। प्रशासन के संचालन में कौटिल्य ने 18 तीर्थो (अधिकारियों का नाम) एवं 27 अध्यक्षों की भूमिका पर बल दिया है। मौर्यकाल में प्रशासन की सुविधा के लिए 18 विभागों की स्थापना की गई थी जिन्हें तीर्थ कहते थे। प्रत्येक विभाग के संचालन व निरीक्षण के लिए अध्यक्ष होता था। एक महत्वपूर्ण केंद्रीय अधिकारी सन्निधाता अर्थात् कोषाध्यक्ष होता था। वह केन्द्रीय खजाने का प्रभारी होता था। वह एक दूसरे महत्वपूर्ण अधिकारी समाहर्ता से मिलकर कार्य करता था। समाहर्ता भू-राजस्व की वसूली से जुड़ा हुआ था। युवराज, राजा का उत्तराधिकारी होता था। मंत्री सर्वोच्च सलाहकार था। पुरोहित शासकीय तथा धार्मिक मामलों में राजा का परमर्शदाता था।

अर्थशास्त्र में राजस्व के महत्वपूर्ण स्रोतों की चर्चा की गई है, जैसे भूमि, खन, जंगल, सड़क आदि। महत्वपूर्ण राजकीय खर्च वेतन, सार्वजनिक कार्य निर्माण, सड़क एवं कुएं, विश्रामगृह, सिंचाई से संबंधित कार्यों में होता था। अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय कोष एवं राजा के व्यक्तिगत कोष में कोई अंतर नहीं किया गया था।

राज्य का समांग सिद्धातः-

कौटिल्य के अनुसार राज्य एक आवश्यक और अनिवार्य संस्था है। राज्य की स्थापना के बिना समाज में अराजकता तथा मत्स्य न्याय की स्थापना हो जाएगी तथा शक्तिशाली, दुर्बल को अपने हित का साधन बना लेगा। कौटिल्य राज्य की उत्पत्ति के संदर्भ में सामाजिक समझौते के सिद्धात में विश्वास करता है। राजा व प्रजा के बीच समझौते के परिणामस्वरूप राज्य अस्तित्व में आया। चूकें राज्य, व्यक्ति के लिए हितकारी संस्था है। अतः व्यक्ति की निष्ठा एवं आस्था राज्य में होती है। कौटिल्य के अनुसार राज्य के 7 अंग हैं जिन पर राज्य की व्यवस्था, स्थिरता और अस्तित्व निर्भर करता है। ये 7 अंग हैं- राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोषालय, सशस्त्र सेना तथा मित्र। राज्य के इन भागों में सावयव एकता होती है। राजा राज्य का प्राण है। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा धर्म का रक्षक होता है। उसमें निर्भयता, आत्मनियंत्रण, निर्णय लेने की क्षमता तथा विचार करने की शक्ति होनी चाहिए। यदि राजा अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार नहीं करता, तो वह आदर योग्य नहीं है। अयोग्य राजा को पद से हटा देना चाहिए।

राजा के बाद पदसोपान में दूसरा स्थान अमात्म का आता है। वह आजकल के मंत्रिमंडलीय सचिव के समान शासकीय अधिकारियों में सबसे उच्च अधिकारी होता था। अमात्य प्रशासन संबंधी बातों को देखता था। राजा कुशल, बुद्धिमान तथा निर्णय लेने की क्षमता वाले व्यक्ति को अमात्य पद के लिए चयन करता था।

जनपद, राज्य का तीसरा अंग था। इसमें भूमि-भाग के साथ साथ क्षेत्र में रहने वाले लोग सम्मिलित होते थे। कौटिल्य के अनुसार श्रेष्ठ जनपद वह है जो प्राकृतिक सीमाओं जैसे नदी, पहाड़, जंगल में बसा हो। जनपद की भूमि उपजाऊ होनी चाहिए तथा रहने वाले लोग मेहनती, बुद्धिमान, वफादार होने चाहिए।

दुर्ग भी राज्य का एक अनिवार्य अंग था। राज्य की स्थिरता और युद्धों में सुरक्षा के लिए दुर्ग की भूमिका अहम होती थी। दुर्ग में पर्याप्त खाद्य सामग्री, अस्त्र-शस्त्र, पानी, दवाईयां आदि का रहना आवश्यक था जो समय पर काम आ सके।

कोष व कोषालय भी राज्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य था। मौर्यकाल में वित्त की व्यवस्था बेहतर थी। विभिन्न प्रकार के करों से प्राप्त राशि कोषालय में एकत्रित होती थी। विभिन्न खर्चों के लिए बजट में व्यवस्था होती थी। आपात स्थितियों से निपटने के लिए आपात निधि की आवश्यकता थी। सेना की राज्य में महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। कौटिल्य ने मौर्य सेना के संगठन तथा सैन्यशास्त्र का व्यापक चित्रण किया है। सैनिकों से राज भक्ति, साहस, बहादुरी की अपेक्षा की जाती थी। सीमा विस्तार पर विशेष ध्यान होने की वजह से सेना राज्य का आवश्यक अंग थी।

मित्र से तात्पर्य मित्र राज्यों से था। राज्य की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि पड़ोसी राज्यों के साथ उसके संबंध मैत्रीपूर्ण हैं या नहीं।

इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य के अस्तित्व एवं स्थिरता हेतु राज्य के सात अंगों पर आधारित होने की बात कही। इन अंगों के बीच उचित संतुलन अनिवार्य था।

प्रांतीय प्रशासन:-

मौर्यकाल में संपूर्ण साम्राज्य का विभाजन प्रांतों में किया गया था। पाँच प्रांतीय राजधानियां प्रमुख थीं। उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला, अवंति राज्य की राजधानी उज्जैन, कलिंग प्रांत की राजधानी तोसली, दक्षिणापथ की राजधानी सुवर्णगिरि और पूर्वी प्रांत की राजधानी पाटलिपुत्र। ये पाँच महत्वपूर्ण एवं बड़े प्रांत थे तथा इनके अधीन छोटे छोटे प्रांत भी थे। बड़े प्रांतों का प्रशासक राजकुल का होता था। अशोक के फरमानों में उन्हें कुमार या आर्यपुत्र कहा गया है। अर्थशास्त्र में इस बात की चेतावनी दी गई कि कुमार या आर्यपुत्र खतरे का कारण हो सकता है। इसलिए उसे राज्य पर संपूर्ण नियंत्रण नहीं होना चाहिए। प्रांतीय प्रशासन में केंद्रीकरण की प्रकृति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है क्योंकि प्रांतीय मंत्रिपरिषदों को यह स्वतन्त्रता थी कि वह प्रांतीय प्रशासक को सूचित किए बिना राजा को महत्वपूर्ण सूचना प्रेषित कर सकती है। इस बात की पुष्टि दिव्यावदान से भी होती है।

किंतु क्षेत्रीय स्तर पर मौर्य प्रशासन में कुछ स्वायत्तता प्रदान की गई थी अर्थात् संबंधित क्षेत्र के व्यक्ति को ही उस क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त किया जाता था। उदाहरण के लिए रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि काठियावाड़ का शासक यौनराज तुशाष्क था।

स्थानीय प्रशासन:-

प्रांतों का विभाजन विभिन्न जिलों में किया गया था। जिले को विषय या आहार कहा जाता था। जिला प्रशासन से जुड़े तीन पदाधिकारी थे- प्रादेशिक, रज्जुक और युक्त। प्रादेशिक नामक अधिकारी कानून एवं व्यवस्था को बनाए रखने और भू-राजस्व की वसूली से जुड़े हुए थे जबकि रज्जुक नामक अधिकारी विशेष रूप से न्यायिक कार्यों से जुड़े हुए थे। रज्जुक की नियुक्ति ग्रामीण जन कल्याण के उद्देश्य से की जाती थी। उसके अतिरिक्त युक्त का कर्तव्य सचिव एवं लेखा संबंधी काम देखना था। अशोक के अभिलेखों में इन अधिकारियों की चर्चा की गई है।

जिला एवं ग्रामीण प्रशासन के बीच एक और प्रशासनिक इकाई थी। जो संभवतः 5 या 10 गांवों का समूह होती थी। इसका महत्वपूर्ण अधिकारी गोप होता था जिसका काम सामान्य प्रशासन की देख-रेख करना था। गोप के अतिरिक्त स्थानिका नामक अधिकारी भी होता था जिसका मुख्य कार्य कर की वसूली था। वह सीधे प्रादेशिक के

अधीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानिका आधुनिक सहायक कलेक्टर और प्रादेशिका जिला कलेक्टर के समान थे और ये दोनों अधिकारी समाहर्ता या चीफ कलेक्टर के अधीन होते थे।

सबसे निचले स्तर पर ग्रामीण प्रशासन था जिसका प्रधान मुखिया होता था। वह ग्रामीण वृद्धजनों में से निर्वाचित होता था। छोटे गांवों में मुखिया ही एक मात्र अधिकारी होता था किंतु बड़े गांवों में मुखिया की सहायता के लिए लेखपाल एवं लिपिकों की नियुक्ति की जाती थी और अधिकारियों का वेतन या तो भू- राजस्व से या फिर भूमि प्रदान करके पूरा किया जाता था।

नगर प्रशासन:-

मौर्यकाल में नगर प्रशासन का अपना श्रेणीबद्ध संगठन था। नगर प्रशासन का प्रधान नगरक नामक अधिकारी होता था। अशोक के एक अभिलेख में नगर-व्यवहारिक की चर्चा की गई है। नगरक या नगर निरीक्षक का काम नगर कानून व्यवस्था बनाए रखना था। अकाल पड़ने पर गोदामों से अनाज बंटवाने का काम भी नगरक करता था। इस नगरक नामक अधिकारी की सहायता एवं मंत्रणा के लिए समाहर्ता एवं प्रादेशिका नामक अधिकारी होते थे। मेगस्थनीज के इंडिका में विस्तार से पाटलिपुत्र के नगर प्रशासन की चर्चा की गई है। मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र के प्रशासक के लिए पांच-पांच सदस्यों की 6 समितियां होती थी जिनके कार्य एवं कार्तव्य निम्नलिखित थे।

1. उद्योगों व शिल्पों का निरीक्षण
2. विदेशियों की देखभाल
3. जन्म मरण का पंजीकरण
4. वाणिज्य व्यापार की देखभाल
5. सार्वजनिक बिक्री का निरीक्षण
6. बिक्री कर संग्रह

कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रासंगिकता:-

कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारत में लोक प्रशासन पर किया गया सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। यद्यपि अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से लोक प्रशासन के सिद्धांत नहीं रखे गए हैं लेकिन इसमें वर्णित सरकारी कार्यप्रणाली महत्वपूर्ण है। कौटिल्य ने एक कल्याणकारी प्रशासन की बात की थी। राजा को प्रजा के हित के लिए कार्य करना चाहिए। उसे प्रजा को पुत्र की भांति पालना चाहिए, क्योंकि 'प्रजा हिते, हिते राज्ये, प्रजानाम च सुखे सुखम्'। अर्थात् प्रजा के हित में ही राज्य का हित है और प्रजा के सुख से ही राज्य सुखी है। कल्याणकारी प्रशासन के साथ ही कौटिल्य ने सुशासन की बात की है अर्थात् जनता की सारी सुविधाओं को सरकार द्वारा मुहैया कराया जाना चाहिए। क्षेत्रों की आवश्यकतानुसार उन्हें संसाधन उपलब्ध कराना राष्ट्र का दायित्व है।

कौटिल्य ने राजस्व संग्रहण के संदर्भ में उचित करारोपण को महत्व दिया है। करारोपण राज्य की आवश्यकता व प्रजा की स्थिति के अनुरूप होना चाहिए, उसके अनुसार उचित करारोपण की व्यवस्था वैसी ही होनी चाहिए, जैसे वृक्ष से फल गिरते हैं। कौटिल्य ने जट को जनता को खुशहाली की गारंटी देती है। कौटिल्य का कथन है कि सभी उद्यम वित्त पर निर्भर है अतः कोषागार पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

कौटिल्य का विचार है कि राजा का लोकसेवक कोषागार रक्षक मात्र होना चाहिए। प्रशासन के नियमों का उल्लंघन करने पर न्यायपालिका के दायरे में नहीं आते, किंतु निजी गुप्तचर व्यवस्था तथा विदेश संबंधी आदि विषयों पर कौटिल्य के द्वारा दिए गए विचार वर्तमान भारतीय प्रशासन के संदर्भ में पर्याप्त रूप से प्रासंगिक है।

6.3.2 मुगल प्रशासन

केन्द्रीय प्रशासन

प्रशासन के शीर्ष पर बादशाह होता था। वह सभी प्रकार के सैनिक एवं असैनिक मामलों का प्रधान होता है था। बादशाह मुगल साम्राज्य के प्रशासन की धुरी था। बादशाह की उपाधि धारण करता था, जिसका आशय था कि राजा अन्य किसी भी सत्ता के अधीन नहीं है। वह समस्त धार्मिक तथा धर्मोत्तर मामलों में अंतिम निर्णायक व अंतिम सत्ताधिकारी है। वह सेना, राजनीतिक, न्याय आदि का सर्वोच्च पदाधिकार है। वह संपूर्ण सत्ता का केन्द्र है तथा खुदा का प्रतिनिधि है।

मुगल बादशाह बहुत शान शौकत का जीवन व्यतीत करते थे। उनको बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त थे और उनकी इच्छा ही कानून थी। तुर्की मंगोल परंपरा से ही मुगल प्रशासन को केन्द्रीकृत प्रशासन की अवधारणा विरासत में प्राप्त हुई थी। वैसे कुछ विद्वानों का मानना है कि अकबर के समय केन्द्रीकृत तुर्की मंगोल परंपरा में संशोधन किया गया। इन सबके उपरांत भी राजा का जीवन नियमों से बंधा हुआ था और यह माना जाता था कि जनता की भलाई में ही राजा की भलाई है। कुरान में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि प्रजा के कल्याण का पूरा उत्तरदायित्व राजा के कंधों पर है। केन्द्रीय प्रशासन के संचालन हेतु राजा के द्वारा निम्नांकित पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी।

1. वकील या वजीर -

वकील संपूर्ण प्रशासन का पर्यवेक्षण करता था। इसे राजस्व और वित्त का अधिभार दिया गया था। यह भू-राजस्व का आकलन करता था और उसकी वसूली का निरीक्षण करता था। वह इससे संबंधित हिसाब की जांच भी करता था।

2. दीवाने-आला या दीवाने-कुल:-

दीवाने आला वित्तीय शक्तियां रखता था। इसे राजस्व और वित्त का अधिभार दिया गया था। यह भू-राजस्व का आकलन करता था और उसकी वसूली का निरीक्षण करता था। वह इससे संबंधित हिसाब की जांच भी करता था।

3. मीर बख्शी:-

यह साम्राज्य का सर्वोच्च भुगतान अधिकारी होता था क्योंकि मुगलकाल में मनसबदारी प्रथा प्रचलित थी तथा सैनिक एवं असैनिक सेवाओं का एकीकरण किया गया था। इसलिए यह साम्राज्य के सभी अधिकारियों को भुगतान करता था। यह मनसबदारों की नियुक्ति की सिफारिश करता था और उनके लिए जागीर की अनुशंसा करता था।

4. दीवाने-शामा/खान-ए-शामा:-

यह राजकीय कारखानों का निरीक्षण करता था तथा राजकीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन कारखानों के उत्पादन को नियंत्रित करता था।

5. सद्र-उस-सूद्र:-

यह बादशाह का मुख्य धार्मिक परामर्शदाता होता था। यह धार्मिक अनुदानों को नियंत्रित करता था। साथ ही यह धार्मिक मामलों से संबंधित मुकदमों भी देखता था।

6. मुख्य काजी:-

यह न्याय विभाग का प्रधान होता था।

7. मुहतसिब:-

यह जनता के नैतिक आचरण का निरीक्षण करता था और देखता था कि शरीयत के अनुसार कार्य हो रहा है या नहीं साथ ही यह माप तौल का निरीक्षण भी करता था।

उपरोक्त 7 अधिकारियों के अतिरिक्त केन्द्रीय प्रशासन में कुछ छोटे छोटे पद भी होते थे, जैसे- दरोगा-ए-तोपखाना, दरोगा-ए-डाकचौकी, मीर -माल (टकसाल प्रधान), मीर-बर् (वन अधीक्षक) आदि।

प्रांतीय प्रशासन

मुगल सम्राट बाबर ने अपने साम्राज्य का विभाजन जागीरों में किया था तथा उसके समय किसी प्रकार की प्रांतीय प्रशासनिक व्यवस्था विकसित नहीं हुई थी। सबसे पहले एकरूप प्रांतों का निर्माण अकबर के शासनकाल में हुआ। सन् 1580 में अकबर ने अपने साम्राज्य का विभाजन 12 प्रांतों में किया, जिसकी संख्या शाहजहाँ के काल तक 22 हो गई। अकबर की प्रशासनिक नीति प्रशासनिक एकरूपता तथा रोक और संतुलन के सिद्धांतों पर आधारित थी परिणामस्वरूप प्रांतीय प्रशासन का ही प्रतिरूप था।

प्रांतीय प्रशासन का प्रमुख सूबेदार/नजीम कहलाता था जिसकी नियुक्ति बादशाह करता था। आमतौर पर सूबेदार का कार्यकाल 3 वर्ष का होता था। नजीम की सहायता हेतु कुछ अन्य अधिकारी भी होते थे। प्रांतीय दीवान की नियुक्ति केंद्रीय दीवान की अनुसंशा पर बादशाह करता था। प्रांतीय दीवान, नजीम के बराबर का अधिकारी होता था और कभी-कभी श्रेष्ठ अमीर को भी दीवान का पद दे दिया जाता था। इसी तरह प्रांतीय बख्शी की नियुक्ति केंद्रीय बख्शी की अनुसंशा पर होती थी और प्रांतीय बख्शी सुरक्षा से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण बातें नजीम को बताए बिना केंद्रीय बख्शी तक प्रेषित कर देता था। अकबर ने केंद्रीय सद्र शक्ति को कम करने के लिए प्रांतीय सद्र को नियुक्त करना शुरू किया। अब प्रांतीय सद्र के परामर्श से भी धार्मिक बातों का निर्णय लिया जा सकता था। इनके अतिरिक्त प्रांतीय स्तर पर काजी भी होता था।

स्थानीय प्रशासन

प्रांतों के विभाजन सरकार में होता था। सरकार से जुड़े हुए अधिकारी थे फौजदार, अमालगुजार, खजानदार आदि। फौजदार शांति व्यवस्था की देखरेख करता था और अमालगुजार भू-राजस्व से जुड़ा अधिकारी था। खजानदार सरकार के खजाने का संरक्षक होता था। कभी-कभी एक सरकार में कई फौजदार होते थे और कभी-कभी दो सरकारों पर एक फौजदार भी होता था। सरकार का विभाजन परगनों में होता था। परगनों से जुड़े अधिकारी सिकदार, आमिल, पोतदार, कानूनगों आदि थे। सिकदार शान्ति व्यवस्था का संरक्षक होता था और भू-राजस्व संग्रह में आमिल की सहायता करता था। आमिल भू-राजस्व प्रशासन से जुड़ा अधिकारी था। पोतदार, खजांची को कहा जाता था तथा कानूनगों गांव के पटवारियों का मुखिया होता था और स्वयं कृष्य भूमि का पर्यवेक्षण करता था।

सबसे नीचे ग्राम होता था जिससे जुड़े अधिकारी मुकद्दम और पटवारी थे। मुगलकाल में ग्राम पंचायत की व्यवस्था थी। इस विभाजन के अतिरिक्त नगरों में कानून व्यवस्था की देखरेख के लिए कोतवाल की नियुक्ति होती थी। अबुल फजल के आइने-अकबरी में कोतवाल के कार्यों का विवरण दिया गया है। इसी तरह प्रत्येक किले पर किलेदार की नियुक्ति होती थी।

इस प्रकार मुगल प्रशासन केंद्रीय प्रशासन से लेकर गांव तक श्रृंखलाबद्ध था लेकिन कुछ इतिहासकार जिनमें इरफान हबीब और आर्थर अली महत्वपूर्ण हैं मुगल प्रशासनिक ढांचे को अतिकेन्द्रीकृत मानते हैं।

मनसबदारी व्यवस्था:-

अकबर के द्वारा स्थापित की गई मनसबदारी पद्धति मौलिक रूप से एक प्रशासनिक सामरिक उपकरण थी जिनका उद्देश्य अमीरों एवं सेना का एक सक्षम संगठन स्थापित करता था। वस्तुतः मनसबदारी पद्धति की व्याख्या केंद्रीकृत रातनैतिक ढांचे के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। इसके साथ साम्राज्य की शक्ति को एक चैनल में बांध दिया गया और अमीर वर्ग सेना तथा नोकरशाही तीनों को जोड़ दिया गया।

मुगल साम्राज्य के सभी पंजीकृत अधिकारियों को एक मनसब प्रदान किया गया, जो जोड़े के अंक में प्रस्तुत किया जाता था। प्रथम, संबंधित अधिकारी के जात रैंक का बोध होता था तथा दूसरे उसके सवार रैंक का बोध कराता था। जात रैंक किसी भी अधिकारी का विभिन्न अधिकारियों के पदानुक्रम में पद और स्थान को निर्धारित करता था। दूसरी तरफ सवार रैंक उसके सैनिक उत्तरदायित्व को रेखांकित करता था। सैद्धांतिक रूप से मनसब के कुल 66 ग्रेड होते थे। निम्नतम 10 और उच्चतम 10 हजार होता था किन्तु व्यावहारिक रूप में केवल 33 ग्रेड ही प्रचलित थे। पांच हजार से अधिक रैंक सामान्यतः राजकीय व्यक्ति को ही प्रदान किए जाते थे किंतु यह प्रतिष्ठा कुछ राजपूत योद्धाओं को भी प्राप्त हुई।

जागीरदारी प्रथा:-

वस्तुतः जागीरदारी पद्धति की स्थापना के पीछे साम्राज्य का एक व्यापक उद्देश्य था जिसके द्वारा उन राजपूत जमींदारों से भू-राजस्व संग्रह करना संभव हो गया, जो सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली थे और जाति, गोत्र के आधार पर विभाजित थे। अकबर मनसबदारों का वेतन नकद में देना चाहता था किन्तु उस समय के कुलीन वर्ग को भू-संपत्ति से जबर्दस्त आकर्षण था। इसलिए जागीरदारी प्रथा के अंतर्गत कुछ अधिकारियों को जागीर में वेतन दिया जाता था।

दिल्ली सल्तनत काल में इक्तादारी पद्धति प्रचलित थी और इक्ता के मालिक इक्तादार कहे जाते थे। इक्तादारी पद्धति भी कृषकों से अधिशेष प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण जरिया था किन्तु इक्ता और जागीर में एक महत्वपूर्ण अंतर यह था कि इक्ता में भूमि का आबंटन होता था जबकि जागीर में भू-राजस्व का आबंटन होता था। जागीरदारी व्यवस्था और इक्तादारी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंतर यह भी था कि जागीरदारों को केवल भू-राजस्व की वसूली का अधिकार दिया गया था संबंधित क्षेत्र के प्रशासन का नहीं, जागीरदार को राजकीय नियमों के अनुरूप केवल प्राधिकृत राजस्व वसूलने का अधिकार था तथा प्रशासनिक कार्यों के लिए राज्य जिम्मेदार था। यदि भू-राजस्व की वसूली में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित होता, तो जागीरदार उस क्षेत्र के फौजदार से सैनिक सहायता भी प्राप्त कर सकता था। जागीरदारी व्यवस्था के द्वारा प्रशासनिक केन्द्रीकरण का प्रयास हुआ था और नोकरशाही को ग्रामीण समुदाय पर आरोपित कर दिया गया था।

6.3.3 ब्रिटिश प्रशासन

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कंपनी के रूप में ईस्ट इंडिया कंपनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कंपनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। प्रारंभ में कंपनी का उद्देश्य व्यापार करना था और बंबई, कलकत्ता तथा मद्रास के बंदरगाहों से होकर शेष भारत से इसका संपर्क रहता था। धीरे धीरे कंपनी की

प्रादेशिक महत्वकांक्षा प्रबल होती गई और शीघ्र ही वह भारत में एक प्रमुख यूरोपीय शक्ति बन गई। यही कंपनी आगे चलकर मुगल शासन की उत्तराधिकारी बनी। प्लासी और बक्सर के युद्ध के बाद भारत में कंपनी की साम्राज्यीय महत्वकांक्षाएं प्रबल हुईं और 1765 की इलाहाबाद की संधि के द्वारा कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अधिकार प्राप्त हुए, परिणामस्वरूप द्वैध शासन की शुरुआत हुई, जहां कि राजस्व संग्रहण का कार्य ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार में था, लेकिन सामान्य प्रशासन की जिम्मेदारी संबंधित प्रांत में मुगल प्रशासन द्वारा नियुक्त नवाब के जिम्मे होती थी। इस प्रकार कर्तव्य नवाब के पास थे लेकिन शक्तियां कंपनी के पास। यद्यपि नवाब की नियुक्ति में भी कंपनी का हस्तक्षेप होता था और उप नवाब की नियुक्ति का अधिकार तो कंपनी के पास ही था। इस प्रकार सारी शक्तियां कंपनी के हाथ में केन्द्रीत हो गई, लेकिन कर्तव्य और उत्तरदायित्व नहीं, परिणामस्वरूप द्वैध शासन की वजह से अकाल, अव्यवस्था जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ा।

कंपनी के शासन की शुरुआत होने और उसकी शक्तियों में वृद्धि होने के साथ-साथ ब्रिटिश संसद का भी भारतीय प्रशासन संबंधी मामलों में कंपनी के माध्यम से अप्रत्यक्ष नियंत्रण प्रारम्भ हुआ, जो कि 1857 की क्रांति के बाद कंपनी शासन की समाप्ति और भारत में प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन की स्थापना में परिणत हो गया।

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन की स्थापना के बाद ब्रिटिश संसद ने समय समय पर विभिन्न अधिनियम पारित करके कंपनी के शासन पर नियंत्रण करने का प्रयास किया, जिनकी संक्षिप्त चर्चा निम्नांकित रूप में की जा सकती है-

केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद का विकास

1. 1773 से 1858 तक प्रशासनिक व्यवस्था - भारतीय संवैधानिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था के विकास में 1773 के रेग्युलेशन एक्ट का विशेष महत्व है। सरकार ने कंपनी के आर्थिक, प्रशासनिक एवं सैनिक कार्यों पर संसद के आंशिक नियंत्रण के लिए यह अधिनियम पारित किया था। इस अधिनियम के द्वारा बंगाल के गवर्नर को कंपनी के भारतीय प्रदेशों का गवर्नर जनरल बनाया गया तथा इसकी सहायता के लिए 4 सदस्यों की एक परिषद की स्थापना की गई इस कानून में बंबई और मद्रास के प्रेसीडेंसी को कलकत्ता प्रेसीडेंसी बंगाल के अधीन कर दिया गया। साथ ही भारतीय मामलों में संसद का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप आरंभ हुआ। परिणामस्वरूप इस कानून से भारत में प्रशासन के केन्द्रीकरण का कार्य शुरू हुआ।

1784 में पिट्स इंडिया एक्ट के माध्यम से गवर्नर जनरल की कौंसिल में सदस्यों की संख्या 4 से घटाकर 3 कर दी गई। साथ ही मद्रास तथा बंबई प्रेसीडेंसियों पर गवर्नर जनरल के निरीक्षण एवं नियंत्रण के अधिकार अधिक स्पष्ट कर दिए गए। इस अधिनियम का उद्देश्य कंपनी पर ब्रिटिश क्राउन का नियंत्रण बढ़ाना था। अतः ब्रिटेन में 6 सदस्यों के बोर्ड ऑफ कंट्रोल की स्थापना की गई। 1786 के अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल को परिषद से अधिक शक्तियां प्रदान की गईं और उसे मुख्य सेनापति बनाया गया।

1793 के अधिनियम से गवर्नर जनरल को अपनी कौंसिल की अनुशंसा को रद्द करने का अधिकार दिया गया। 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा भारत में ब्रिटिश कंपनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया, लेकिन भू-राजस्व प्रशासन एवं भारतीय प्रशासन का कार्य कंपनी के अधीन रहने दिया गया। 1833 के चार्टर अधिनियम से बंगाल का गवर्नर भारत का गवर्नर जनरल कहलाने लगा। बंबई एवं मद्रास प्रेसीडेंसी को पूर्णतः बंगाल के अधीन कर दिया गया। संपूर्ण भारत के लिए विधि निर्माण का एकाधिकार गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद को प्रदान किया गया तथा बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसी से विधिनिर्माण के अधिकार छीन लिए गए। अधिनियम के द्वारा गवर्नर

जनरल की काउंसिल में एक चौथा सदस्य फिर से जोड़ा गया, जिसे विधि सदस्य का नाम दिया गया। इस प्रकार इस अधिनियम से भारत में केन्द्रीकृत प्रशासन की स्थापना हुई।

2. 1858 से 1919 तक-1858 के अधिनियम द्वारा भारत पर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थान पर ब्रिटिश संसद के शासन की स्थापना हुई। भारत सचिव के पद का सृजन किया गया। तथा समस्त संवैधानिक, प्रशासनिक तथा वित्तीय शक्तियां भारत सचिव तथा उसकी 15 सदस्यीय परिषद में केंद्रित हो गई। भारत में सत्ता का केन्द्रीकरण गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद में निहित हो गया। गवर्नर जनरल को वायसराय कहा जाने लगा।

1861 के अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। पहली बार प्रांतीय विधायिकाओं की स्थापना हुई। यद्यपि इनके कई अधिकार सीमित थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद तथा विधायिका का पुनर्गठन किया गया। अधिनियम की व्यवस्था द्वारा कार्यकारिणी के महत्व में कमी एवं गवर्नर जनरल के प्रभाव में वृद्धि हुई। गवर्नर जनरल को इस बात के लिए अधिकृत किया गया कि वह प्रशासनिक व्यवस्था हेतु विधि बनाए। कैनिंग के द्वारा **विभागीय व्यवस्था** की शुरुआत की गई। अधिनियम के द्वारा मद्रास और बंबई प्रेसीडेंसी को पुनः विधि निर्माण के अधिकार तथा अन्य प्रांतों में ऐसी ही विधायिकाओं की स्थापना की व्यवस्था करके विधि निर्माण में विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया की नींव पड़ी।

1892 के भारतीय परिषद अधिनियम के अंतर्गत विधायिकाओं की सदस्य संख्या और शक्ति में वृद्धि हुई तथा प्रतिनिधि संस्थाओं की सिफारिशों पर मनोनीत किया जाने लगा। 1909 के मार्ले-मिंटो सुधारों द्वारा विधायिकाओं की सदस्य संख्या में वृद्धि हुई परंतु बहुमत सरकारी सदस्यों का ही बना रहा। अधिनियम में अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति को अपनाया गया अर्थात् केन्द्रीय विधान परिषद में विभिन्न प्रांतों से सदस्य चुनकर आने थे। इस अधिनियम का सबसे बड़ा दोष पृथक निर्वाचन व्यवस्था थी।

1919 में मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार द्वारा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों को स्थान दिया गया। केन्द्रीय स्तर पर द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका की स्थापना हुई। अधिनियम के द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया। आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर को अपने पार्षदों की सहायता से करना था तथा हस्तांतरित विषयों का प्रशासन निर्वाचित मंत्रियों की सहायता से किया जाना था।

3. सन् 1919 से स्वतंत्रता तक प्रशासनिक व्यवस्था 1935 के भारत सरकार अधिनियम का भारत के संवैधानिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस अधिनियम ने भारत में संघात्मक व्यवस्था का सूत्रपात किया। इस संघ का निर्माण ब्रिटिश भारत के प्रांतों, देशों राज्यों और कमिश्नरी के प्रशासनिक क्षेत्र को मिलाकर किया जाना था। संघ स्तर पर द्वैध शासन प्रणाली को अपनाया गया और आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना करने का प्रावधान किया गया। संघीय कार्यपालिका, संघीय विधानमंडल तथा संघीय न्यायालय की स्थापना की गई। प्रांतों में प्रांतीय सरकार तथा प्रांतीय सरकार की कार्यपालिका शक्ति समस्त प्रांतीय विषयों तक स्थापित हो गई। प्रांतों से द्वैध शासन प्रणाली का अंत कर दिया गया, किंतु व्यवहार में गवर्नर की शक्ति अब भी बनी रही। गवर्नर की शक्तियों को तीन भागों में विभाजित किया गया-

1. स्वेच्छा से काम में आने वाली शक्तियां

2. व्यक्तिगत शक्तियां

3. विधायिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह से काम में आने वाली शक्तियां

इस अधिनियम का सबसे विवादास्पद पहलू धारा 93 थी जिसके अनुसार गवर्नर विशेष परिस्थितियों में प्रांतीय प्रशासन को अपने नियंत्रण में ले सकता था। इसी शक्तियों का प्रयोग कर 1939 में विभिन्न प्रांतों में गवर्नर ने शासन कार्य अपने हाथ में ले लिया। भारतीय स्वतंत्रता तक इसी अधिनियम के अनुसार भारतीय प्रशासन का संचालन किया जाता रहा। स्वतंत्रता के बाद भारतीय प्रशासन स्वतंत्र भारत के संविधान द्वारा प्रारंभ हुआ।

केन्द्रीय सचिवालय का विकास

स्वतंत्र भारत में केन्द्रीय सचिवालय औपचारिक रूप से 30 जनवरी, 1948 को स्थापित हुआ, लेकिन मूल रूप से केन्द्रीय सचिवालय अन्य प्रशासनिक संस्थाओं की भांति ब्रिटिश शासनकाल की देन है। ब्रिटिश काल में इसे “इंपीरियल सेक्रेटैरिएट” कहा जाता था। ब्रिटिश साम्राज्य के समय भारत में प्रशासनिक एकता स्थापित करने में केन्द्रीय सचिवालय की विशेष भूमिका थी। समय के परिवर्तन के साथ जैसे जैसे सरकार का कार्यभार बढ़ता गया, विभागों की संख्या भी बढ़ती गई। 1919 से 1947 तक का काल केन्द्रीय सचिवालय में विभिन्न सुधारों के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहा। सन् 1919 की लिविलियन स्मिथ कमेटी के सुझाव पर -

1. विभागीय विषयों को पुनर्गठित किया गया।
2. लिखित आलेखों की प्रथा प्रारंभ की गई।
3. केन्द्रीकृत भर्ती की व्यवस्था आरंभ हुई
4. सचिवालय में प्रतिनियुक्ति व्यवस्था को सुदृढ़ किया गया।

1919 में पुनर्गठित सचिवालय में कुल 11 विभाग थे।

सन् 1936-37 में नियुक्त होने वाली व्हीलर समिति और मैक्सवेल समिति (संगठन तथा प्रक्रिया समिति) ने केन्द्रीय सचिवालय के संगठन और कार्य पद्धति में सुधार हेतु और भी सुझाव प्रस्तुत किए। आजादी के उपरांत गठित सरकार को कुछ ऐसी विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ा, जिनके परिणामस्वरूप केन्द्रीय सचिवालय का कार्यभार अत्यधिक हो गया। ये समस्याएं निम्नांकित थी - -

1. देश का विभाजन होने के कारण पाकिस्तान से आए शरणार्थियों को भारत में बसाना
2. जम्मू-कश्मीर में बाह्य आक्रमण की समस्या
3. रियासतों का भारतीय संघ में एकीकरण
4. आंतरिक सुरक्षा की समस्या

5. आवश्यक वस्तुओं के अभाव की समस्या

6. प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या में भारी मात्रा में कमी

कल्याणकारी राज्य की स्थापना से प्रेरित होने के कारण भी सरकार के कार्यभार में अत्यधिक मात्रा में बढ़ोत्तरी हुई, परिणामस्वरूप केन्द्रीय सचिवालय का कार्यभार बढ़ा 15 अगस्त, 1947 को जब सत्ता का हस्तांतरण हुआ तो केन्द्रीय सचिवालय में 19 विभाग थे जिनका फिर से पुनर्गठन एवं सुधार करने के लिए स्वतंत्र भारत की सरकार ने सर गिरिजा शंकर बाजपेयी की अध्यक्षता में सचिवालय पुनर्गठन समिति की स्थापना की। कालांतर में विभागों की संख्या बढ़ी जैसे 1978 में 69 विभाग और 2001 में 81 विभाग।

वित्तीय प्रशासन का विकास

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासक स्थापित होने के बाद प्रांतों को वित्त के संबंध में बहुत अधिक सीमा तक स्वतंत्रता दी गई, किन्तु 1833 के चार्टर अधिनियम के द्वारा वित्त का केन्द्रीकरण कर दिया गया। अधिनियम के द्वारा यह निश्चित किया गया कि किसी प्रांतीय सरकार को नए पद तथा नए वेतन भत्ते की स्वीकृति का अधिकार नहीं होगा, जब तक कि गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति न मिल जाए।

1833-1870 तक प्रांतीय सरकारों केन्द्र सरकार के अभिकर्ता के रूप में ही कार्य करती रहीं उन्हें कर लगाने अथवा उसे खर्च करने का कोई अधिकार नहीं था। सर्वप्रथम 1870 में वित्तीय विकेन्द्रीकरण की दिशा में लार्ड मेयो की सरकार द्वारा एक निश्चित योजना को अपनाया गया।

1. जिसके अंतर्गत जेलों, रजिस्ट्रेशन, पुलिस, शिक्षा, सड़कें, चिकित्सा सेवाएँ, छपाई आदि के व्यय की मदों तथा उनसे प्राप्त होने वाले राजस्व को प्रांतीय सरकारों के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दिया गया।

2. प्रांतों को कुछ निश्चित वार्षिक अनुदान देने की व्यवस्था की गई।

1877 में स्ट्रेची द्वारा प्रस्तावित नवीन योजना के अंतर्गत भूमि कर, स्थानीय चुंगी, स्टाम्प, स्टेशनरी, कानून व न्याय और सामान्य प्रशासन की कुछ व्यय मदें प्रांतीय सरकारों के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दी गई। वित्तीय विकेन्द्रीकरण की दिशा में 1882 में प्रस्तावित नई योजना के अनुसार राजस्व के समस्त साधनों को तीन भागों में विभक्त किया गया। केन्द्रीय, प्रांतीय व विभाजित

केन्द्रीय मदों से प्राप्त होने वाले राजस्व को केन्द्रीय नियंत्रण में तथा प्रांतीय राजस्व को प्रांतीय नियंत्रण में रखा गया। विभाजित मदों से प्राप्त होने वाली आय को केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के बीच बराबर बराबर बाटने का निश्चय किया गया। विकेन्द्रीकरण के संबंध में 1907 में चार्ल्स होब हाऊस की अध्यक्षता में एक शाही आयोग नियुक्त किया गया। आयोग ने सिफारिश की, कि गवर्नर जनरल को प्रांतीय राजस्व में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। 1919 के अधिनियम द्वारा प्रांतीय बजट केन्द्र सरकार से बिल्कुल पृथक कर दिए गए और प्रांतीय सरकारों को अपने बजट के निर्माण का पूर्ण अधिकार दिया गया। प्रांतों को पहली बार प्रांतीय या स्थानीय प्रकृति के कर लगाने का अधिकार मिला। 1935 के अधिनियम द्वारा प्रांतीय स्वायत्तता की व्यवस्था की गई और संघीय सरकार तथा प्रांतों के बीच तीन सूचियों के आधार पर न केवल कार्यों का वर्गीकरण किया गया, बल्कि वित्तीय साधनों का भी

विभाजन किया गया। संघ सरकार तथा राज्यों के पृथक पृथक आय साधन रखे गए। कुछ सीमा में प्रांतों को उधार लेने का अधिकार भी दिया गया। प्रांतों को अपना घाटा पूरा करने के लिए केन्द्र सरकार की ओर से निमेयर रिपोर्ट के अनुसार वित्तीय सहायता प्रदान की गई। निमेयर रिपोर्ट की इस बात को स्वीकार कर लिया गया, कि आयकर की भी आधी धनराशि प्रांतों में बांट दी जाए।

पुलिस प्रशासन का विकास

मुगल साम्राज्य के विघटन के उपरांत भारत में कानून-व्यवस्था की स्थिति बिगड़ती गई। पुलिस शक्ति क्षेत्रीय जमींदारों के हाथ आ गई। जब क्लाइव ने बंगाल की दीवानी प्राप्त की तो उसने प्रचलित प्रशासनिक व्यवस्था को बनाए रखा। वारेन हेस्टिंग्स ने भी पुलिस व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया। सर्वप्रथम कार्नवालिस ने एक संगठित पुलिस व्यवस्था की शुरुआत की। उसने थाना व्यवस्था का आधुनिकरण किया तथा प्रत्येक क्षेत्र में एक पुलिस थाने की स्थापना कर उसे एक दरोगा के अधीन रखा। जिला स्तर पर जिला पुलिस अधीक्षक के पद का सृजन किया गया। ग्राम स्तर पर चौकीदारों को पुलिस शक्ति दी गई। इस तरह आधुनिक पुलिस व्यवस्था की शुरुआत हुई।

सक्षम पुलिस व्यवस्था ने बहुत सारे उद्देश्य पूरे किए। मध्य भारत में ठगों का दमन, क्रांतिकारी षड्यंत्रों का पर्दाफाश तथा राष्ट्रीय आंदोलन को इसी पुलिस व्यवस्था के द्वारा कुचला गया। इसने भारतीय जनता के साथ क्रूर व्यवहार भी किया। 1813 ईस्वी में संसद की एक समिति ने रिपोर्ट दी कि पुलिस ने भारतीय जनता को डाकुओं की तरह प्रताड़ित किया है। वस्तुतः महत्वपूर्ण पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के मामले में ब्रिटिश कंपनी सतर्क रही। कार्नवालिस ने तो स्पष्ट रूप से भारतीयों को भ्रष्ट मान लिया एवं उन्हें उत्तरदायी पदों से दूर रखा। कुछ छोटे-छोटे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति अवश्य की गई, जैसे- अमीन एवं दरोगा। 1793 ईस्वी के बाद आधिकारिक नीति भारतीयों को महत्वपूर्ण पदों से वंचित करने की रही।

न्याय व्यवस्था का विकास

मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद मुगलकालीन न्याय व्यवस्था टूट गई। मुगलकाल के उत्तरार्द्ध में भूमि सुपुर्दगी प्रथा से समृद्ध भू-स्वामियों के हाथों में आ गई। न्यायिक शक्तियां भी भू-स्वामियों के हाथों में आ गई। बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के बाद क्लाइव ने प्रचलित व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। न्याय व्यवस्था में सुधार की दृष्टि से वारेन हेस्टिंग्स का काल महत्वपूर्ण है। भारत में ब्रिटिश न्याय प्रणाली की स्थापना इसी काल में हुई। ब्रिटिश न्याय प्रशासन भारतीय और ब्रिटिश प्रणालियों तथा संस्थाओं का सम्मिश्रण था। कानून के शासन तथा न्याय पालिका की स्वतंत्रता इस प्रणाली की विशेषता थी। वारेन हेस्टिंग्स ने सिविल तथा फौजदारी मामलों के लिए अलग-अलग अदालतें स्थापित की। उसने न्यायिक सुधार में मुगल व्यवस्था को ही आधार बनाया।

सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स ने सिविल अदालतों की शृंखला स्थापित की। सबसे नीचे मुखिया, फिर जिले में जिला दीवानी अदालत तथा सबसे ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी। इसी तरह फौजदारी अदालतों का पुनर्गठन किया गया। प्रत्येक जिले में एक फौजदारी अदालत स्थापित की गई, जो काजी, मुफ्ती एवं मौलवी के अधीन होती थी। इसके ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी।

कार्नवालिस के द्वारा उपरोक्त व्यवस्था में सुधार किए गए। उसके सुधारों में यूरोपीय तत्व प्रबल थे। कार्नवालिस ने शक्ति पृथक्करण सिद्धांत के अंतर्गत लगान प्रबंध से दीवानी प्रशासन को पृथक कर दिया। 1793 में कार्नवालिस

संहिता द्वारा कलेक्टर से न्यायिक एवं फौजदारी शक्तियां लेली गईं। जिला अदालतों के लिए श्रेणी निर्धारित की गई तथा दीवानी अदालतों का पुनर्गठन हुआ। फौजदारी अदालतों की भी नई शृंखला बनाई गई। इसके अतिरिक्त विचारधारा से प्रेरित होने के कारण दंड-संहिता में परिवर्तन किया। विलियम बैंटिक के शासनकाल में उपयोगितावादी विचार धारा से प्रेरित होने के कारण दंड विधान की कठोरता को कम करने का प्रयत्न किया गया। कुछ महत्वपूर्ण न्यायिक पदों पर भारतीयों को नियुक्त किया गया। 1859 से 1861 के बीच दंड विधि, सिविल कार्य विधि तथा दंड प्रक्रिया पारित की गई। इन सुधारों में संपूर्ण भारत के लिए एक ही विधि प्रणाली लागू की गई। 1861 में भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम पारित हुआ तथा कलकत्ता एवं मद्रास में उच्च न्यायालय की स्थापना की गई। आगे लाहौर, पटना आदि स्थानों पर भी उच्च न्यायालय स्थापित हुए।

1935 के भारत शासन अधिनियम के आधार पर एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गई। इस न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा सरकार द्वारा नियुक्त अन्य न्यायाधीश होते थे। न्यायालय के क्षेत्र में प्रारंभिक एवं अपीलीय तथा परामर्श संबंधी विषय थे। प्रांतीय न्यायालयों को दीवानी, आपराधिक, वसीयती, गैर वसीयती और वैवाहिक क्षेत्राधिकार मौलिक एवं अपीलीय दोनों प्रकार के प्राप्त थे।

अभ्यास प्रश्न -

1. रेग्यूलेटिंग एक्ट कब पारित हुआ।
2. पिट्स इंडिया एक्ट कब पारित हुआ।
3. सन् में ईस्ट इंडिया कंपनी का भारत में आगमन हुआ
4. 1919 के अधिनियम को किस नाम जाना जाता है।
5. केन्द्रीय स्तर पर द्विसदनीय व्यवस्थापिका की स्थापना किस अधिनियम से हुई।
6. अशोक ने किस शिलालेख में घोषणा की "कि सारी प्रजा मेरी संतान है"।
7. अर्थशास्त्र के लेखक कौन है ?
8. मेगस्थनीज की पुस्तक का क्या नाम है ?

6.4 सारांश

इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन के पश्चात् आप यह जानने और समझने में सक्षम हो गये होंगे कि किस प्रकार से भारतीय प्रशासन प्राचीन मौर्य काल से अपनी विकास की यात्रा शुरू करके मुगल काल से होते हुए ब्रिटिश काल तक की यात्रा पूर्ण की है। इस अध्ययन में आप ने यह देखा कि मौर्य साम्राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक था जिसमें शासन का प्रधान राजा होता था। राजपद एक महत्वपूर्ण पद होगया और इस पद की शक्ति एवं अधिकार बढ़ गए। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियां भी थीं। राजा की खुशी प्रजा की खुशी पर निर्भर करती थी। जनकल्याण पर राजा का कल्याण आश्रित था। राज्य में रहने वाले लोगों के हितों का संपादन ही राजा का प्रमुख कर्तव्य था। प्रशासन के शीर्ष पर बादशाह होता था। वह सभी प्रकार के सैनिक एवं असैनिक मामलों का प्रधान होता है था। बादशाह मुगल साम्राज्य

के प्रशासन की धुरी था बादशाह की उपाधि धारण करता था, जिसका आशय था कि राजा अन्य किसी भी सत्ता के अधीन नहीं है। वह समस्त धार्मिक तथा धर्मोत्तर मामलों में अंतिम निर्णायक व अंतिम सत्ताधिकारी है। वह सेना, राजनीतिक, न्याय आदि का सर्वोच्च पदाधिकार है। वह संपूर्ण सत्ता का केन्द्र है तथा खुदा का प्रतिनिधि है। इसके बाद भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कंपनी के रूप में ईस्ट इंडिया कंपनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कंपनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय प्रशासन के विविध पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

6.5 शब्दावली

राजतंत्र - राजतंत्र वह शासन है जिसमें शासन का प्रधान राजा होता है। राजा, राज्य का प्रमुख होता था। जिसके पास कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के अधिकारों के साथ वित्तीय शक्तियां निहित हों।

सद्र-उस-सूद्र - यह बादशाह का मुख्य धार्मिक परामर्शदाता होता था। यह धार्मिक अनुदानों को नियंत्रित करता था। साथ ही यह धार्मिक मामलों से संबंधित मुकदमों में भी देखता था।

मुख्य काजी - मुगल काल में यह न्याय विभाग का प्रधान होता था।

जागीरदारी प्रथा - मुगल काल में राजपूत जमींदारों के माध्यम से भू-राजस्व संग्रह करने की प्रथा, जो सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली थे और जाति, गोत्र के आधार पर विभाजित थे। अकबर मनसबदारों का वेतन नकद में देना चाहता था किन्तु उस समय के कुलीन वर्ग को भू-संपत्ति से जबर्दस्त आकर्षण था। इसलिए जागीरदारी प्रथा के अंतर्गत कुछ अधिकारियों को जागीर में वेतन दिया जाता था।

इक्तादारी और जागीरदारी प्रथा - दिल्ली सल्तनत काल में इक्तादारी पद्धति प्रचलित थी और इक्ता के मालिक इक्तादार कहे जाते थे। इक्तादारी पद्धति भी कृषकों से अधिशेष प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण जरिया था किन्तु इक्ता और जागीर में एक महत्वपूर्ण अंतर यह था कि इक्ता में भूमि का आबंटन होता था जबकि जागीर में भू-राजस्व का आबंटन होता था। जागीरदारी व्यवस्था और इक्तादारी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंतर यह भी था कि जागीरदारों को केवल भू-राजस्व की वसूली का अधिकार दिया गया था संबंधित क्षेत्र के प्रशासन का नहीं।

6.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1773 2. 1784 3. 1600 4. मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड 5. मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड 6. धौली शिलालेख 7. कौटिल्य 8. इंडिका

6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

भारतीय संविधान	-	ब्रज किशोर शर्मा
भारतीय लोक प्रशासन	-	बी.एल. फड़िया
भारतीय लोक प्रशासन	-	अवस्थी एवं अवस्थी

6.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

भारतीय संविधान	-	डी.डी. बसु
भारतीय लोक प्रशासन	-	एस.सी. सिंहल

6.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश काल में भारतीय प्रशासन के विकास पर निबंध लिखिए।
2. मुगल प्रशासन, केन्द्रीय प्रशासन था। स्पष्ट कीजिए।
3. मौर्य प्रशासन में राजा पर कर्तव्य का अंकुश था। व्याख्या कीजिए।

इकाई 7 : भारतीय प्रशासन की विशेषताएँ

इकाई की संरचना

- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 उद्देश्य
- 7.3 स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदाई कारण
- 7.4 भारतीय प्रशासन की विशेषताएँ
 - 7.4.1 गतिशील प्रशासन
 - 7.4.2 विकास प्रशासन
 - 7.4.3 उत्तरदायी प्रशासन
 - 7.4.4 नौकरशाही एवं लालफीताशाही
 - 7.4.5 प्रशासन की तटस्थता
 - 7.4.6 सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ
 - 7.4.7 प्रशासन की बढ़ती हुई शक्तियाँ
 - 7.4.8 प्रशासन का लक्ष्य सामाजिक – आर्थिक न्याय
 - 7.4.9 समन्वित प्रशासन
- 7.5 सारांश
- 7.6 शब्दावली
- 7.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 7.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 7.10 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

इसके पहले इकाई 6 के अध्ययन के पश्चात आप यह जानने और समझने में सक्षम हो गये होंगे कि किस प्रकार से भारतीय प्रशासन प्राचीन मौर्य काल से अपनी विकास की यात्रा शुरू करके मुगल काल से होते हुए ब्रिटिश काल तक की यात्रा पूर्ण की है। भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के साथ ब्रिटिश प्रशासन के बीज पड़े। सन् 1600 में एक व्यापारिक कंपनी के रूप में ईस्ट इंडिया कंपनी का भारत में आगमन हुआ, किन्तु देखते ही देखते यह कंपनी और इसके माध्यम से ब्रिटिश संसद का भारत पर साम्राज्य स्थापित हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय प्रशासन के विविध पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

इस इकाई में हम भारतीय प्रशासन की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे, जिसमें हम स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदाई कारणों का अध्ययन करते हुए संसदीय लोकतंत्र, संघात्मक शासन, स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन की बदलती प्रकृति (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन) का अध्ययन करेंगे। साथ ही यह भी देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय संविधान, समाजवादी और पंथनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है। और अंततः हम यह अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार भारतीय प्रशासन, गतिशील प्रशासन है, विकास प्रशासन है, उत्तरदायी प्रशासन है और राजनीतिक उथल-पुथल से अपने को अलग रखते हुए सामाजिक-आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समन्वित रूप से कार्य कर रहा है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हम

1. स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदाई कारणों को जान सकेंगे।
2. भारतीय प्रशासन की विशेषताओं को जान सकेंगे।
3. संसदीय लोकतंत्र की स्थापना के उद्देश्यों को जान सकेंगे।
4. संघात्मक शासन और उसकी स्थापना के कारणों को जान सकेंगे।

7.3 स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदायी कारण

जैसाकि हम जानते हैं कि 15 अगस्त 1947 को हमारे देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। देश को आजादी मिलने के साथ ही उन सपनों को साकार करने के लिए भी प्रयास शुरू किये जाने लगे, जिनको लक्ष्य मानकर आजादी के दीवानों ने संघर्ष किया था। लेकिन उन सपनों को साकार करने के लिए यह आवश्यक था कि, उसके अनुरूप प्रशासनिक तंत्र का निर्माण किया जाए साथ ही साथ इस नवनिर्मित प्रशासनिक तंत्र के लक्ष्य भी स्पष्ट किये जाए। स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई कारण उत्तरदायी थे जो निम्नलिखित हैं –

1. संसदीय लोकतंत्र की स्थापना

स्वतंत्रता के पश्चात देश में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गई। आजादी के पूर्व कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थी, वह केवल ब्रिटिश आकाओं के प्रति ही उत्तरदायी थी। परन्तु संसदीय लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही कार्यपालिका को विधायिका के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। कार्यपालिका का अर्थ मंत्रिमंडल से है, जबकि विधायिका का तात्पर्य कानून निर्माण करने वाली संस्था संसद से है। कार्यपालिका का

गठन संसद के सदस्यों में से किया जाता है और कार्यपालिका के गठन का अवसर उस दल को मिलता है जिसे संसद के निम्न सदन में बहुमत प्राप्त होता है। संसद के निम्न सदन में जनप्रतिनिधि होते हैं जो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनकर आते हैं। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि कार्यपालिका अपने अस्तित्व के लिए जनप्रतिनिधियों के बहुमत के साथ समर्थन पर निर्भर करती है, और ये जनप्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार अब प्रशासन, ब्रिटिश शासन के विपरीत, जनता के प्रति उत्तरदायी है।

2.संघात्मक शासन की स्थापना

ब्रिटिश शासन के समय हमारे देश में एकात्मक शासन था जिसमें एक केंद्र से शासन संचालित किया जाता था। जब कि हमारे देश में भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं, इन भिन्नताओं के साथ इनकी समस्याएँ भी भिन्न प्रकृति की होती हैं, इस लिये इनका स्थानीय स्तर पर बेहतर समाधान किया जा सकता है। इस लिए शक्ति विभाजन के सिद्धांत के आधार संघात्मक शासन की स्थापना की गई। जो, सामाजिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं को बनाए रखने के साथ ही उनकी समस्याओं के स्थानीय स्तर पर समाधान संभव हो सका।

3.प्रशासन की प्रकृति में परिवर्तन (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन)

जैसा कि यह सर्वविदित है कि भारतीय संविधान में उन लक्ष्यों और उद्देश्यों का स्पष्ट प्रावधान किया गया है, जिनकी सिद्धि के लिए प्रशासन को कार्य करना है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि स्वतंत्रता के पहले हमारे देश का प्रशासन नियामकीय प्रकृति का था, दूसरे शब्दों में प्रशासन के कार्य मुख्यतः नियामकीय थे अर्थात् प्रशासन का मुख्य कार्य कानून और व्यवस्था बनाये रखना था। जिससे अंग्रेज शासन को अपने लक्ष्यों की सिद्धि में अनवरत सहूलियत बनी रहे।

परन्तु स्वतंत्रता के उपरान्त संविधान निर्माताओं ने, स्पष्ट रूप से उन लक्ष्यों का प्रावधान किया जिनको ध्यान में रखकर प्रशासन को संचालित किया जाना था। पहले प्रशासन जनता पर अपना दबाव बनाकर कार्य करता था, जनता के कोई मौलिक अधिकार नहीं थे, जनता का यह दायित्व था कि प्रशासन के निर्देशों का पालन करता रहे। किन्तु आजादी के बाद अब प्रशासन जनता के लिए काम करता है क्यों कि जिसकी हम आप को ऊपर बता चुके हैं कि हमारे देश में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गयी। जिसमें सरकार जनता द्वारा निर्वाचित होती है और जनता के लिए काम करती है, इस लिए अब प्रशासन जनता के दबाव में काम करता है। संविधान के द्वारा मौलिक अधिकारों का प्रावधान किया गया। ये वे अधिकार हैं जो राज्य और व्यक्तियों के विरुद्ध प्रदान किये गए हैं। अर्थात् इन अधिकारों के उल्लंघन होने पर चाहे वे व्यक्ति के द्वारा हों या राज्य के द्वारा हों, व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अनुच्छेद ३२ के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय और अनुच्छेद २२६ के तहत उच्च न्यायालय में जा सकता है।

इसी के साथ – साथ संविधान के भाग ४ में नीतिनिदेशक तत्वों का उपबंध भी करके राज्य को कुछ कल्याणकारी दायित्व भी सौंपे गए, जिनको लागू करने की जिम्मेदारी प्रशासन की है।

4.समाजवादी और पंथनिरपेक्ष राज्य –

हमारे मूल संविधान में समाजवादी और पंथनिरपेक्ष शब्द का समावेश नहीं किया गया था | 42 वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा इनका समावेश संविधान में किया गया | इन शब्दों के समावेश से प्रशासन के लक्ष्यों में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया | इसको और अधिक स्पष्ट करने के ले इनके अर्थ को भी स्पष्ट करना आवश्यक है | समाजवाद का तात्पर्य है कि राज्य लोगों के बीच आय की असमानताओं को न्यूनतम करने प्रयास करेगा | पंथनिरपेक्ष का अर्थ –राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं होगा ,इसका तात्पर्य यह भी है कि राज्य सभी धर्मों के साथ समान वर्ताव करेगा ,किसी के साथ किसी भी प्रकार का पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं करेगा | यद्यपि इन शब्दोंके संविधान में समावेश के पूर्व भी ऐसे लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रावधान थे | इन उपबंधों से प्रशासन की जिम्मेदारी में आमूलचूल परिवर्तन आया है |

7.4 भारतीय प्रशासन की विशेषताएँ

इस प्रकार से स्वतंत्रता के उपरांत भारतीय प्रशासन के उद्देश्यों और लक्ष्यों में अभूतपूर्व परिवर्तन आया है | इस परिवर्तन के कारण भारतीय प्रशासन में निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं ,जो इस प्रकार हैं ---

7.4.1 गतिशील प्रशासन

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं कि आजादी के बाद प्रशासन के उद्देश्यों और लक्ष्यों में आमूलचूल परिवर्तन देखने को मिल रहा है | आज प्रशासन जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बन गया है | समय के बदलाव के साथ नित्य नई आवश्यकताएं और समस्याएं पैदा होती रहती है | इन आवश्यकताओं की पूर्ति और समस्याओं के समाधान हेतु प्रशासन को निरंतर तत्पर रहना होता है | और बदलती परिस्थितियों के अनुरूप अपने ढालते रहना है | क्योंकि अब प्रशासन जनता के स्वामी के रूप में नहीं वरन सेवक के रूप में कार्य कर रहा है |

7.4.2 विकास प्रशासन

विकास प्रशासन एक परिवर्तनशील अवधारणा है | जो निरंतर सामाजिक,राजनीतिक ,आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को लाने के लिए प्रयत्नशील है ,साथ ही इन परिवर्तनों को सकारात्मक दिशा देने का भी कार्य कर रहा है | इसका सम्बन्ध योजना के निर्माण ,इसके निर्माण हेतु आवश्यक पूर्वआवश्यकताओं की पूर्ति से भी सम्बन्ध रखता है | विकास प्रशासन का सम्बन्ध नीतियों के कार्यान्वयन से है | इसलिए सरकार के जनकल्याणकारी और सशक्तिकरण संबंधी नीतियों के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी भी इसी पर होती है |

7.4.3 उत्तरदायी प्रशासन

संसदीय शासन की एक प्रमुख विशेषता ,उत्तरदायी शासन की स्थापना | चूंकि हमारे देश में संसदीय शासन में निम्न सदन(लोक सभा) के सदस्यों का चुनाव जनता के द्वारा ,प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है |मंत्रिपरिषद का गठन संसद के सदस्यों में से ही किया जाता है |मंत्रिपरिषद के सदस्य सम्बंधित विभाग के अध्यक्ष(राजनीतिक प्रमुख) होते है | इस लिए अपने विभाग के कार्यों के लिए ,वे जनता के प्रति उत्तरदायी होती हैं |

7.4.4 नौकरशाही एवं लालफीताशाही

हमारे देश में नौकरशाही का एक विस्तृत ढांचा विद्यमान है ,जो नीति निर्माण में सहयोगी भूमिका से लेकर ,नीति के क्रियान्वयन तक के कार्यों में सक्रिय रहती है | परन्तु यह नौकरशाही अपने दायित्वों के निर्वहन में नियम -

कानून और प्रक्रिया पर ज्यादा जोर देती दिखायी देती है, जिससे ये नियम - कानून और प्रक्रिया पर ज्यादा जोर देना ही साध्य के रूप में दिखायी देने लगता है, जिससे लालफीताशाही का दोष प्रशासन में उभरकर सामने आता है।

7.4.5 प्रशासन की तटस्थता

भारतीय प्रशासन की एक और महत्वपूर्ण विशेषता इसकी राजनीतिक तटस्थता | अर्थात् लोकसेवक अपने सार्वजनिक जीवन में राजनीतिक अभिव्यक्तियों अर्थात् राजनीतिक विचारों और व्यवहारों से सर्वथा दूर रखता है | इसका परिणाम यह होता है कि प्रशासनिक अधिकारी विना किसी दलीय निष्ठा के, पूर्वाग्रह से मुक्त होकर अपने दायित्वों का निर्वहन करता है | सरकार चाहे किसी भी दल की हो, उसका सम्बन्ध केवल नीतियों के निष्पक्ष क्रियान्वयन से होता है, न कि दलीय भावना से | इस तरह के राजनीतिक तटस्थता के लिए लोक सेवकों हेतु भारतीय संविधान में उपबंध किये गए हैं

7.4.6 सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ

आजादी के बाद सामान्य रूप से प्रशासन में सामान्यज्ञों की नियुक्ति होती थी किन्तु उसके बाद के समय में विभिन्न प्रकार की जरूरतों को पूरा करने के लिए विशेषज्ञों की भी नियुक्ति की जाने लगी | जैसे डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, कृषि वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, विधिवेत्ता आदि |

7.4.7 प्रशासन की बढ़ती हुई शक्तियाँ

स्वतन्त्रता के पूर्व प्रशासन की प्रकृति नियामकीय थी, जिसका प्रमुख लक्ष्य कानून और व्यवस्था बनाए रखना था | परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात संसदीय लोकतंत्र की स्थापना की गई, जिसमें सरकार जनता की भलाई के लिए कार्य करती है, न कि अपने लाभ के लिए जैसा कि अंग्रेज शासन काल में हुआ करता था | स्वतन्त्रता के पश्चात संविधान निर्माताओं ने, मूलभूत सामाजिक आर्थिक लक्ष्यों की घोषणा की है | इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नियोजन प्रक्रिया प्रारम्भ की गई | इस कारण से प्रशासन की शक्तियों में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी है | नित्य नवीन कल्याणकारी योजनाएं लागू की जा रही हैं, इनको लागू करने की जिम्मेदारी प्रशासन पर ही होती है | इसके साथ ही साथ अब तो सशक्तिकरण से सम्बंधित नीतियां भी लागू की जा रही हैं जिससे समाज में अब तक हासिए पर रहे समुदायों को भी, समाज की मुख्य धारा से जोड़ा जा सके | यदि इन सब बातों को हम संक्षेप में कहें तो यह है कि व्यक्ति के जन्म से पूर्व माँ के स्वास्थ्य, जन्मोपरान्त - जन्म प्रमाणपत्र, बच्चे के स्वास्थ्य, पोषण, नाना प्रकार के टीके, जनगणना, उसकी शिक्षा, रोजगार, विवाह पंजीकरण, वृद्धावस्था में उनके हित में विभिन्न प्रकार के सामाजिक सुरक्षा संबंधी कार्यक्रम, और अंततः मृत्यु पंजीकरण और इसी प्रकार से अन्य जो भी लोकहित में आवश्यक कार्य हों प्रशासन के द्वारा ही किये जाते हैं | लोकतंत्र में प्रशासन की बढ़ती जिम्मेदारियों ने उसकी शक्तियों में भी अभूतपूर्व वृद्धि कर दी है |

7.4.8 प्रशासन का लक्ष्य सामाजिक - आर्थिक न्याय

लंबे संघर्ष के पश्चात देश को आजादी मिली थी | जिसका उद्देश्य देशवासियों को उन सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों से सुसज्जित करना जिनसे अभी तक वे वंचित रहे हैं | क्यों कि परम्परागत भारतीय समाज में कुछ सामाजिक और आर्थिक नियोग्यताएं प्रचलित थी | जैसे अशुभ्यता (छुआ - छूत), व्यवसाय की नियोग्यताएं आदि | हमारे संविधान में एक तरफ तो इन नियोग्यताओं को समाप्त किया गया तो दूसरी तरफ, संविधान के द्वारा

देशवासियों को विभिन्न प्रकार के सामाजिक और आर्थिक अधिकार प्रदान किये गए जिससे वे सम्मान पूर्वक अपना जीवन यापन कर सकें। इस प्रकार के व्यापक उपबंध हमारे संविधान भाग ३ में मूलाधिकार और भाग 4 के नीति निदेशक तत्वों में किये गए हैं।

7.4.9 समन्वित प्रशासन –

हमारे देश में भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधताएं हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए संविधान निर्माताओं ने संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया। जिसकी मुख्य विशेषता – लिखित, निर्मित और कठोर संविधान, संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच शक्तियों का विभाजन, संविधान की व्याख्या, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा और संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का निराकरण करने के लिए स्वतन्त्र, निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना। इसके साथ ही साथ मजबूत केंद्र की स्थापना के लिए एकात्मक शासन के मुख्य प्रावधानों को भी सम्मिलित किया गया। ऐसा इस लिए किया गया क्योंकि देश, स्वतंत्रता के समय दुखद विभाजन को देख चुका था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए संघ और राज्य के लिए सम्मिलित सेवाओं का प्रावधान किया गया, जिसे अखिल भारतीय सेवा कहते हैं। जिसमें तीन अखिल भारतीय सेवा हैं- 1. भारतीय प्रशासनिक सेवा 2. भारतीय पुलिस सेवा 3. भारतीय वन सेवा। इन सेवाओं का उद्देश्य केंद्र और राज्य के बीच सहयोग को निरंतर प्रोत्साहित करना, जिससे राष्ट्र निर्माण का कार्य सफलता पूर्वक किया जा सके और कल्याणकारी और सशक्तिकारक नीतियों को भी सफलतापूर्वक लागू किया जा सके। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि केंद्र सरकार के पास अपना कोई अलग प्रशासनिक तंत्र नहीं है अपितु केंद्र की नीतियों को भी सफलतापूर्वक लागू करने में राज्य के प्रशासनिक तंत्र से सहयोग लिया जाता है।

भारतीय प्रशासन की उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही साथ इसके कुछ अन्य पक्षों का भी अध्ययन करना आवश्यक होगा जो कि, इनमें प्रायः दिखाई देता है ---

1. पिछले कुछ वर्षों में यह तथ्य उभरकर सामने आया है कि प्रशासनिक अधिकारियों के अपने दायित्वों के निर्वहन में, राजनीतिक हस्तक्षेप दिखाई दे रहा है, परिणामस्वरूप प्रशासकों में निराशा की भावना प्रबल होती दिखाई देती है। राजनीति में अपराधीकरण बहुत ही चिंता का विषय है, यदि इसके निराकरण हेतु कोई संस्थागत उपाय और उन उपायों का समुचित क्रियान्वयन का प्रबंध करना उपयोगी होगा।

2. कल्याणकारी योजनाओं, विकास कार्यों और सशक्तिकारक नीतियों के क्रियान्वयन में जनता की सक्रीय भागीदारी नहीं हो पाती है जिसके फलस्वरूप नीतियों और कार्यक्रमों की सफलता संदिग्ध हो जाती है। इसका प्रमुख कारण प्रशासन के द्वारा जनता को साथ लेकर न चलने की प्रवृत्ति है। इस लिए आवश्यकता इस बात की है प्रशासन को जनता के प्रति संवेदनशील बनाया जाये, और प्रशासकों को भी नियत अंतराल पर नियमित प्रशिक्षण कार्यक्रम संचालित किये जाते रहें। साथ ही जिस क्षेत्र और जिस समुदाय विशेष के लिए नीति का निर्माण किया जाना है, उसकी भी नीति निर्माण में भागीदारी सुनिश्चित करने के उपाय किये जाने चाहिए।

3. देश को आजाद हुए छ : दशक से अधिक हो चुके हैं, परन्तु आज भी समाज का ढांचा सामंतवादी ही दिखाई देता है, फलस्वरूप बहुत से कार्यक्रमों का लाभ आम आदमी तक नहीं पहुँच पाता है। जिसकी चर्चा हमारे एक

पूर्व प्रधानमंत्री कर चुके हैं, जिसमें उन्होंने यहाँ तक कहा कि गाँव के लिए भेजे गए एक रुपये में, मात्र 15 पैसे ही उन तक पहुँच पाता है। इस लिए आवश्यकता इस बात की है कि इस तरह की सुविधाएं देश के आम आदमी तक पहुँचे, इसके लिए सामाजिक अकेक्षण जैसे उपायों के साथ, इस प्रकार के अन्य उपायों को भी अपनाने पर जोर दिया जाना चाहिए।

4. वोहरा समिति (1995) ने अपने प्रतिवेदन में राजनीतिज्ञों, प्रशासकों और माफियाओं के बीच संबंधों को उजागर करके यह स्पष्ट कर दिया कि अधिकतर योजनाएं आम आदमी के नाम से संचालित तो हो रही हैं परन्तु उनका वास्तविक लाभ लक्षित व्यक्ति और समूह तक नहीं पहुँच पा रहा है।

अभ्यास प्रश्न

1. 15 अगस्त 1947 को हमारे देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। सत्य / असत्य
2. संसद के निम्न सदन के जनप्रतिनिधि, जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनकर आते हैं। सत्य / असत्य
3. शक्ति विभाजन के सिद्धांत के आधार संघात्मक शासन की स्थापना की गई है।
4. मूल अधिकारों के उल्लंघन होने पर व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अनुच्छेद 32 के अनुसार सर्वोच्च न्यायलय और अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायलय में जा सकता है। सत्य / असत्य
5. संविधान के भाग 4 में नीतिनिदेशक तत्वों का उपबंध किया गया है। सत्य / असत्य
6. पंथनिरपेक्ष शब्द का समावेश नहीं किया गया था। सत्य / असत्य
7. 42 वें संवैधानिक संशोधन 1976 के द्वारा समाजवादी, पंथनिरपेक्ष और अखंडता का समावेश संविधान किया गया। सत्य / असत्य
8. संविधान भाग 3 में मूलाधिकारों का प्रावधान किया गया है। सत्य / असत्य

7.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमने स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन के लिए कई उत्तरदाई कारणों का अध्ययन किया जिसमें संसदीय लोकतंत्र, संघात्मक शासन, स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन की बदलती प्रकृति (प्रशासन के लक्ष्यों और उद्देश्यों में परिवर्तन) का अध्ययन किया है साथ ही यह भी अध्ययन किया कि किस प्रकार भारतीय संविधान, समाजवादी और पंथनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है। और अंततः हमने यह अध्ययन किया कि, किस प्रकार भारतीय प्रशासन, गतिशील प्रशासन है, विकास प्रशासन है, उत्तरदायी प्रशासन है और राजनीतिक उथल-पुथल से अपने को अलग रखते हुए सामाजिक - आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समन्वित रूप से कार्य कर रहा है। साथ ही यह भी देखा कि किस प्रकार से प्रशासन में लालफीताशाही के दुर्गुण उभरे हैं, जिसमें सामाजिक - आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपनाई जाने वाली प्रक्रिया को इतना महत्व देते दिखाई देते हैं कि, लक्ष्य गौण हो जाते हैं।

परन्तु बावजूद इसके स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय प्रशासन ने सामाजिक - आर्थिक न्याय की स्थापना के मार्ग पर चलने का अच्छा प्रयास किया है किन्तु बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालकर जन आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

7.6 शब्दावली

संसद – भारत में कानून निर्माण की सर्वोच्च संस्था है, जो राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोक सभा से मिलकर बनती है।

संघात्मक शासन – स्थानीय स्वायत्तता के साथ राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा को ध्यान में रखकर स्थापित की जाने वाली शासन व्यवस्था है, जिसकी प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं 1. शासन के तीनों अंगों में शक्ति विभाजन 2. लिखित निर्मित और कठोर संविधान ३. स्वतन्त्र, निष्पक्ष सर्वोच्च न्यायालय |

समाजवादी – भारत के सन्दर्भ में इसका अर्थ यह है कि –राज्य लोगों के बीच आर्थिक असमानताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करेगा |

पंथनिरपेक्ष- इसका अर्थ है कि राज्य का अपना कोई राजधर्म नहीं होगा, और वह सभी धर्मों को समान रूप से संरक्षण प्रदान करेगा

7.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

सत्य 2 सत्य 3. सत्य 4. सत्य 5. सत्य 6. सत्य 7. सत्य 8. सत्य

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

भारतीय लोक प्रशासन	-	बी.एल. फड़िया
भारतीय लोक प्रशासन	-	अवस्थी एवं अवस्थी

7.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

भारतीय संविधान	-	डी.डी. बसु
भारतीय लोक प्रशासन	-	एस.सी. सिंहल

7.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय प्रशासन के विशेषताओं की विवेचना कीजिये
2. स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय प्रशासन की प्रकृति में परिवर्तन के कारणों को स्पष्ट कीजिये

इकाई 8 : भारतीय प्रशासन का सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक व संवैधानिक पर्यावरण

इकाई की संरचना

- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 उद्देश्य
- 8.3 भारतीय प्रशासन का पर्यावरण
 - 8.3.1 भारतीय प्रशासन: सांस्कृतिक पर्यावरण
 - 8.3.2 भारतीय प्रशासन :सामाजिक पर्यावरण
 - 8.3.3 भारतीय प्रशासन: राजनीति पर्यावरण
 - 8.3.4 भारतीय प्रशासन: आर्थिक पर्यावरण
 - 8.3.5 भारतीय प्रशासन: संवैधानिक पर्यावरण
- 8.4 सारांश
- 8.5 शब्दावली
- 8.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 8.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 8.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 8.9 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

पर्यावरण दो शब्द परि और आवरण से मिलकर बना है। जिसका शब्दिक अर्थ हैं चारो ओर घिरा हुआ। सामाजिक विज्ञान में पर्यावरण का स्वरूप प्राकृतिक विज्ञान के जैविकिय एवं अजैविकिय संघटनों से भिन्न है। यद्यपि लोकप्रशासन में पर्यावरण या परिवेश अथवा परिस्थिति के अध्ययन का विचार वनस्पति विज्ञान से ग्रहण किया गया है। परन्तु तात्विक रूप से दोनों में भिन्नता है।

डा० एम० पी० शर्मा के अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवस्था में पर्यावरण का अर्थ होता है संस्थान, इतिहास, विधि, आचार शास्त्र, दर्शन, धर्म, शिक्षा, परम्परा, विश्वास, मूल्य, प्रतीक, पौराणिक गाथाएं आदि जिसमें भौतिक एवं अभौतिक नाचने गाने तथा अन्य प्रकार के मनोरंजन और कलाएं सम्मिलित है।

जबकि जीव विज्ञान में पर्यावरण से तात्पर्य सृष्टि के छोटे बड़े सभी जीवधारियों और प्रकृति के समस्त अजैविक तत्वों का समाहार है। जो जीवित प्राणियों के अस्तित्व जीवन ओर पुनरूत्पादन को प्रभावित करते है।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से हम यह जान सकेंगे कि

1. भारतीय प्रशासन में पर्यावरण का क्या तात्पर्य है।
2. किस प्रकार से भारतीय प्रशासन सांस्कृतिक, पर्यावरण से प्रभावित होता है।
3. किस प्रकार से भारतीय प्रशासन सामाजिक, पर्यावरण से प्रभावित होता है।
4. किस प्रकार से भारतीय प्रशासन, राजनीतिक पर्यावरण से प्रभावित होता है।
5. किस प्रकार से भारतीय प्रशासन आर्थिक पर्यावरण से प्रभावित होता है।
6. किस प्रकार से भारतीय प्रशासन संवैधानिक पर्यावरण से प्रभावित होता है।

8.3 भारतीय प्रशासन का पर्यावरण

सन् 1961 में एफ. डब्ल्यू. रिम्स की पुस्तक 'द इकोलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक ने इस क्षेत्र में तहलका मचा दिया। इस पुस्तक में लोक प्रशासन तथा पर्यावरण के बीच परस्पर क्रिया को तुलनात्मक ढंग से समझने का प्रयास किया गया था। रिम्स के अतिरिक्त जॉन एम. ग्रास, संवर टफल, रास्को पार्तिन आदि विद्वानों ने लोक प्रशासन में पर्यावरण के अध्ययन को व्यापक विस्तृत बनाया है। आज जब राज्य का स्वरूप प्रशासनिक हो गया है। किसी भी संस्थान या संगठन के विस्तृत विवेचन हेतु पर्यावरण का अध्ययन एवं विवेचन आवश्यक हो गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि लोक प्रशासन कई तत्वों से प्रभावित होता है जैसे सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिवेश। लोक प्रशासन समाज विज्ञान के अन्तर्गत है। इसे समझने के लिए देश में चारों ओर होने वाली घटनाओं का अध्ययन आवश्यक है। अब लोक प्रशासन के विषय के अन्तर्गत यहां भारतीय प्रशासन के संदर्भ पर्यावरण की चर्चा करेंगे।

8.3.1 भारतीय प्रशासन सांस्कृतिक, पर्यावरण

संस्कृति शब्द मूल रूप से संस्कृत भाषा का शब्द है। संस्कृति अंग्रेजी भाषा के कल्चर शब्द का रूपान्तरण है। कल्चर शब्द लैटिन भाषा के कलचुरा तथा कोलियर शब्द से बना है जिसका अर्थ है उत्पादन और परिष्कार। अतः संस्कृति के अंतर्गत समुदाय के रहन सहन, खानपान, जीवन शैली, बौद्धिक उपलब्धियों एवं जीवन दर्शन आते हैं। जी. ई. ग्लैडन ने अपनी पुस्तक 'डायनामिक ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' में लोक प्रशासन और संस्कृति पर्यावरण के संबंधों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि यदि प्रशासनिक संस्कृति रूपान्तरण के कारण हुई प्रगति से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती तो सामाजिक असंतोष हिंसा से सामाजिक ढांचा अंततः ध्वस्त हो जायेगा। सामाजिक संस्कृति की अनुकूलन क्षमता ही प्रशासन में लोक सामंजस्य और व्यवस्था बनाये रखने में प्रमुख भूमिका निभाती है।

भारतीय संस्कृति के विषय में एक चिर परिचित और प्रिय उक्ति है। 'भारतीय संस्कृति में अनेकता में एकता का समावेश है। भारतीय संस्कृति की धारा का मूल स्रोत वैदिक धर्म है। यही सनातन धर्म के नाम से विख्यात है। यह भी सत्य है कि वैदिक आर्य और उनकी संस्कृति अपनी पूर्ववर्ती सिन्धु संस्कृति से भी प्रभावित रही है। भारतीय संस्कृति की धारा में निरन्तरता प्रवाहता सदैव बनी रही। मध्यकाल में इस्लामिक संस्कृति आगमन व ईसाई संस्कृति इसे अवरूद्ध ना कर सकी। बल्कि इसकी अपनी अमरता ने परिष्कृत ही किया है। मध्यकाल के भक्ति आंदोलन और आधुनिक काल के नवजागरण इसके प्रमाण हैं। भारत अनेक जातियों, धर्मों और भाषाओं का जमघट है। भारत के राजनैतिक इतिहास में अनेक जातियों के प्रवेश किया है। उनकी न केवल भाषाओं बल्कि धर्म, विश्वास, परम्परा भिन्न रही है। 15 अगस्त, 1947 के बाद में भारत अपनी अखण्डता अक्षुण्ण अवश्य बनाये हुए है, परन्तु एक राष्ट्र-राज्य के रूप में अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। इसकी सांस्कृतिक भिन्नताएं इसमें अवरोध उत्पन्न करती हैं। प्रशासनिक संदर्भ में तो भिन्नताएं बहुत अधिक पीड़ादायक सिद्ध हुईं।

सहिष्णुता जहां एक नैतिक आदर्श प्रस्तुत करके सामाजिक जीवन को सरल, सुगम दर्शन प्रदान करते हैं वहीं प्रशासनिक दृष्टिकोण से यही चीजें कठिनाईयां प्रस्तुत करती हैं। प्रशासन मानव जीवन को सुखमय और संघर्षरहित बनाने के लिए होता है। परन्तु महज सांस्कृतिक भिन्नता के कारण भिन्नसमुदायों के लिए भिन्न2 कार्यक्रमों का

निर्माण करना और उनको क्रियान्वित करना थोड़ा कठिन होता है। यद्यपि प्रशासनिक श्रेष्ठता या हीनता का यह एक मात्र कारण नहीं है। यह संस्कृति में कुछ और गुण विद्यमान हों तो यह दुर्गुण प्राकृतिक गुण में बदल सकता है। भारतीय प्रशासन के माध्यम से जब सामाजिक बुराईयों को दूर करने एवं प्रगतिशील व उन्नत कार्यक्रम चलाये जाते हैं तो सांस्कृतिक परम्पराओं के कारण उसका विरोध किया जाता है। जब कभी कोई सामाजिक लक्ष्य प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है तो भारतीय समाज के विभिन्न वर्ग सिर्फ सांस्कृतिक अंतर्विरोधों के कारण उसका विरोध करते हैं। अतः लोकतांत्रिक पृष्ठभूमि के कारण प्रशासन अवसादग्रस्त हो जाता है। स्वतन्त्रता के पश्चात राष्ट्रीय भाषा का निधारण परिवार नियोजन के संबन्ध में कानून, और अनुच्छेद 44 का क्रियान्वयन इसके उदाहरण है।

सांस्कृतिक भिन्नता के कारण भारतीय समाज में सांस्कृतिक वैमनस्य को जन्म देता है। जिसके कारण पुलिस प्रशासन पर अत्यधिक दबाव रहता है। धर्म एवं जातिगत भिन्नता के कारण उनमें आपस में खानपान, वैवाहिक संबन्ध स्थापित नहीं हो पाते। परन्तु जब कभी शिक्षित युवा लड़के लड़कीयां प्रेम संबन्धों या वैवाहिक संबन्धों के कारण एक दूसरे के नजदीक आते हैं। तो जाति धर्म की भिन्नता उनके आड़े आती है। उत्तर भारत के कुछ राज्यों में- हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार में ऐसे संबन्धों का अभिभावक कड़ा विरोध करते हैं जिनका परिणाम कभी 2 ऑनर किलिंग जैसे अपराधों में दृष्टिगत होता है।

भाषाई आधार पर प्रदेशों का निर्माण और प्रान्तों के बीच असहयोगपूर्ण बर्ताव सांस्कृतिक भिन्नता की पृष्ठभूमि पर आधारित है। प्रान्तों का बँटवारा भौगोलिक एवं प्रशासनिक सुविधा पर होना अधिक श्रेष्ठ और शलाघनीय है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था और प्रशासन के लिए एक दुखद सत्य है कि प्रान्तों के नेता चाहे वे सत्ता में हों या विपक्ष में राष्ट्रीय आदर्शों के प्रेरणा नहीं होते। वे मन के अनुकूल अधिक क्षेत्रीय या प्रान्तीय विभाजन चाहते हैं।

भारतीय जीवन धर्म तत्व से अनुप्राणित रहा है। धर्म शब्द स्वजातिक है। और इसका अनुवाद मजहब या रिलिजन नहीं हो सकता। यहां धर्म का अर्थ कर्तव्यों का पालन करना है। समग्र सृष्टि को अच्छी प्रकार से धारण एवं परिपालन करने वाले तत्वों की समष्टि को ही धर्म कहते हैं। अर्थात् वे तत्व जिनके रहने से समाज है। और जिनके न होने पर यह समाज नष्ट हो जाता है। धर्म के अन्तर्गत आते हैं। जैसे धैर्य, क्षमा, उदारता, संतोष, ईमानदारी, पवित्रता, ज्ञान, प्रेम, दया, अहिंसा, ममता, परोपकार, सहयोग तथा अपनी भांति दूसरों की चिन्ता करना आदि। श्रेष्ठ जीवन मूल्यों की समष्टि को ही भारतीय शास्त्रों में धर्म कहा गया है। इन तत्वों को धारण करने वाले व्यक्ति आध्यात्मिक शांति को प्राप्त कर समाज को व्यवस्थित एवं गतिमान बनाने में सहयोगी बनते हैं। चूंकि आज सत्ता धर्म के बिना संभव नहीं अतः धर्म के तत्वों की रक्षा में सक्रिय होना समाज के प्रत्येक विचारशील नागरिक का पवित्र कर्तव्य बन जाता है। भारतीय जीवन में धर्म एक अग्रणी तत्व रहा। धर्म एकान्त में रहकर जीवन यापन करने वाले मनुष्यों का प्रेरक नहीं है। धर्म सामाजिक जीवन का सद्गुण है। भारतीय राजनीतिक दर्शन में धर्म और राज्य में विरोधी संबंधों की कोई कल्पना नहीं की गई है। आदर्श राज्य में धर्म आत्मा के सदृश्य राज्य रूपी शरीर में विद्यमान व्यक्ति का राजकीय जीवन धार्मिक जीवन का पर्याय माना गया है। राम, कृष्ण, विदूर, भीष्म, युधिष्ठिर, चाणक्य, गांधी और अनगिनत राजर्षि इसके उदाहरण हैं। भारतीय नागरिकों में कोई हिन्दू हैं और वे लोग अधार्मिक हैं जो किसी पंथ या संप्रदाय से नहीं जुड़े हैं। यह बात उतनी ही असत्य है जितना की यह कहना कि सूर्य पृथ्वी का चक्कर लगाता है। भारतीय समाज यदि पूणतया धार्मिक होता तो इसके सामाजिक, राजनीतिक जीवन में इतनी बुराईयां ना होती। अधिकांश भारतीय धार्मिक होने का दावा करते हैं। परन्तु वे आचरण में धर्म की अभिव्यक्ति नहीं करते। आज की

भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों का जो हास देखा जा रहा है उसके आधार पर राजनीतिक एवं प्रशासनिक जीवन के आदर्श का प्रतिनिधित्व भारतीय कर पायेंगे इसमें संदेह है। यह सच है कि भारतीय समाज मानव जीवन के विभिन्न कृत्यों को ईश्वरीय छाया से निष्पादित मानते हैं। परन्तु वेव्यावहारिकजीवन में उसे स्वीकार नहीं करते।

धर्म को जीवन और आचरण में पूर्णता उतार लेने के लिए और व्यक्ति के आत्मिक विकास के लिए भारत में विभिन्न दर्शनों, समुदायों का विकास हुआ है। भारत के ऐसे अनेक संप्रदाय हैं जिनमें अद्वैत, वैष्णो, शाक्त, जैन बौद्ध, सिख आदि प्रमुख हैं। इन विभिन्न संप्रदायों की उपासना पद्धतियों में भले ही भिन्नता हो परन्तु लक्ष्य सभी का परम् सत्य और धर्म ही है। अर्थात् धर्म साध्य है जबकि संप्रदाय साधन। भारतीय समाज सहिष्णुता के कारण अनेक उपसंप्रदायों को भी जन्म देता है बौद्धों में महायान, हीन यान, जैन में श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि हैं। यद्यपि ये भिन्नताएं प्रशासनिक दृष्टिकाण से बहुत महत्व नहीं रखती। राजनीतिक और संप्रदायिक षड़यंत्रों के कारण देश का वातावरण बहुधा विषाक्त हो जाया करता है।

हिन्दू समाज की सहिष्णुता अनुपम है। भारतीय संस्कृति किसी दूसरे धर्म में हस्तक्षेप नहीं करती है। हमारे इतिहास में ऐसे विभिन्न उदाहरण देखने को मिलते हैं। जिनमें हमारे मनुष्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सत्य को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं।

हमारे पूर्वजों का दृष्टिकोण सदैव अन्तर्राष्ट्रीय ही रहा है। मानव एक ही ईश्वर की संतान है। यह संकल्पना सदैव उपस्थित रही है। वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श आज से चार हजार वर्षों पूर्व भारतीय संस्कृति का नारा था। हिन्दू संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों को पीकर अपनी ताकत बढ़ाई है। यहां तक की इस्लाम जो अपने व्यक्तित्व को स्वतंत्र रखने का मनसूबा लेकर चला था वह भी भारत में आकर बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। आज भारतीय मुसलमान सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय है।

8.3.2 भारतीय प्रशासन सामाजिक, पर्यावरण

एफ. डब्लू. रिक्स ने अपनी पुस्तक इकॉलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन में कहा है कि इसी समुदाय का सामाजिक परिवेश उसके संस्थानों, संस्थागत नमूनों, जात संबंधों, परम्पराओं, धर्म मूल्यों की व्यवस्था, विश्वास आदि पर आधारित होता है। ये समस्त तत्व प्रशासन पर बड़ा गहरा प्रभाव डालते हैं। लोक प्रशासन में मानवीय तत्व विशेष तत्व का प्रभाव होता है। इसलिए लोक प्रशासन का मानवीय तत्व समाज विशेष का ऊपज होता है। विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाएं और संस्थाएं लोक कर्मचारियों के चरित्र की रचना करती हैं। भारत में आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक आदि आधारों पर अनेक वर्ग बन जाते हैं। समाज के इन वर्गों को पहचानना तथा उनमें जो वर्ग यह पिछड़ी जाति कमजोर है उसे विशेष सुविधा देकर ऊपर उठाना प्रशासन का महत्वपूर्ण दायित्व बन जाता है। प्रशासन को केवल कानूनी न्याय के आदर पर नहीं चलाया जा सकता। बल्कि प्रशासन के संचालन के लिए आज सामाजिक न्याय अधिक आवश्यक बन गया है। इसके साथ सामाजिक संस्थाओं का लोक प्रशासन की नौकर शाही से घनिष्ठ संबंध रहता है। सामाजिक संस्थाओं का प्रशासन पर निरन्तर दबाव रहता है। इस सामाजिक दबाव के कारण लोक प्रशासन सतर्क एवं उत्तरदायी बना रहता है। दूसरी ओर सामाजिक जागरूकता भी प्रशासनिक व्यवहार को जनोपयोगी बनाने में सहायता करती है। इससे स्पष्ट है कि प्रशासन को सामाजिक पर्यावरण के अनुसार संचालित होना पड़ता है। समाज प्रशासन के अनुसार कभी कभी ही क्रियाशील होता है। भारतीय

समाज की विशेषता है कि वह बहुलवादी समाज है। जिसमें विविध संप्रदायों के अनुयायी भाषाभाषी एवं जाति धर्म वाले लोग रहते हैं। भारत में हिन्दू मुस्लिम सिख जैन बौद्ध, परसी आदि धर्माबलम्बी रहते हैं। भाषाओं की संख्या तो अनगिनत है। फिर भी संविधान की आठवीं सूची में 22 भाषाओं को रखा गया है। बहुसंख्यक हिन्दू के सामाजिक जीवन का आधार वर्णाश्रम व्यवस्था है। यद्यपि वर्ण व्यवस्था अपनी पूर्व अवस्था में नहीं रह गई परन्तु अभी भी अघोषित रूप में सामाजिक जीवन को इसी सिद्धान्त पर चिह्नित किया जाता है। वर्ण व्यवस्था का सूत्रपात श्रम और व्यवसायिक वर्गों के विभाजन से हुआ था। जो कालान्तर में जन्म पर आधारित बन गया। वर्ण व्यवस्था का सबसे हानिकारक पक्ष है। पीछड़ी जातियों के प्रति अप्रशयता का व्यवहार। उच्च वर्ग में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग की स्थिति सम्मानित और गौरवशाली हुआ करती थी। परन्तु शूद्र वर्ग समाज में विपन्न और शोषित वर्ग हुआ करता था। स्वतंत्रता के पश्चात वर्ण व्यवस्था को अवैध एवं गैरकानूनी घोषित किया गया और योग्यता के आधार पर व्यवसायों के चयन को प्रमाणित माना गया। परन्तु भारत के कुछ राज्यों में भूमि पर उच्च वर्गों का एकाधिकार अभी भी स्थापित है। बिहार, पंजाब, राजस्थान, जैसे राज्यों में भूआबंटन लागू ही नहीं हो पाया और कुछ राज्यों में लगभग ही क्रियान्वित हो सका। भारत की राजनीति संरचना और प्रक्रियायें लोकतांत्रिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है। पंचायती राज के तीनों स्तरों पर जो अलोकतांत्रिक एवं सामंती मानसिकता का उद्घाटन होता है। इस समाज की अलोकतांत्रिक मानसिकता परिलक्षित होती है। भारतीय राजनीतिक जीवन की सच्चाई है। यहां पर भारतीय समाज के कुछ विशेष मुद्दों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

जाति -

भारतीय समाज की संचार का आधार जाति और उपजातियां हैं। भारतीय प्रशासन सदियों पुरानी सामाजिक विषमता को ठीक करने में व्यस्त है। अनुसूचित जनजातियों, अनुसूचित जातियों और पीछड़ी जातियों के लिए शिक्षा एवं सेवाओं में आरक्षण का प्रावधान भारतीय समाज की एकरूपता एवं समरसता प्रदान करने का विवादित प्रयास है। आरक्षण की व्यवस्था आर्थिक पीछड़ेपन पर आधारित न होकर जाति पर आधारित है। दूसरे मूल संविधान में इसे दस वर्षों तक जारी रखने का प्रावधान था परन्तु संसद द्वारा इसे समय समय पर बढ़ाया जाता रहा। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण बहुत हद तक उचित है। परन्तु पीछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित है। राजनीतिक दल वोट बैंक के लिए पीछड़ी जातियों के आरक्षण का समर्थन करते हैं।

प्रशासनिक स्तर पर जाति भावना एक गंभीर समस्या है। समजात वर्ग के अधिकारी एवं कर्मचारी एक दूसरे के लिए अवैध और अनुचित कार्यों को करने के लिए तैयार हुए दिखाई देते हैं। परन्तु विजातीय लोगों के लिए उचित एवं वैध कार्यों के लिए टालमटोल करते हैं। जिस प्रकार से राजनीतिक स्तर पर जातियों को संगठित कर एक संगठित बोट बैंक के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है लगभग उसी प्रकार राजनेताओं द्वारा प्रशासनिक अधिकारियों का इस्तेमाल अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए किया जाता है। राज्यों के विधानसभा के उपचुनाव में इस जाति भावना का प्रशासन खुल कर प्रयोग होता है। आम जनमानस में प्रायः देखा और सुना जाता है। कि समान जाति है तो एसमें अजीब आशा और विश्वास का संचार होता है। परन्तु जब वह विजातीय अधिकारी या कर्मचारी के पास जाते हैं तो उनमें भय और शंका का समावेश होता है।

भारतीय समाज के नैतिक स्तर में गिरावट :-

राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में भारत के नेताओं ने नैतिक मूल्यों एवं आदर्श मानवीय गुणों का जो उद्घाटन किया था विश्व स्तर पर भारत के ब्रिटिश आधिपत्य को असंगत प्रमाणित किया था। विश्व के अनेक विद्वानों ने कहा- भारत को सभ्य बनाने का अधिकार ब्रिटेन को नहीं है। भारतीय पुर्नजागरण और स्वतंत्रता के काल तक भारत के नैतिक मूल्यों, आदर्शों के कारण भारत एक आध्यात्मिक गुरू के रूप में उभर रहा था। परन्तु पीछले साठ वर्षों से भारतीय समाज का नैतिक पतन बड़ी तीव्र गति से हो रहा था। भारतीय समाज ने मानवीय बुराईयों को फैशन बना लिया है। और सामान्य जनता इन वर्गों की बुराईयों को अनुयायी बनकर अपनाती जा रही है। उच्च वर्ग में भ्रष्टाचार, बेईमानी कर्तव्यहीनता, मिथ्या दंभ, बड़े होने और सभ्य होने के प्रमाण माने जाते हैं। अर्थ का लाभ भारतीय समाज को उसके आदर्शों से पदच्युत कर रहा है। राजनेता जितना बड़ा आर्थिक घोटाला करते हैं। उतना ही उनके राजनैतिक कद का प्रमाण माना जाता है। समाज में नैतिक मूल्यों का पतन इतनी गहराई तक पहुँच गया है। कि लोग सामाजिक, प्रशासनिक बुराईयों को मौन स्वीकृति प्रदान कर देते हैं।

भारतीय प्रशासन, भारतीय समाज के नैतिक पतन का प्रतिबिम्ब भारत के आये दिन अधिकारी और कर्मचारी पर भ्रष्टाचार के आरोप लगते हैं। यह सच है कि उन्हें रिश्वतखोर होने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियों का इस्तेमाल प्रशासनिक वर्ग और राजनीतिक वर्ग द्वारा ही किया जाता है। भ्रष्टाचारमुक्त भारत सदगुणी व्यक्तियों के लिए अभी भी एक सपना है।

8.3.4 भारतीय प्रशासन आर्थिक पर्यावरण

अर्थ वह भौतिक तत्व जिस पर व्यक्ति के जीवन की गति निर्धारित होती है। राज्य की आर्थिक दशा और अर्थ के वितरण की व्यवस्था उसके सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक ढांचे का स्वरूप तय करता है। प्रशासन के स्वरूप के संबंध में कुछ समय पहले राजनीतिक परिस्थितियों को ही अधिक महत्व दिया जाता था। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से आर्थिक विकास के अनुसार ही प्रशासन की सफलता एवं असफलता के अध्ययन को भी सम्मिलित किया जाने लगा है।

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की आर्थिक स्थिति का वहां के लोकप्रशासन के स्वरूप संगठन और कार्यों पर प्रभाव पड़ता है। प्रायः सभी विकासशील देशों में द्रुत आर्थिक विकास एवं आधुनिकिकरण के लिए प्रशासनिक सुधारों को अनिवार्य समझा जाता है। आज आर्थिक विकास के लिए प्रशासनिक विकास की भी आवश्यकता है। प्रशासन को आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाता है और इसके लिए समय समय पर प्रशासनिक सुधार किये जाते हैं। किसी भी देश की योजना को लागू करने का दायित्व प्रशासन का होता है। अतः देश की प्रशासनिक प्रणाली वहां के आर्थिक जीवन को नियमित करती है। आज की प्रशासनिक व्यवस्था सिर्फ कानून और व्यवस्था के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि प्रशासन व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलु को अधिकाधिक खुशहाल बनाने के लिए लोक कल्याणकारी बन गया है।

भारतीय अर्थ व्यवस्था अपनी विशाल जनसंख्या के भार से दबी हुई है। आर्थिक प्रगति के बावजूद गरीबी, भुखमरी, कुपोषित जीवन जीने वालों की संख्या में वृद्धि हुई है। भारतीय राजनीतिक नेतृत्व व प्रशासन दोनों के लिए भारतीय समाज का समावेशी विकास एक दुसाध्य लक्ष्य बना हुआ है। लोकप्रशासन अनेक प्रकार से देश के जीवन को नियंत्रित करता है। जैसे एक बाजार व्यवस्था तभी सूचारू रूप से कार्य कर सकती है जब उसके ऊपर

विभिन्न प्रकार की नियंत्रण लगाये जायें तथा प्रशासन द्वारा अनेक सुविधायें उपलब्ध करायी जाये। प्रशासन ही वह यंत्र है जो अल्प आर्थिक संसाधनों को अपने कौशल से अधिक उपयोगी और कल्याणकारी बना सकता है। और यदि प्रशासन तंत्र भ्रष्ट और लुटेरा हो तो विश्व के समस्त संसाधनों से दरिद्रता नहीं दूर की जा सकती। प्रशासन में भ्रष्टाचार का मूल आधार आर्थिक है। यदि हम प्रशासन को पवित्र और भ्रष्टाचाररहित बनाना चाहते हैं तो आर्थिक विषमताओं को दूर करना आवश्यक है। इसी प्रकार अकुशल प्रशासन निम्न आर्थिक स्तर का एक दुष्चक्र होता है। जब किसी राज्य की आर्थिक स्थिति खराब होती है तो वहां योग्य तथा कुशल कर्मचारी उपलब्ध नहीं हो पाते। फिर भी मैं कहूँगा कि भारतीय प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार न तो आर्थिक असमान्यता व दरिद्रता का परिणाम है और ना ही भारत की विकास योजनाओं की बल्कि यह नैतिक और चारित्रिक समस्या है।

स्वाधीनता के बाद देश का औद्योगिकीकरण एक पूंजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया। पूंजीवादी औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया ने कई तरह की बुराईयां उत्पन्न कर दी। उनसे अर्थ व्यवस्था की पुराने ढांचे को समाप्त कर दिया गया। किन्तु किसी नये ढांचे का निर्माण नहीं किया गया। पूंजी अपने निवेश के लिए उन्ही क्षेत्रों को चुनती है जो उसे प्रारंभिक सुविधायें प्रदान करते हैं। चूंकि ये सुविधायें पहले से मौजूद शहरी क्षेत्रों में प्राप्त होती हैं। अतः नये उद्यम और व्यवसायिक प्रतिष्ठान सामान्यतः शहरों तथा शहरों के उपनगरीय क्षेत्रों में शुरू किये जाते हैं। इससे अनेक समस्यायें उत्पन्न हुईं जैसे आर्थिक विषमता असन्तुलित आर्थिक विकास आदि।

स्वाधीनता के बाद भारत ने विकसित देशों से उधार ली गई अत्यधिक पूंजी प्रदान टेकनॉलॉजी को अपनाया। भारी उद्योगों के निर्माणके लिए विदेशी सहायता लेनी पड़ी और देश की अर्थ व्यवस्था विदेशी निगमों के शिकंजे में फँसने लगी। आज देश की अर्थ व्यवस्था पर बड़े औद्योगिक घरानों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है। राजनीतिज्ञ, प्रशासक, सलाहाकार संस्थानएं, सामान्य जन की कल्याण उपेक्षा करके पूंजीपतियों के हितों को पैरवी करने नजर आते हैं। भारतीय अर्थ व्यवस्था के आर्थिक पर्यावरण को निम्न विशेषताओं के संदर्भ में समझा जा सकता है:-

कृषि की प्रधानता:-

भारतीय अर्थ व्यवस्था की प्रमुख विशेषता कृषि व्यवसाय की प्रधानता है। यहां की कुल कार्यशील जनसंख्या का 56% कृषि व्यवसाय में तथा 32% उद्योग व सेवाओं में लग हुआ है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था:-

भारतीय अर्थव्यवस्था ग्रामीण है। यहां लगभग 72.2% जनसंख्या गावों में निवास करती है। यह प्रतिशत अन्य देशों की तुलना में बहुत ज्यादा है। उदाहरण के लिए अमेरिका में 24% जापान में 22% व आस्ट्रेलिया में 15% जनसंख्या गावों में निवास करती है।

प्रतिव्यक्ति निम्न आय:-

भारतीय अर्थव्यवस्था की एक विशेषता यह है कि यहां प्रतिव्यक्ति आय बहुत निम्न है। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो भारत की प्रति व्यक्ति आय जहां 460 डॉलर है वहीं विश्व की औसत प्रति व्यक्ति आय 5159 डॉलर है। भारत में प्रति व्यक्ति आय कम होने से गरीबी व्याप्त है। लेकिन यह गरीबी आँकड़ों से भी और अधिक है।

परम्परावादी समाज:-

भारतीय अर्थ व्यवस्था का एक लक्षण यह है कि यहां का समाज रूढ़िवादी, भागवादी और ढोंगी है यही कारण है कि यहां बहुत सी कुरीतियां हैं जैसे मृत्युभोज व अनेक सामाजिक परम्पराएं हैं, जिनमें काफी धन व्यय कर दिया

जाता है। ऐसी परम्पराओं और रीति रिवाजों के कारण यहां का समाज सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर पाता और अपने परिवार का जीवन स्तर नहीं उठा पाता। भारत के आर्थिक परिवेश में प्रशासन के समक्ष अनेक चुनौतियां उपस्थित हो जाती हैं। पंचायती शासन के माध्यम से विकास योजनाओं का क्रियान्वयन आर्थिक संसाधनों के बंदरबांट का ज्वलंत उदाहरण है। प्रशासन को भारत की आर्थिक, सामाजिक समस्याओं का समाधान ढूंढना और एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना है, जो एक बड़ी चुनौती है।

8.3.5 भारतीय प्रशासन संवैधानिक पर्यावरण

किसी भी देश का प्रशासन संवैधानिक व्यवस्था के अनुरूप ही होता है। जहां संविधान का शासन है वहां प्रशासन का स्रोत भी संविधान ही होता है। भारतीय प्रशासनिक संस्थाओं और उसकी कार्य प्रणाली का विस्तृत विवरण संविधान के अनुच्छेदों में बिखरा पड़ा है। इन संस्थाओं में निर्वाचन आयोग, लोक सेवा आयोग, वित्त आयोग आदि संवैधानिक संस्थाएं हैं। भारतीय संविधान की कुछ विशिष्ट विशेषताएं प्रशासन की प्रकृति व उसकी रूपरेखा, कार्यप्रणाली आदि का निर्धारण करती हैं। जैसे संसदीय शासन व्यवस्था प्रशासन में अनुचित राजनीतिक हस्तक्षेप की भूमिका तय करता है। दूसरी ओर मंत्रियों की अनभिज्ञता उन्हें प्रशासनिक कार्यों के प्रति उदासीन बनाती है और नौकरशाही का प्रभुत्व प्रशासन पर स्थापित हो जाता है। संविधान का लिखित होना प्रशासन के उद्देश्य एवं दिशा का निर्धारण करता है। नागरिकों के मौलिक अधिकार एवं राज्यों के नीति निर्देशक तत्व इस संबंध में द्रष्टव्य हैं। संघात्मक शासन के कारण प्रशासन के दो स्तर केन्द्रीय एवं प्रांतीय होते हैं। इस परिस्थिति में दोनों स्तरों में पर्याप्त सहयोग एवं सामंजस्य की आवश्यकता होती है। कभी-कभी सुरक्षा संबंधी मामलों में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय प्रशासनीक संस्थाओं में अंतर्विरोध देखा जाता है। उदाहरणार्थ बिहार, बंगाल, उड़ीसा मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड में नक्सली समस्याओं के संबंध में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सुरक्षा एजेंसियों में सहयोग का अभाव दिखाई देता है।

संविधान में प्रशासकों के चयन प्रक्रिया को योग्यता पर आधारित ओर निष्पक्ष बनाने के लिए संघलोक सेवा आयोग, राज्य लोक सेवा आयोग जैसी संस्थाओं का प्रावधान किया गया है। स्वतंत्र न्याय पालिका के द्वारा लोक सेवकों के पदच्युति को भी न्यायिक प्रक्रिया का विषय बना दिया गया है। जिससे लोक सेवक बिना किसी भय के निष्पक्ष होकर कार्य कर सकें। प्रशासनिक अधिकारियों एवं कर्मचारियों के अवैध कार्यों के विरुद्ध मुकद्दमा चलाने का अधिकार पिड़ितों को दिया गया है।

निःसंदेह भारतीय संविधान में जनता के कल्याण और मानव सम्मान व अन्य प्रतिष्ठा को ध्यान में रखा गया है। परन्तु अभी तक उस गिने चुने लोगों तक यह सीमित है। स्वतंत्र न्यायिक व्यवस्था जनहित के मुकद्दमें जनसूचना का अधिकार की उपलब्धता का अधिकार न्याय एक दुर्लभ बस्तु बन गया है। उत्कृष्ट संविधान कानून और संस्थाओं के होते हुए भी समाज के उन्नति नहीं हो पा रही है। स्वतंत्रता के समय भारत की जनता समझती थी कि आजादी मिलने पर भारत एक नये युग में प्रवेश करेगा। परन्तु 70 वर्षों के उपरान्त औद्योगिक, तकनीकी आर्थिक प्रगति के बावजूद भारत की सामाजिक प्रगति और सामान्य जनता की स्थिति के संबंध में संशय है। जो देश अपने 60% जनसंख्या के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था ना कर सकी उसके लिए आर्थिक प्रगति, औद्योगिक उन्नति जैसे शब्द बेईमानी लगती हैं। यद्यपि वर्तमान समय में जनधन योजना, मनरेगा, स्वास्थ्य बीमा योजना आदि के द्वारा सशक्तिकरण के कार्य को आगे बधया जा रहा है।

अभ्यास प्रश्न

1. पर्यावरण किन दो शब्दों से मिलकर बना है।

- 2 'द इकोलॉजी ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन के लेखक कौन है।
3. 'डायनामिक ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन'के लेखक कौन हैं।
4. भारत की लगभग जनसंख्या गावों में निवास करती है।

8.4 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से आप समझ सके होंगे कि किस प्रकार देश का प्रशासन देश के संवैधानिक पर्यावरण की सीमाओं में रहकर ही कार्य करता है। भारतीय प्रशासन और संवैधानिक पर्यावरण को समझने के लिए भारतीय संविधान की विशेषताएं निर्मित, लिखित, लोकप्रिय संप्रभुता, लोक कल्याण कार्य समाजवादी, धर्म निरपेक्ष राज्य, संसदीय व्यवस्था, स्वतंत्र न्याय पालिका, मूल अधिकारों की व्यवस्था, आदि को समझना आवश्यक है। साथ ही अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ होगा कि देश विशेष की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, संवैधानिक, और सांस्कृतिक परिस्थितियां प्रशासन को न केवल प्रभावित करती हैं अपितु कार्यप्रणाली एवं ढांचे को नया रूप प्रदान करती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रशासन और पर्यावरण में घनिष्ठ संबंध है।

8.5 शब्दावली

पर्यावरण - पर्यावरण दो शब्द परि और आवरण से मिलकर बना है। जिसका शब्दिक अर्थ है चारों ओर घिरा हुआ। सामाजिक विज्ञान में पर्यावरण का स्वरूप प्राकृतिक विज्ञान के जैविकीय एवं अजैविकीय संघटनों से भिन्न है। यद्यपि लोकप्रशासन में पर्यावरण या परिवेश अथवा परिस्थिति के अध्ययन का विचार वनस्पति विज्ञान से ग्रहण किया गया है। परन्तु तात्त्विक रूप से दोनों में भिन्नता है।

संस्कृति -संस्कृति के अंतर्गत समुदाय के रहन सहन, खानपान, जीवन शैली, बौद्धिक उपलब्धियों एवं जीवन दर्शन आते हैं।

8.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. परि और आवरण. 2. एफ. डब्ल्यू. रिक्स 3. जी. ई. ग्लैडन 4. 72.2%

8.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

भारतीय संविधान	-	ब्रज किशोर शर्मा
भारतीय लोक प्रशासन	-	बी.एल. फड़िया
भारतीय लोक प्रशासन	-	अवस्थी एवं अवस्थी

8.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

भारतीय संविधान	-	डी.डी. बसु
भारतीय लोक प्रशासन	-	एस.सी. सिंहल

8.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय प्रशासन के पर्यावरण पर निबंध लिखिए।
2. स्वतन्त्रता के बाद भारतीय प्रशासन के पर्यावरण में किस प्रकार का परिवर्तन आया है। स्पष्ट कीजिए।

इकाई 9: जन शिकायत निवारण

इकाई की संरचना

- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 उद्देश्य
- 9.3 जन शिकायत निवारण अर्थ एवं महत्व
 - 9.3.1 नागरिक प्रशासन
 - 9.3.2 केन्द्रीय सर्तकता आयोग
 - 9.3.3 सर्तकता आयोग के प्रमुख कार्य
- 9.4 लोकपाल, लोकायुक्त
- 9.5 जन लोकपाल विधेयक
- 9.6 लोक सेवा में तटस्थता
- 9.7 सारांश
- 9.8 शब्दावली
- 9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 9.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 9.12 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

उपरोक्त इकाई 14 में हमने अखिल भारतीय सेवाएं के स्वरूप का अध्ययन किया है। साथ ही साथ केन्द्रीय सेवाओं का भी वर्णन किया गया है। पुनश्च इनके भर्ती एवं प्रशिक्षण को भी लिपिबद्ध किया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमने भारत में प्रचलित अखिल भारतीय सेवाओं, केन्द्रीय सेवाओं के बारे में जानने का अवसर प्राप्त हुआ है। इसके साथ में हमने यह भी देखा है कि भारत में लोक सेवकों की भर्ती के कौन से तरीके अपनाये जाते हैं। इसी क्रम में हमने यह जाना है कि पदोन्नति भी भर्ती का एक तरीका है।

प्रस्तुत इकाई 15 में हम यह अध्ययन करेंगे कि सुशासन के अन्तर्गत प्रशासन का दायित्व जनता के प्रति जवाब देही का है। लोक तांत्रिक व लोक कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषता है कि जनता के कल्याण हेतु उनके कार्यक्रमों को उन तक पहुंचाना है। परन्तु उनको इनका लाभ नहीं मिल रहा है तो वे शिकायत करने का अधिकार रखते हैं। इस अध्याय में जन शिकायत निवारण के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे।

भ्रष्टाचार उन्मूलन हेतु शासन को प्रशासन से अवगत कराना है। यह लेखन कार्य करते समय राष्ट्र भी भ्रष्टाचार के बारे में चर्चा कर रहा है, और लोकपाल एवं न लोकपाल बिल को लेकर राष्ट्र में बहस छिड़ी हुई है कि किनको-किनको लोकपाल बिल के अन्तर्गत रखा जाय?

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हम –

1. जन शिकायत निवारण अर्थ एवं महत्व को जान सकेंगे।

2. केन्द्रीय सत्कता आयोग और उसके कार्यों के सम्बन्ध में जान सकेंगे ।
3. लोकपाल और जन लोकपाल विधेयक के सम्बन्ध में जान सकेंगे ।
4. लोक सेवा में तटस्थता के सम्बन्ध में जान सकेंगे ।

9.3 जन शिकायत निवारण अर्थ एवं महत्व

सरकार जन शिकायत निवारण में संलग्न एवं सक्रिय है, परन्तु जनता की प्रशासन के प्रति शिकायतें बढ़ती जा रही हैं। शिकायतशब्दका अर्थ किसी नागरिक द्वारा किये गये उस दावे से जो उसे कुप्रशासन के कारण प्रस्तुत करना पड़ता है ।

जनता की सेवा करना ही लोक प्रशासन का लोकतांत्रिक प्रणाली में महत्वपूर्ण एवं केन्द्रीय उद्देश्य है। लोकतांत्रिक व लोक-कल्याणकारी राज्य के, अस्तित्व के कारण सरकार के समक्ष नवीन कार्य एवं जिम्मेदारियाँ जन्म ले चुकी हैं। आज ये नई जिम्मेदारियाँ और कार्य विश्व के लगभग तमाम देशों में बढ़ते जा रहे हैं। आज लोक- प्रशासन के सामने दो बातें महत्वपूर्ण हैं-

प्रथम, सरकारी प्रशासन का दायरा व्यापक हो गया है ।

द्वितीय, शिक्षा, सामाजिक और राजनीतिक चेतना बढ़ने से जनता की अपेक्षाएँ लोक-प्रशासन के प्रति कुछ ज्यादा ही बढ़ गयी हैं। आज बहुत से विद्वानों के द्वारा नागरिक और प्रशासन के परस्पर सम्पर्क और सम्बन्धों को बहुत महत्व दिया जा रहा है। जहाँ तक आदर्श स्थिति का प्रश्न है, तो इसे आपसी संबंधों के आधार पर और सक्रिय होना चाहिए, लेकिन व्यावहारिक धरातल पर इस विषय को लेकर बहुत ही विवाद और तनाव देखने को मिलता है। आज तो सरकार जनक शिकायत निवारण में संलग्न एवं सक्रिय है, परन्तु जनता की प्रशासन के प्रति शिकायतें बढ़ती ही जा रही हैं ;शिकायत शब्द का अर्थ किसी नागरिक द्वारा किये गये उस दावे से है जो उसे कुप्रशासन के कारण प्रस्तुत करना पड़ा है ।

आधुनिक समय में इंटरनेट के विस्तार के कारण जनता अपनी शिकायत 'जन शिकायत निवारण तंत्र' तक बहुत ही सरलतम तरीके से ;हिन्दी अथवा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में द्वि सम्बन्धित अधिकारी तक पहुँचा सकती है। इसके लिए टाइप करना होता है- इसके बाद हमें जन शिकायत निवारण अधिकारियों की सूची प्राप्त होती है। तत्पश्चात् एक कार्य का प्रारूप प्रदर्शित होता है जिसके अन्तर्गत निम्न जानकारियों का विवरण देना होता है-

शिकायत दर्ज करें

नाम: पिता/माता का नाम :

पता :

ई-मेल :

शिकायत:

जमा करें

रिक्ताकों

मुख्य पृष्ठ

जनता अपनी की गई शिकारत पर की हुई कार्यवाही का विवरण भी जान सकती है जिसके लिए उसे अपना पी. जी. कोड भरना और ओ. के. बटन को 'क्लिक' करके जमा करना होता है। यह पी.जी. कोड नाम भरने के साथ प्राप्त हो जाता है।

9.3.1 नागरिक प्रशासन

आज राज्य की अवधारणा विकास मूलक और कल्याणकारी हो गई है और इस विकास मूलक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए नागरिक और प्रशासन के बीच सम्पर्क का होना मात्र आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो गया है। प्रशासन लोगों की समस्याओं के निदान से सम्बन्धित हैंय प्रशासन को लोगों के लिए आवश्यक सुविधाओं को उपलब्ध कराना अनिवार्य है। प्रशासन का मुख्य उद्देश्य अब नागरिकों की संतुष्टि को पूरा करना होता है पर व्यावहारिक स्थिति कुछ अलग ही है। आज भी प्रशासनिक कार्यों में निरंकुशता की प्रवृत्ति देखने को मिलती है तथा जन भावनाओं को प्रशासन द्वारा नजर अंदाज किया जाता है। वास्तविकता तो यह है कि प्रशासन और नागरिकों के बीच परिवर्तन केवल बाहर से आया हुआ मालूम पड़ता है अर्थात् पुरानी प्रवृत्ति बदली नहीं है। आज भी नागरिक प्रशासन से अपना कार्य करवाते वक्त अप्रासंगिक दिखता है।

जैसा कि यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वर्तमान समय में जनता और प्रशासन के बीच निरन्तर सम्पर्क रहता है। प्रशासन से नागरिकों के सम्पर्क के कई उद्देश्य हो सकते हैं, जैसे- पानी, बिजली, स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधा पाना, साथ ही साथ अन्य व्यक्तिगत मामलों में प्रशासन से सहयोग चाहना। इन आवश्यकताओं को लेकर जनता की प्रशासन से सम्पर्क में जितनी वृद्धि होती है, सरकारी नियंत्रण और नियम कानून उतने ही बढ़ते चले जाते हैं और इस दरम्यान ही प्रशासन की छवि बनती या बिगड़ती है।

अगर प्रशासनिक सफलता के लिए नागरिक और प्रशासन के बीच सम्बन्ध की अनिवार्यता है, तो दूसरी ओर प्रशासनिक असफलता का कारण नागरिक और प्रशासन के बीच अलगाव का होना है। चूंकि नागरिक अपने कार्यों का सम्पादन प्रशासन से तुरन्त चाहता है, जिसे प्रशासन के द्वारा तुरन्त पूरा करना सम्भव नहीं होता है। इसका कारण है कि प्रशासन को विभिन्न प्रकार के नियमों एवं कानूनों का अवलोकन करना पड़ता है, जिसके बाद ही नागरिकों की इच्छाओं की पूर्ति सम्भव होती है।

जन-शिकायतों का प्रशासन द्वारा त्वरित निष्पादन का न होना भी जनता में प्रशासन के प्रति अलगाव उत्पन्न करता है। जनता यह चाहती है कि उसके द्वारा जो प्रशासन के समक्ष शिकायत की जाती है उस पर प्रशासन निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण ढंग से कार्य करें, प्रशासन से न्याय के मार्ग में निष्पक्षता हेतु जातिवाद, साम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, लालफीताशाही, भाई-भतीजावाद से अलग रहने की आशा की जाती है। भारत में नागरिक और प्रशासन के बीच बेहतर सम्पर्क स्थापित करने तथा भ्रष्टाचार में लिप्त पाए जाने वाले कार्मिकों को दण्डित कर, जन शिकायतों का निवारण करने हेतु निम्नलिखित प्रशासनिक व्यवस्था है-

1. विभागीय नियन्त्रण: अधिकांश सरकारी विभागों में भ्रष्टाचार तथा जन शिकायत निवारण हेतु पृथक से एक अधिकारी नियुक्त किया जाता है जो प्राप्त परिवेदना की जाँच कर आवश्यक कार्यवाही करता है।

9.3.2 केन्द्रीय सतर्कता आयोग:

केन्द्र सरकार के विभागों में प्रशासनिक भ्रष्टाचार की जाँच करने हेतु केन्द्रीय सतर्कता आयोग ; की स्थापना संथानम् समिति की अनुशंसा पर सन् 1964 में की गई थी। सितम्बर 2003 में संसद ने एक कानून बनाकर इसे वैधानिकता प्रदान कर दी।

केन्द्रीय सतर्कता आयोग में एक आयुक्त ; तथा दो अधीनस्थ आयुक्त होते हैं। इनकी नियुक्ति प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाली समिति की संस्तुति पर राष्ट्रपति करता है। इनका कार्यकाल 4 वर्ष या 65 वर्ष की आयु पूरी होने तक ; जो भी पहले होकर होता है। राष्ट्रपति इससे पूर्व भी भ्रष्टाचार, अपराध आदि मामलों में सम्बद्ध हो जाने पर इन्हें पद मुक्त कर सकता है।

9.3.3 सतर्कता आयोग के प्रमुख कार्य

1. भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम 1988 के तहत केन्द्रीय सरकार के लोक सेवकों द्वारा किये गए अपराधों की जाँच करना।

2. अखिल भारतीय सेवाओं के संघ सरकार के अधिकारी और केन्द्रीय सरकार के समूह 'ए' के अधिकारियों द्वारा किए गए अपराधों की जाँच करना।

3. दिल्ली स्पेशल पुलिस एस्टाब्लिशमेंट के कार्य की समीक्षा एवं निरीक्षण करना और इसे निर्देशित करना।

4. केन्द्रीय सरकार के मंत्रालयों में सतर्कता प्रशासन का निरीक्षण करना।

केन्द्रीय सतर्कता आयोग किसी भी शिकायत को जो उसे व्यक्तिगत, डाक, समाचार-पत्रों, संसद सदस्यों के भाषणों या अंकेक्षण ; लेखा-परीक्षण रिपोर्ट इत्यादि स्रोतों से प्राप्त होती है, को सम्बन्धित विभाग या मंत्रालय अथवा केन्द्रीय जाँच ब्यूरो को जाँच हेतु भेज सकता है। मंत्रालय में मुख्य सतर्कता अधिकारी सम्बन्धित भ्रष्टाचार के मामले की जाँच करके अपनी रिपोर्ट आयोग को भेजते हैं। जाँच पूरी होने पर दोषी कार्मिक को दण्डित करने, विभागीय कार्यवाही करने या मामला बन्द करने के सम्बन्ध में आयोग से परामर्श किया जाता है। यदि मामला गंभीर प्रकृति का हो तथा विभागीय कार्यवाही के पश्चात कार्मिक को बड़ा दण्ड देना आवश्यक हो तो पुनः आयोग से परामर्श लिया जाता है। केन्द्र सरकार के सभी विभाग प्रति तिमाही एक रिपोर्ट आयोग को भेजते हैं जिसमें प्राप्त शिकायतों, उनकी जाँच प्रगति तथा लम्बित प्रकरणों का विवरण होता है। इस प्रकार एक परामर्शदाता निकाय के रूप में केन्द्रीय सतर्कता आयोग नियंत्रणकर्ता का कार्य भी करता है।

3. केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो

यह भारत सरकार की प्रमुख जाँच एजेन्सी है। इसका कार्यक्षेत्र, केन्द्र एवं राज्य सरकारों सहित समस्त भारत है। इसकी भ्रष्टाचार रोकने में अहम् भूमिका है। सी. बी. आई. का गठन सन् 1963 ई. में गृह मंत्रालय की एक अधिसूचना द्वारा किया गया था। इस समय यह कार्मिक मंत्रालय के साथ सम्बद्ध है। 1941 ई. में गठित स्पेशल

पुलिस एस्टाब्लिशमेंट को भी इसके साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। सी. बी. आई. के गठन की संस्तुति संथानम् कमेटी ने की थी।

सी. बी. आई. के प्रमुख कार्य हैं-

1. केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के भ्रष्टाचार, रिश्वत और दुर्व्यवहार से सम्बन्धित मामलों की विवेचना करना।
2. राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क वाले संगठित समूहों द्वारा किए गए गम्भीर अपराधों की जाँच करना।
3. आर्थिक अपराधों, जैसे- विक्री कर, आय कर, उत्पाद शुल्क आदि से सम्बन्धित अपराधों, आयात-निर्यात नियमों का उल्लंघन आदि से सम्बन्धित मामलों की जाँच करना।
4. अनेक भ्रष्टाचार निरोधक एजेन्सीज एवं राज्यों की पुलिस में बीच सामंजस्य बनाए रखना।
5. राज्य सरकारों के निवेदन पर लोक महत्व के किसी भी मामले की जाँच करना।

सामान्यतः सी. बी. आई को विशेष पुलिस संगठन कानून के अन्तर्गत अनेक विशेषाधिकार प्राप्त हैं तथा इसकी जाँच प्रणाली बहुत गम्भीर, व्यापक, गहन तथा विश्वसनीय मानी जाती है।

9.4 लोकपाल, लोकायुक्त

सन् 1966 में मोरार जी देसाई की अध्यक्षता वाले प्रशासनिक सुधार आयोग ने 'प्रोब्लम्स ऑफ रिडेसल ऑफ सिटिजन ग्रीवेंसज' पर रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए 'लोकायुक्त' तथा 'लोकपाल' की नियुक्ति की संस्तुत की थी। इसका मुख्य उद्देश्य लोक सेवकों तथा जन-प्रतिनिधियों के कुप्रशासन तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध जनता की शिकायत सुनने तथा उस पर जाँच कर अपनी संस्तुती प्रस्तुत करना है।

भारत सरकार ने प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा केन्द्र में लोकपाल और राज्यों में लोकायुक्त की स्थापना का निर्णय लिया। तद्विरुद्ध केन्द्र सरकार ने अब तक दस बार 'लोकपाल' की स्थापना लिए विधेयक संसद में प्रस्तुत किए, लेकिन लोक सभा के बार-बार विघटित हो जाने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से यह अभी तक पारित न हो सका, संसद में लोकपाल विधेयक सर्वप्रथम मई 1968 ई. में तथा आठवीं बार अगस्त 2001 ई. में प्रस्तुत किया गया था। इनके अतिरिक्त अप्रैल 1971, जुलाई 1971, जून 1977, अगस्त 1985, दिसम्बर 1989, सितम्बर 1996, अगस्त 1998 तथा अगस्त 2001, में 2005 एवं 2008, में विधेयक प्रस्तुत किया गया।

सर्वप्रथम लोकायुक्त अधिनियम 1970 में उड़ीसा सरकार ने बनाया था, लेकिन वहाँ लोकायुक्त की नियुक्ति सन् 1983 में हो सकी। महाराष्ट्र में लोकपाल अधिनियम सन् 1971 में बना तथा वहाँ इसी वर्ष इसकी नियुक्ति भी हो गई अतः महाराष्ट्र पहला राज्य है। अन्य राज्यों में लोकायुक्त अधिनियम निर्माण एवं नियुक्ति का वर्ष निम्नलिखित तालिका में दिया गया है:

भारत के राज्यों में लोकायुक्त अधिनियम

क्रम सं.	राज्य	वर्ष
1	उड़ीसा	1970
2	महाराष्ट्र	1971
3	बिहार	1973
4	राजस्थान	1973
5	तमिलनाडु	1974
6	जम्मूकश्मीर-	1975
7	मध्य प्रदेश	1981
8	आन्ध्र प्रदेश	1983
9	केरल	1983
10	हिमाचल प्रदेश	1983
11	कर्नाटक	1984
12	असम	1985
13	गुजरात	1986
14	पंजाब	1995

प्रत्येक राज्य के लोकायुक्त की संरचना, कार्य प्रणाली तथा अधिकार क्षेत्र पृथक रखा गया। लोकायुक्त के क्षेत्राधिकार, कार्यकाल तथा नियुक्ति प्रक्रिया भी भिन्न-भिन्न अपनाई जाती है। लोकायुक्त को लोक सेवकों के विरुद्ध निम्नलिखित मामलों में आरोप एवं शिकायत प्राप्त कर जाँच कराने का अधिकार है।

1. स्वयं या अन्य व्यक्तियों के लाभ या पक्षपात के लिए अपने पद का दुरुपयोग किया हो या दूसरे व्यक्ति की क्षति या अभाव का कारण बना हो।
2. सरकारी कर्मचारी के रूप में व्यक्तिगत स्वार्थ या अनुचित या भ्रष्ट विचार से प्रेरित होकर काम किया हो।
3. भ्रष्टाचार के आरोप में दोषी हो या सरकारी पद पर ईमानदार न रहा हो।
4. ज्ञात आय से असंगत सम्पत्ति हो या परिवार का कोई अन्य सदस्य उसकी तरफ से असंगत सम्पत्ति रखता हो।
5. जिस पद पर वह है उस पद पर लोक सेवक द्वारा ईमानदारी एवं सत्यनिष्ठा आचरण के मापदण्ड के अनुसार कार्य करने में असफल रहा हो।

इसी प्रकार शिकायत शब्द का अर्थ किसी नागरिक द्वारा किए गए उस दावे से है जो उसे कुप्रशासन के कारण प्रस्तुत करना पड़ा है।

1. जहाँ इस प्रकार का कार्य या प्रशासनिक प्रक्रिया व्यवहार जो असंगत, अनुचित, दमनात्मक या पक्षपातपूर्ण हो, या

2. जहाँ इस प्रकार की कार्यवाहियों में लापरवाही या अनावश्यक विलम्ब हुआ हो या इस प्रकार की प्रशासकीय प्रक्रिया या व्यवहारों में अनावश्यक देरी हुई हो।

लोकायुक्त संस्था सैद्धान्तिक दृष्टि से सुदृढ़ दिखाई देती है किन्तु व्यावहारिक रूप से किसी भी राज्य में लोकायुक्त संस्था प्रभावी सिद्ध नहीं हो पाई है। लोकायुक्त की भूमिका सरकार को परामर्श देने की है। कई बार लोक-सेवकों का अपराध सिद्ध हो जाने पर भी लोकायुक्त की सिफारिश पर राज्य सरकार समुचित कार्यवाही नहीं करती है। इस प्रकार प्रशासन में अनैतिकता तथा अकार्यकुशलता पर अंकुश नहीं लग पाता है। भ्रष्टाचार निवारण में निस्संदेह लोकायुक्त सशक्त भूमिका निर्वाहित कर सकता है किन्तु पहले लोकायुक्त को प्रभावी बनाना आवश्यक है।

लोकपाल -

भारतीय लोकपाल की अवधारणा स्वीडन के ओम्बुड्समैन पर आधारित है। जहाँ यह व्यवस्था 1809 से प्रभावी है और जिसके कारण वहाँ के प्रशासन को बहुत साफ-सुधरा माना जाता है। ओम्बुड्समैन नामक यही संस्था भारत में लोकपाल/लोकायुक्त कहलाती है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'लोक' अर्थात् 'जनता या लोग' एवं 'पाल' अर्थात् 'संरक्षक या रक्षा करने वाला' है। 'लोकपाल' शब्द इण्डो अर्थात् शब्द है। लोकपाल की स्थापना का मुख्य उद्देश्य लोक सेवकों तथा जन-प्रतिनिधियों के कुप्रशासन तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध जनता की शिकायत सुनने तथा उस पर जाँच कर अपनी संस्तुति प्रस्तुत करना है।

लोकपाल विधेयक

भारत में सर्वप्रथम इसकी स्थापना की मांग डॉ. लक्ष्मीमल सिंधवी द्वारा सन् 1956 में की गई थी। सन् 1966 में मोरारजी देसाई की अध्यक्षता वाले प्रशासनिक सुधार आयोग ने 'प्रोब्लम्स ऑफ रिडेसल ऑफ सिटिजन्स ग्रीवेंसज' पर रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए लोकायुक्त तथा लोकपाल की नियुक्ति की संस्तुति की।

पहली बार 9 मई 1968 को लोकपाल विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया जो कि लोकसभा में पारित हो चुका था लेकिन न लोक सभा के भंग हो जाने के कारण राज्यसभा में पारित न हो पाया।

पिछले 42 वर्षों से लोकपाल विधेयक लोकसभा के बार-बार विघटित हो जाने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से अभी तक पारित न हो सका है। इस दौरान छोटी-बड़ी कुल चौदह कोशिशों की गयीं। आठ बार सरकारी विधेयक के रूप में और छह बार गैर सरकारी विधेयक के रूप में इसे स्थापित करने की कोशिश की गयी है, लेकिन किसी न किसी बहाने उसमें रोड़ा अटकाया जाता रहा है अतः अब तक यह मृग मरीचिका ही साबित हुआ है।

शुरूआत में प्रधानमंत्री को इस दायरे में रखे जाने को लेकर मतभेद थे किन्तु ऊंचे पदों पर आसीन लोगों से जुड़े भ्रष्टाचार के प्रकरण इस प्रकार उजागर हो चुके हैं और उनका आभामंडल इतना क्षीण हो चुका है कि सार्वजनिक जीवन का कोई भी पदधारक अब अपने को जाँच के दायरे से अलग रखने की सिफारिश करने का साहस नहीं कर सकता। आभामंडल इतना क्षीण हो चुका है कि सार्वजनिक जीवन का कोई भी पदधारक अब अपने को जाँच के दायरे से अलग रखने की सिफारिश करने का साहस नहीं कर सकता।

संसद में सर्वप्रथम लोकपाल विधेयक मई 1968 ई. तथा अन्तिम बार 2008 ई. में प्रस्तुत किया गया था। इनके अतिरिक्त अप्रैल 1971, जुलाई 1971, जून 1977, अगस्त 1985, दिसम्बर 1989, सितम्बर 1996, अगस्त 1998, अगस्त 2001, 2005 तथा 2008 में विधेयक प्रस्तुत किया गया। परन्तु प्रत्येक बार, समिति के ऊपर नई समितियों के गठन का अनवरत सिलसिला चलता रहा इस विधेयक में निम्नलिखित प्रावधान थे-

1. लोकपाल के रूप में एक उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश एवं दो अन्य सदस्य उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों अथवा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों में से नियुक्त करने का प्रावधान था।
2. लोकपाल के अधीन मंत्रियों, अधिकारियों एवं प्रधानमंत्री को भी रखा गया।
3. लोकपाल तथा अन्य सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा करने का प्रावधान था।

लोकपाल विधेयक में न तो भ्रष्टाचार से कमाई गयी दौलत की रिकवरी का प्रावधान है और न ही न्यायपालिका को इसके दायरे में रखा गया है। इस विधेयक के अन्तर्गत लोक सभा के स्पीकर अथवा राज्य सभा के चेयनमैन की अनुमति के बिना किसी की शिकायत की जाँच ही नहीं की जा सकती है और न ही विसलर्लीअस यानि भ्रष्टाचार के विरुद्ध आंतरिक रूप से शंखनाद करने वाले लोगों को सुरक्षा देने का कोई प्रावधान है अतः भ्रष्टाचार पर नकेल कसने के लिए खासतौर पर बनाया गया लोकपाल विधेयक ;सरकारी लोकपाल विधेयक, को नखदंत विहीन बताया जा सकता है। इसमें ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जिससे भ्रष्टाचार के दानव का खात्मा ;अंतर्द्ध किया जा सके। इस विधेयक की तमाम खामियों को दूर करने के लिए जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता अन्ना हजारे ;किशन बाबूराव हजारे ;असली नाम, की अगुवाई में 'इंडिया अंगेस्ट करप्शन' आंदोलन के तहत 'जनलोकपाल विधेयक' को कानून बनाए जाने की मांग की है।

ओम्बुड्समैन की स्थापना सर्वप्रथम सन् 1809 में स्वीडन में तत्पश्चात् फिनलैण्ड ;सन् 1919, ए डेनमार्क ;सन् 1955, तथा नार्वे ;सन् 1962, में हुई। इन स्केन्डिनेवियन देशों के अतिरिक्त यह संस्था न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन, कनाडा तथा अमेरिका में भी कार्यरत है। 'ओम्बुड्समैन' नामक यही संस्था भारत में 'लोकपाल/लोकायुक्त' कहलाती है। स्वीडिश शब्द 'ओम्बुड' ; जिसका अर्थ है, किसी का प्रतिनिधित्व करने वाला से 'ओम्बुड्समैन' बना है। 1966 में प्रशासनिक सुधार आयोग ने जहाँ केन्द्रीय स्तर पर लोकपाल की सिफारिश की थी वहीं उन्हीं कार्यों के लिए राज्य स्तर पर लोकायुक्त की सिफारिश की थी। उड़ीसा लोकायुक्त अधिनियम 1970 बनाने वाला पहला राज्य बना, जबकि महाराष्ट्र में सबसे पहले 1972 में लोकायुक्त की नियुक्ति की गई। राजस्थान में 1973 में, बिहार में 1973 में, उत्तर प्रदेश में 1975 में, मध्य प्रदेश में लोकायुक्त एवं उपलोकायुक्त अधिनियम अक्टूबर 1981 से प्रभावी है। अब तक कुल 17 राज्यों में यह संस्था कार्य कर रही है। पंजाब में लोकायुक्त की जगह लोकपाल की नियुक्ति की जाती है। अलग-अलग राज्यों में संस्था की प्रभाविकता अलग-अलग है तथा इनके शिकायत तथा अभिकथन सम्बन्धी अधिकार भी अलग-अलग हैं। शिकायत का तात्पर्य कुप्रशासन से है, जिसकी सूचना लोकायुक्त को उस रूप में घटना के 1 वर्ष के भीतर दी जानी चाहिए।

अभिकथन का तात्पर्य किसी लोकसेवक के भ्रष्टाचार 'सत्यनिष्ठा में कमी' अथवा पद के दुरुपयोग से है जिसकी सूचना घटना के पाँच वर्ष के भीतर लोकायुक्त को दी जा सकती है।

9.5 जन लोकपाल विधेयक

देश के प्रबुद्ध नागरिकों द्वारा तैयार 'जनलोकपाल विधेयक' एक ऐसा विधेयक है जिसे कानून बनाकर भ्रष्टाचार को समूल खत्म किया जा सकता है। इस विधेयक में बगैर किसी की अनुमति लिए लोकपाल द्वारा किसी भी जाँच को शुरू करने का, भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज उठाने वाले विसलब्लोअर की सुरक्षा का भी प्रावधान है। प्रधानमंत्री से लेकर मंत्री से संतरी तक सभी को इसकी जांच के दायरे में रखा गया है। देश में पहली बार एक विधेयक का प्रस्ताव देश के नागरिक समाज की ओर से संसद में विचार करने के लिए दिया गया है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि इस विधेयक में सत्ता के शीर्ष पर बैठे लोगों, चाहे वह प्रधानमंत्री, सुप्रीमकोर्ट के न्यायाधीश या फिर अफसरशाही हो, के खिलाफ लगे भ्रष्टाचार के आरोपों की न केवल निष्पक्ष जाँच करने की ताकत है बल्कि उन्हें दण्डित भी करने की क्षमता है। इसमें लूटखसोट ;भ्रष्टाचारद्वारा अर्जित धन भी जनता को वापस दिलाने का प्रावधान किया गया है।

हांगकांग में 1974 में जन लोकपाल जैसा कानून; इंडिपेंडेंट कमीशन अगेंस्ट करप्शन एक्ट के आधार पर आई.सी.ए.सी. बनाया गया था, जिससे वहाँ से भ्रष्टाचार समाप्त करने में कामयाबी मिली। भारत में भी अगर यह कानून बना दिया गया तो यहाँ पर भी भ्रष्टाचार का नष्ट किया जा सकता है।

विशेषतायें:

- 1.अध्यक्ष समेत दस सदस्यों वाली एक लोकपाल संस्था होनी चाहिए।
- 2.भ्रष्टाचार के मामलों की जाँच करने वाली सी. बी. आई. के हिस्से को इस लोकपाल में शामिल कर दिया जाना चाहिए।
- 3.सी.वी.सी. और विभिन्न विभागों में कार्यरत विजिलेंस विंग्स का लोकपाल में विलय कर दिया जाना चाहिए।
- 4.लोकपाल सरकार से एकदम स्वतंत्र होना।
- 5.नौकरशाह, राजनेता और जजों पर इनका अधिकार क्षेत्र होगा।
- 6.बगैर किसी एजेंसी की अनुमति के ही कोई जाँच शुरू करने का इसे अधिकार होगा।
- 7.जनता को प्रमुख रूप से सरकारी कार्यालयों में रिश्तत मांगने की समस्या से गुजरना पड़ता है। लोकपाल एक अपीलिय प्राधिकरण और निरीक्षण निकाय के तौर पर केन्द्र सरकार के सभी कार्यालयों में कार्यवाई कर सकेगा।
- 8.विसलब्लोअर को संरक्षण प्रदान करेगा
- 9.लोकपाल के सदस्यों और अध्यक्ष का चुनाव पारदर्शी तरीके से किया जाना चाहिए।
- 10.लोकपाल के किसी अधिकारी के खिलाफ यदि कोई शिकायत होती है तो उसकी जांच पारदर्शी तरीके से एक महीने के भीतर होनी चाहिए।

जन लोकपाल विधेयक: मूल स्वरूप के सूत्रधार

अरबिंद केजरीवाल, प्रशांत भूषण और संतोष हेगड़े द्वारा जन लोकपाल विधेयक का मूल आधार तैयार किया गया है। बाद में इस विधेयक पर अलग-अलग क्षेत्रों से जुड़े विद्वानों और गणमान्य लोगों की राय को भी इसमें शामिल किया गया है। इसके अलावा यह विधेयक लोगों द्वारा बेबसाइट ;इंटरनेटद्वारा दी गई प्रतिक्रिया और जनता के साथ विचार-विमर्श के बाद तैयार किया गया है। इस बिल को शांति भूषण, जे. एम. लिंगदोह, किरन बेदी, अन्ना हजारे, स्वामी अग्निवेश आदि का समर्थन प्राप्त है।

प्रासंगिकता: सरकारी लोकपाल विधेयक का अधिकार क्षेत्र केवल राजनेताओं तक सीमित हैं सरकारी अधिकारियों के लिए सतर्कता आयुक्त जैसी संस्थाएं हैं, जो अब तक निष्प्रभावी साबित हुई हैं। न्यायपालिका के

भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए कोई संस्था नहीं है। जनता के लिए राजनेता के भ्रष्टाचार, सरकारी कार्मिकों की रिश्वतखोरी और न्यायाधीशों की बेईमानी में कोई अंतर नहीं है। इस पृष्ठभूमि में जन लोकपाल विधेयक के उपबंध सरकारी विधेयक की तुलना में ज्यादा प्रभावी और प्रासंगिक है।

आवश्यकता: भ्रष्टाचार निरोधक कानून 1988 में भ्रष्ट अफसरों के खिलाफ सजा का प्रावधान महज पाँच वर्ष है जबकि दोषी साबित किये जाने पर उनकी संपत्ति को हड़पने का कोई प्रावधान नहीं है। ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशन की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में सरकारी महकमों में काम कराने के लिए कम से कम 50 फीसदी लोगों को अपना वाजिब काम निकालने के लिए अधिकारियों को घूस खिलानी पड़ती है। उन्हें इस चीज़ के लिए भी घूस देनी पड़ती है, जिसे पाने के वे हकदार हैं। लगभग तीन चौथाई लोगों को किसी न किसी काम के लिए रिश्वत देनी पड़ी है। इस स्थिति के चलते ही भ्रष्टाचार की सूची में भारत 87 वें स्थान पर है।

9.6 लोक सेवा में तटस्थता

लोकसेवा में 'तटस्थता' सिविल सेवा का एक आवश्यक अंग है। इसका एक अर्थ सेवक की निष्पक्ष, एवं स्वतन्त्र और स्पष्ट 'सेवा' से होता है अर्थात् यदि सिविल सेवक स्वयं को राजनीतिक कार्यों एवं गतिविधियों से दूर रख कर अपना कार्य पूर्ण रूपेण दक्षता एवं ईमानदारी के साथ करता है तो वह गुण 'तटस्थता' को व्यक्त करता है। यह कहना सर्वथा उचित होगा कि निष्पक्षता ही तटस्थता को जन्म देती है। तटस्थता के अन्तर्गत अनुशासन, निष्ठा, ईमानदारी, निष्पक्षता एवं स्वतंत्र व स्पष्ट विचार, प्रमुख गुण होते हैं। अजोय बागची के शब्दों में निष्पक्षता की अवधारणा को निम्न प्रकार से कहा गया है। संकेत इस बात की ओर है कि राजनीतिक दलों के साथ सम्पूर्ण तटस्थता के साथ-साथ सरकार के कार्यक्रमों के राजनीतिक पक्षों के साथ संतुलित सम्मान और विवेकपूर्ण सहानुभूति का भी मिश्रण होना चाहिए साथ ही साथ सरकार के कार्यक्रमों और निर्णयों की पृष्ठभूमि में मूल दार्शनिक तथा सामाजिक आर्थिक वाद विवाद के प्रति जागरूकता और लोकतांत्रिक धारणाओं के प्रति भक्ति भी होनी चाहिए। जोसेफ पालोम्बरा के मतानुसार एक प्रशासनिक को राजनीतिक दलों के बीच आपका प्रभुत्वकारी दल के भीतरी गुटों के झगड़े में उलझना नहीं चाहिए। इसका अर्थ यह है कि प्रशासन को जागरूक होकर निरंतर यत्न करना चाहिए कि वह राजनीति कैसी भी हो उससे अपने आप को अलग रखे। मोर्सटीन मार्क्स निष्पक्षता को दो दृष्टिकोण से देखते हैं। सकारात्मक एवं नकारात्मक। सकारात्मक निष्पक्षता का अर्थ है कि बिना किसी शर्त के काम करने के अनुशासन को स्वीकार करें। अर्थात् वे किसी भी विधिवत् सत्तारूढ़ सरकार की सफलता के लिए भक्ति से काम करें। नकारात्मक विचारधारा के अन्तर्गत लोक सेवक नीति, कार्यक्रम तथा प्रबन्ध जैसे मुद्दों पर अपना सर्वोत्तम निर्णय पेश करें। इनसे अपनों को अलग न रखें और अपनी विशेष योग्यता के अनुरूप इनको अपना भरपूर योगदान प्रदत्त करें। उपरोक्त कथन के अनुसार जिसमें निष्पक्षता की धारणा की व्याख्या की गई है कुछ तथ्य निकल कर आते हैं जैसे जनता को लोक सेवा के अराजनीतिक चरित्र में विश्वास हो, मंत्रियों को चाहे वे किसी भी राजनीतिक दल के हों, अपने स्थायी अधीनस्थ अधिकारियों की वफादारी में विश्वास होना चाहिए तथा लोक सेवकों का उच्च मनोबल जो इस विश्वास पर आधारित होता है कि पदोन्नतियों राजनीतिक विचारों के आधार पर नहीं, अपितु गुण के आधार पर की जायेगी।

सर्वप्रथम मैक्स वैबर ने नौकरशाही की निष्पक्षता की धारणा पेश की थी। तबसे लेकर अनेक विद्वानों ने निष्पक्षता की व्याख्या करने का यत्न किया है। मास्टर मैन के शब्दों में, निष्पक्षता ब्रिटिश प्रशासक का गुण रहा है कि लोक सेवक अपने सार्वजनिक जीवन में राजनीतिक धारणाओं से पूर्ण मुक्त रहता है।

हूवर का कथन है कि प्लोक सेवकों को केवल औपचारिक वक्तव्य ही प्रेस को देने चाहिए, सार्वजनिक या निजी वक्तव्य नहीं देने चाहिए। उन्हें राजनीतिक या विवादास्पद ढंग से सार्वजनिक भाषण नहीं देने चाहिए। विभिन्न राष्ट्रों में तटस्थता के अलग-अलग रूप मिलते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में लोक सेवकों के राजनीतिक कार्यों पर कम बन्धन है। राजनीतिक कार्यों में भाग लेने की सबसे अधिक सुविधायें ग्रेट ब्रिटेन में ही हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में लोक सेवकों के कार्यों पर कठोर प्रतिबन्ध है। लोक सेवकों को राजनीतिक प्रबन्ध या राजनीतिक अभियानों में सक्रिय भाग लेने की सख्त मनाही है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के जस्टिस ब्लैक ने कहा है कि प्सरकारी कर्मचारियों को प्राप्त राजनीतिक विशेषाधिकार का सारांश है कि वे मौन रूप में मतदान कर सकते हैं, तथा सावधानी से एवं शान्तिपूर्वक वे कोई भी राजनीतिक विचार स्वयं को संकट में डालकर ही प्रकट कर सकते हैं और चुनाव अभियान की सभाओं में वे केवल दर्शक मात्र होते हैं। पश्चिमी यूरोप तथा स्केण्डिनेवियन देशों में लोक-सेवक राजनीतिक क्रियाकलापों में भाग लेने के लिए स्वतंत्र होते हैं। बेल्जियम, तथा स्विट्जरलैण्ड में लोक सेवक संसदीय चुनावों में भाग तो लेते हैं परन्तु चुने जाने पर अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है। जर्मनी में लोक सेवक को पहले ही अपने पद से त्यागपत्र, देकर चुनाव अभियान में भाग लेता है। परन्तु अगर चुनावी प्रत्याशी हार गया है तो पुनः अपने पद को ग्रहण कर सकता है। चुनाव जीतने पर लोक सेवक पेंशन पर सेवानिवृत्त हो सकता है।

राष्ट्रमण्डलीय देशों में लोक सेवकों के राजनीतिक अधिकारों पर कड़ा प्रतिबन्ध है। कनाडा में लोक सेवकों को राजनीति में सहभागिता वर्जित है। आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड में लोक सेवक चुनाव तो लड़ सकते हैं परन्तु राजनैतिक मुद्दों में उनकी निष्पक्षता तथा तटस्थता पर काफी बल दिया जाता है।

भारत में लोक सेवा सम्बन्धी नियमावली के अनुसार सरकारी कर्मचारियों पर राजनीतिक कार्यों में क्रियात्मक रूप से भाग लेने पर पूर्ण प्रतिबन्ध है। केन्द्रीय लोक सेवा नियम 1955 के अनुसार, लोक सेवक को किसी राजनीतिक संगठन के सदस्य, किसी भी राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने अथवा उसके लिए चन्दा देने या किसी प्रकार की सहायता करने पर निषेध है। विधान मण्डल तथा स्थानीय शासन के किसी चुनाव में भाग लेना भी प्रतिबंधित है।

निष्पक्षता के आयाम: निष्पक्षता की मूल शर्त होती है कि लोक सेवकों को प्रशिक्षण एवं परम्परा के द्वारा एक ऐसे राजनीतिक संस्थान का रूप दे दिया जाये कि वह अपने राजनीतिक विचारों के प्रभाव के बिना सार्वजनिक नीतियों को लागू करे। निष्पक्षता को निम्नलिखित पैमानों के आधार उसकी धारणा को गलत या सही ठहरा सकते हैं। निर्णय करने की प्रक्रिया के प्रभाव में मात्रा, किस दर्जे तक राजनीतिक कार्य कारिणी को नौकरशाही से अलग किया जाये, लोक सेवकों के कार्य में राजनीतिक हस्तक्षेप कहीं तक होता है, जनता का विश्वास इनमें कितना है। इन मापदण्डों के आधार पर लोक सेवकों के पक्ष या निष्पक्ष होने के प्रभाव सामने आ जाते हैं।

निष्पक्षता की प्रासंगिता वर्तमान में: निष्पक्षता की अवधारणा देश की विशेष परिस्थितियों के अनुरूप हुआ करती थी। भारत में एक निष्पक्ष लोक कर्मचारी बनाने के कई उद्देश्य थे। उनमें से एक प्रमुख उद्देश्य था कि उनको देश में चल रही राजनीतिक गति-विधियों से पृथक रखा जाये। कुलदीप माथुर न कहा था कि षड्स समय उनका राजनीतिकरण केवल ब्रिटिश विरोधी ही हो सकता था। इस निष्पक्षता का अभिप्राय केवल नौकरशाही को करणत्व का एक मात्र सिद्धान्त बनाना नहीं था, अपितु लोक सेवा को साम्राज्यवादी शक्ति को बनाये रखने के कार्यों के प्रति विश्वास ही न होने से बचाना था। निष्पक्षता की यह धारणा द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त तक ठीक ठाक काम करती रही। उसके उपरान्त इस धारणा को चुनौती दी जाने लगी। यहाँ तक जिस राष्ट्र ब्रिटेन ने सर्वप्रथम निष्पक्षता को सम्बोधित किया एवं कठोर अनुयायी था उसने भी इसकी निरन्तर प्रमाणिकता पर सन्देह करने लगा। अपने लोक सेवकों को भारी मात्रा में राजनीतिक अधिकार प्रदत्त कर उन्होंने परोक्ष रूप से यह स्वीकार लिया है कि आज के बदलते राजनीतिक परिवेश एवं परिस्थितियों में लोक सेवकों को पूर्णतया राजनीतिक दृष्टि से निष्पक्ष

अथवा अलग रखना सम्भव नहीं है। लोक सेवकों को अब मूल्य रहित नहीं समझा जाता है, अपितु ये राजनीतिक शक्ति का उपयोगी तंत्र माना जाता है।

फलस्वरूप निष्पक्षता को त्यागने के कई कारण माने जाते हैं। जैसे नीति निर्णय प्रक्रिया में सहभागिता, राजनीतिक व्यवस्थाओं में लोक सेवा के नेतृत्व की भूमिका, कल्याणकारी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु, पालन पोषण के उत्पादन हेतु, विकासशील देशों में राजनीतिक मतभेदों को समाप्त करने इत्यादि हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. सी का गठन सन् .आई .बी .1963 ई. हुआ। सत्य/असत्य
2. संसद में लोकपाल विधेयक सर्वप्रथम मई 1968 ई. में पेश किया गया था। सत्य/असत्य
3. सर्वप्रथम लोकायुक्त अधिनियम 1970 में उड़ीसा सरकार ने बनाया था। सत्य/असत्य
4. राज्यों में लोकायुक्त की नियुक्ति 1971 ईसे प्रारम्भ हो गई है। सत्य/असत्य
5. महाराष्ट्र सभी राज्यों में प्रथम राज्य है जिसने 1971 में लोकायुक्त की नियुक्ति की। सत्य/असत्य

9.7 सारांश

इस पाठ के अध्ययन पश्चात जन शिकायत निवारण के बारे में भली-भाँति परिचित हो जायेंगे। इसके अन्तर्गत शिकायत कैसे की जाती है एवं उसके निवारण हेतु किसको आवेदन करना पड़ता है? लोक प्रशासन के दृष्टिकोण से लोक पाल विधेयक अत्यन्त आवश्यक है परन्तु पिछले कई वर्षों से अधर में लटका हुआ है। अभी-अभी इसकी चर्चा काफी जोरों पर है, कि इसका स्वरूप क्या होगा? एवं कोन-कौन से शासन के तंत्र इसमें सम्मिलित किये जायें?

9.8 शब्दावली

सी. वी. सी.	: केन्द्रीय सर्तकता आयोग
सी. वी. आई	: केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो
ए. आर. सी	: प्रशासन सुधार आयोग
ओम्बुड्समैन	: संस्था का नाम है जिसके अन्तर्गत लोक पाल एवं लोक आयुक्त आते हैं।

9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य ,
2. सत्य ,
3. सत्य
4. सत्य ,
5. सत्य

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

बसु, रूमकी - लोक प्रशासन
सडाना एवं शर्मा - लोक प्रशासन के सिद्धान्त

9.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

शर्मा एवं शर्मा - कार्मिक प्रशासन
कटारिया, सुरेन्द्र - कार्मिक प्रशासन

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. जन शिकायत निवारण से क्या समझते ? सतर्कता आयोग के कार्यों को विस्तार से लिखिये।
2. लोक प्रल विधेयक क्या है? इसमें कार्यों को विवेचना कीजिए।
3. लोक प्रशासन में तटस्थता पर एक निबन्ध लिखिए।

इकाई. 10: लोक सेवाएं, - अर्थ, कार्य, आधुनिक प्रवृत्तियाँ, विशेषताएं

इकाई की संरचना

- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 उद्देश्य
- 10.3 लोक सेवाएं- अर्थ
 - 10.3.1 लोक सेवा का उद्भव
 - 10.3.2 लोक सेवा के कार्य
 - 10.3.3 लोक सेवाओं की आधुनिक प्रवृत्तियाँ
 - 10.3.4 लोक सेवा की विशेषताएं
- 10.4 सारांश
- 10.5 शब्दावली
- 10.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 10.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 10.9 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

लोक प्रशासन विषय के रूप में अध्ययन हेतु लोक सेवाओं के बारे में जानना नितान्त आवश्यक है वरना विषय अधूरा रह जायेगा।

राज्य के बढ़ते हुये कार्यों के साथ कार्मिक वर्ग का योग एवं महत्व भी बढ़ता जा रहा है। पहले सरकारें प्रबन्धनीति में विश्वास करती थीं एवं अपने कार्यों को केवल समाज में कानून व्यवस्था बनाये रखने तक ही सीमित रखती थीं, उस समय तो कर्मचारी वर्ग में कार्य भी कुछ उद्देश्यों तक ही सीमित थे। परन्तु विज्ञान तथा शिल्पकला की प्रगति से विकासशील देशों में राज्य की क्रियाओं में असाधारण रूप में वृद्धि हुई है। वैश्वीकरण के दौर में सुशासन हेतु राज्य जन्म से मृत्यु-पर्यन्त मानवीय कल्याण में वृद्धि करता है। राज्य की क्रियायें अत्यन्त विस्तृत तथा विविध प्रकार की हो गयी हैं। राज्य समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण करता है। इन योजनाओं के सफलतम् क्रियान्वयन एवं अनुपालन को सुनिश्चित करने हेतु राज्य लोक सेवकों के माध्यम से नागरिकों तक पहुँचाता है।

मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास मनुष्य के अदम्य साहस, साहस, संघर्ष और जिजीविषा का दर्पण है। दर्पण वर्तमान काल होता है। इसके माध्यम से सही एवं ताजी आकृति दिखाई देती है। वर्तमान कल्याणकारी राज्य के प्रवर्तन में सभ्यता का विकास एवम विनाश पूर्णतः लोक सेवाओं तथा इसमें कार्यरत कार्मिकों पर निर्भर करता है। प्रो. डब्लू. बी. डोन हैम ने कहा है यदि हमारी वर्तमान सभ्यता का पतन हुआ तो ऐसा मुख्यतः प्रशासन की विफलता का कारण होता है। राज्य, प्रशासनिक अधिकारियों एवं लोक सेवकों के माध्यम से ही अपने बढ़े हुए उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। देश का संविधान, नीति निमाता मंत्रीगण कितने भी अच्छे क्यों

न हों, परन्तु बिना दक्ष सेविवर्ग के उस देश का शासन सफल नहीं हो सकता है। राज्य की नीतियाँ कितनी ही अच्छी क्यों न हों, उसके अच्छे परिणाम तभी निकल सकते हैं, जब उन्हें कुशलतापूर्वक एवं सत्यनिष्ठा के साथ क्रियान्वित किया जाये।

लोक सेवा के महत्व का प्रतिपादन प्रो. ऑग ने कुछ इस प्रकार कहा है। पसरकार का कार्य केवल राज्य सचिव तथा विभागों के अन्य प्रधानों, मण्डलों के सभापति, संसदीय अवर सचिवों, कनिष्ठ अधिपति तथा विशिष्ट अधिपति-दूसरे शब्दों में मन्त्रीगण द्वारा पूर्ण नहीं किया जा सकता है। इन लोगों से यह आशा नहीं की जाती है कि वे कर एकत्र करें एवं लेखा परीक्षण, कारखानों का निरीक्षण, जनगणना आदि कार्य करें, हिसाब रखने, डाक के वितरण और समाचार ले जाने की तो बात ही दूर है। ऐसे बहुमुखी कार्य तो उन अधिकारियों द्वारा किये जाते हैं जिन्हें स्थायी लोक सेवक कहा जाता है। स्त्री पुरुषों का यह विशाल समूह ही राष्ट्र के एक छोर से दूसरे छोर तक विधि का पालन करता है और इन्हीं के द्वारा जनसाधारण नित्यप्रति राष्ट्रीय सरकार के निकट सम्पर्क में आता है। जनता की दृष्टि में इस निकाय का महत्व भले ही कम हों, किन्तु मन्त्रालयों के लिए काम करने वालों की यह सेना सरकार के उन उद्देश्यों को, जिनके लिए सरकार विद्यमान है, पूर्ण करने के लिए आवश्यक नहीं है। हरमन फाइनर के शब्दों में, लोक प्रशासन में सेविवर्ग को ही सर्वोच्च तत्व माना जाता है। पिफनर के अनुसार सेविवर्ग को प्रशासन की आधारशिला कहा जाता है।

उपरोक्त विचारकों के मत से सेविवर्ग के कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि सुगठित तथा सुविचारित सेविवर्ग प्रशासन ही किसी प्रशासनिक संगठन की सफलता का मुख्य आधार है। फेलिम्स निग्रो का मानना है कि कार्मिकों की कुशलता तथा योग्यता ही संगठन की सफलता को निर्धारित करती है। योग्य तथा प्रतिबद्ध कर्मचारी कमजोर प्रशासनिक व्यवस्था की कमियों को दूर कर उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल रहते हैं जबकि अयोग्य तथा निकृष्ट कर्मचारी सर्वोत्कृष्ट प्रशासनिक व्यवस्था को भी असफल सिद्ध कर देते हैं।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप स्वतः निम्नलिखित तथ्यों से अवगत एवं लाभान्वित होंगे।

1. लोक सेवाएं किसे कहते हैं ?
2. लोक प्रशासन के सन्दर्भ में लोक सेवा के अर्थ से भली-भाँति परिचित होंगे।
3. इकाई में सबसे महत्वपूर्ण कार्य लोक सेवा के उद्भव एवं विकास दिया गया है।
4. लोक सेवाओं के कार्यों की भी भली भाँति चर्चा की गयी है।
5. प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक लोक सेवाओं के प्रकृति एवं कार्य क्षेत्र में परिवर्तित प्रारूप से भी ज्ञानार्जित होंगे।

10.3 लोक सेवाएं- अर्थ

लोक सेवा शब्द का प्रचलित अर्थ राज्य की प्रशासनिक सेवा को असैनिक शाखाएं हैं। ये वे कार्मिक वर्ग हैं जो शासन की नीतियों, कार्यक्रमों तथा विधियों में क्रियन्वयन में संलग्न है ताकि राज्य की रक्षा, जनकल्याण तथा विकास के लक्ष्य प्राप्त हो सके।

सैनिक सेवा देश के सैनिक प्रशासन से सम्बन्धित होती है तथा असैनिक सेवा असैनिक प्रशासन से। फाइनेर के शब्दों में लोक सेवा अधिकारियों का एक व्यावसायिक निकाय है जो स्थाई है, वैतनिक है तथा कार्यकुशल है।

ई. एन. ग्लैडन ने लोकसेवा की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है, प्रशासन के क्षेत्र में तटस्थ विशेषज्ञों का व्यावसायिक निकाय, जो निःस्वार्थ रूप से बिना राजनीतिक दलीय विचारों अथवा वर्ग हितों से प्रभावित हुए राष्ट्र की सेवा में प्राणपण से जुटा है। ब्रिटेन में 'लोक सेवा' शब्द का तात्पर्य उन कर्मचारियों से है जो प्राजनीतिक या न्यायिक पदाधिकारियों के अतिरिक्त ताज ;महारानी के वे सेवक जो असैनिक रूप से सेवायोजित हों और जिनका पारिश्रमिक पूर्णतः तथा प्रत्यक्षतः उस धनराशि में दिया जाता है जो संसद द्वारा इस हेतु स्वीकृत की गई हो। एल. डी. व्हाईट के अनुसार प्लोक सेवाएं, प्रशासनिक संगठन का ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सरकार अपने लक्ष्यों को प्राप्त करती है। ए. न्यू वेबस्टर विश्वकोश के अनुसार प्लोक सेवाओं से आशय निम्नलिखित सेवाओं से है।

1. रक्षा तथा न्यायिक कार्यों के अतिरिक्त वे सभी कार्मिक जो सरकारी प्रशासन में नियुक्त हैं।
2. ऐसी सरकारी सेवा जिसमें कार्मिक का कार्यकाल सुरक्षित है तथा प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से प्रवेश पाता है और
3. सरकारी विनियमों के अधीन गठित सेवा लोक सेवा है।

अमेरिकन विश्वकोश में लोक सेवा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है लोक सेवार्ये उन संगठित वेतनभोगी कार्मिकों के निकाय को कहते हैं जो सरकार के अधिकार क्षेत्र में कार्यरत है। ये सेवाएं तथा इनका नामकरण विभिन्न देशों की परम्पराओं के अनुसार होता है। यद्यपि आधुनिक राज्य में अधिकांश सेवाएं लोक सेवाएं ही हैं तथापि चुने हुए जनप्रतिनिधि तथा रक्षा कार्मिक 'लोक सेवा' से बाहर माने जाते रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक रूप में होता है, वहाँ संघीय सरकार में जो सरकारी कर्मचारी प्रतियोगिता परीक्षाओं के द्वारा योग्यता के आधार पर नियुक्त किये जाते हैं, उन्हें 'सिविल सर्विस प्रतियोगिता सेवा' अथवा 'वर्गीकृत सेवा' का नाम दिया जाता है। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों तथा नगरों की सेवा के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर जो व्यक्ति चुने जाते हैं, उन्हें भी सिविल सर्विस में सम्मिलित किया जाता है।

भारत में 1947 तक प्रतियोगिता के आधार पर चुने गये व्यक्ति इण्डियन सिविल सर्विस के अंग होते थे। ये सैनिक सेवा के व्यक्तियों से पृथक होते थे, किन्तु इंग्लैण्ड की भाँति उस समय तक यहाँ न्यायाधीशों एवं सरकारी, प्रशासकों के पृथक वर्ग नहीं थे। स्वतन्त्रता के बाद इन दोनों को पृथक कर दिया गया है तथा इसे 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' का नया नाम दे दिया गया है।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 21 में लोक सेवक को इस प्रकार परिभाषित किया गया है पसरकारी सेवारत या वेतन पाने वाला अथवा सरकारी कार्य के लिए शुल्क या कमीशन पाने वाला व्यक्ति 'लोक सेवक' की श्रेणी में आता है।

उपरोक्त कथनों के अनुसार लोक सेवकों की कोई निश्चित परिभाषा अभी तक नहीं विकसित हो पाई है। विभिन्न देशों की कार्मिक सेवायें तथा पदों का वर्गीकरण स्थानीय संस्कारों एवं पर्यावरण से प्रभावित होती है। सारांशतः लोक सेवा से तात्पर्य उन सरकारी सेवाओं से है जिसके पदाधिकारियों को वेतन सरकारी खजाने से प्राप्त होता है एवं जिन पर सरकार अपना नियंत्रण रखती है।

10.3.1 लोक सेवा का उद्भव

भारत में 'लोक सेवा' शब्द का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन के साथ हुआ है। कम्पनी में कार्यरत व्यापारिक तथा प्रशासनिक कार्मिकों के कार्यों के सम्बोधन हेतु यह शब्द प्रचलन में आया। जबकि लोक सेवाओं का जन्म ईस्वी सन 6 में चीन में हुआ। वर्तमान में लोक सेवा अनवरत विकास क्रम का परिणाम है। मानव सभ्यता के विकास के साथ ही शासक तथा शासित की प्रवृत्तियाँ विकसित होने लगी थीं। राज्य की शासकीय सत्ता का संचालन नियुक्त कर्मचारी द्वारा ही निष्पादित किया जाता था। इन्हीं को कालान्तर में लोक सेवक कहा जाने लगा एवं इनके द्वारा सम्पन्न कार्यों को लोक सेवाओं की संज्ञा दी गई। आदि काल से वर्तमान तक की लोक सेवाओं की यात्रा का विभिन्न चरणों में निम्न लिखित रूप स्पष्ट किया जा सकता है।

प्राचीन काल

अनुमानतः पृथ्वी की उत्पत्ति साढ़े चार अरब वर्ष पूर्व हुई परन्तु मानव की उत्पत्ति प्रागैतिहासिक काल में आज से तीस लाख वर्ष पूर्व हुई। वर्तमान मानव तीस-चालीस हजार वर्ष पूर्व में विकसित हुए ज्ञानी मानव की संतान है। ऐसा माना जाता है कि ईसा से चार से पाँच हजार वर्ष पूर्व सम्य मानव, समाज, परिवार कबीले तथा शासन करने जैसी अवधारणाओं से परिचित हो चुका था। सिन्धु घाटी सभ्यता लगभग साढ़े तीन हजार से पन्द्रह सौ वर्ष ईसा पूर्व में अस्तित्व में आ गई थी। मोहन जोदड़ों, हड़प्पा एवं सिन्धु घाटी सभ्यता ;तेईस सौ से सत्रह सौ पचार ईसा पूर्व में मिले अवशेषों के अभिलेख से स्पष्ट होता है कि मानव सभ्यता के विकास के आरम्भिक चरणों में सुसंगठित शासन एवं प्रशासन था। सिन्धु घाटी सभ्यता को नगरीय संस्कृति का प्रतिरूप माना जाता है जिसमें नगरीय प्रशासन से सम्बन्धित सारे क्रिया कलापों का समावेश है। निःसंदेह प्रशासन के उत्तरदायित्वों की पूर्ति कुशल तथा प्रतिबद्ध लोक सेवकों ;कार्मिकों द्वारा ही होती थी।

वैदिक काल में भारतीय प्रशासन का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। राजा को उसके शासन कार्यों में सहयोग एवं सहायता प्रदान करने हेतु एक सभा होती थी। सभा के पदसोपन सिद्धान्त के अन्तर्गत पुरोहित का पद सर्वोच्च एवं प्रमुख होता था। ग्रामीण हितों की रक्षा हेतु ग्रामीण का पद होता था जो ग्राम वासियों के हित एवं सुख सुविधा के लिए राजा को समयानुसार यथावश्यक परामर्श भी करता था। अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति आवश्यकतानुसार राजा के द्वारा सभा के सदस्यों के परामर्श पर की जाती थी। उत्तर वैदिक काल में राजा की सहायता हेतु मुख्यामात्य की नियुक्ति होने लगी थी। महाकाव्य काल में राजतंत्र तथा गणतंत्र दोनों प्रकार के राज्य थे। केन्द्रीय प्रशासन लगभग अट्टारह से इक्यीस विभागों के द्वारा संचालित होता था। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देने के लिए

गाँवों के समूह बना दिए जाते थे जो वर्तमान में तहसीलों एवं जनपदों की तरह कार्य करते हैं। ग्राम सबसे छोटी इकाई कहलाती थी। दस ग्रामों का 'ग्रामिक', बीस ग्रामों का 'विशंतये, एवं सौ ग्रामों का अधिकारी 'अधिपति' कहलाता था। प्रशासनिक कार्यों के स्वस्थ संचालन हेतु ये अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण रखते थे। कार्मिक प्रशासन का प्रमुख आधार योग्यता थी।

मौर्य तथा गुप्त काल

कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र प्रशासन के संदर्भ में एक प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है। मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री आचार्य चाणक्य; कौटिल्य थे। ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में लोक प्रशासन के बारे में विस्तृत वर्णन किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्राचीन भारत में लोक सेवाओं के महत्व तथा कार्मिक प्रशासन की समसामायिक संरचना का आभास होता है। मेगस्थनीज ने भी 'इण्डिका' नामक पुस्तक में उस समय के प्रशासन के बारे में लिखा है कि सारे प्रशासनिक कार्य छः विभिन्न समितियों द्वारा निष्पादित किये जाते थे। प्रत्येक समिति में पाँच सदस्य होते थे। प्रथम समिति हस्तशिल्प कार्य के प्रति उत्तरदायी थी। द्वितीय समिति राज्य में अतिथियों के स्वागत हेतु निर्मित थी अर्थात् जब कोई अतिथि राज्य में आता था तो इस समिति के कर्मचारी उनका स्वागत करते थे। जन्म एवं मृत्यु प्रमाण-पत्र प्रदत्त करने का कार्य एवं दायित्व तृतीय समिति का था। वाणिज्य एवं व्यापार सम्बन्धित कार्यों के लिए चतुर्थ समिति ही जिम्मेदार थी इनका काम सही माप तौल भी राज्य में सुनिश्चित करना था। वस्तुओं के उत्पादन एवं गुणवत्ता बनाये रखने का दायित्व पंचम समिति करती थी। कर निर्धारण एवं वसूलन का कार्य छठी समिति के पास था। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सफल संचालन हेतु सप्तांग सिद्धान्त को अनुसरण करना चाहिए। सप्तांग के अन्तर्गत स्वामी; राजा, अमात्य; मंत्री, जनपद; राज्य क्षेत्र, दुर्ग; किला, कोष; वित्त, दण्ड; सेना एवं मित्र; सहयोगी राजा सम्मिलित हैं। मौर्य काल में प्रशासन तंत्र के संचालन हेतु सत्रह वरिष्ठ अधिकारियों की नियुक्त की जाती थी। ये सत्रह अधिकारी गण विभिन्न विभागों के कार्यों के सुनिश्चित अनुपालन हेतु राजा को सहायता प्रदान करते थे। परामर्शदाता, धर्माधिकारी, सेना प्रमुख, राजा का पुत्र, महलों का रक्षक, राजा का सुरक्षाधिकारी, दण्डनायक, राजस्व एकत्रकर्ता एवं बजट निर्माता, आयुक्त, नगर रक्षक, नगर प्रमुख, खानों का प्रमुख अथवा लोक उपक्रम प्रभारी, समन्वयकर्ता, रक्षा विभाग, किले का रक्षक, सीमाओं का अधिकारी एवं वन अधिकारी क्रमशः होते थे। लोक सेवकों का वर्गीकरण का उल्लेख भी मौर्य काल में मिलता है। इन लोक सेवकों को क्रमानुसार तीन वर्गों में विभक्त किया गया था। उपयुक्त, युक्त एवं तत्पुरुष।

मुगल काल

मुगल साम्राज्य की नींव सन् पन्द्रह सौ छब्बीस में बाबर ने रखी थी। मुगलों की शासन प्रणाली फारसी एवं अरबी शासन व्यवस्थाओं का मिश्रण थी। मुगल शहशाह को राजकार्यों में सहायता प्रदान करने हेतु अनेक वरिष्ठ अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। मुगल शासन ने प्रशासन के दृष्टिकोण से सम्पूर्ण राज्य को विभिन्न चरणों में विभक्त कर दिया था। सर्वोच्च स्तर केन्द्रीय प्रशासन का था इसके अन्तर्गत शहशाह होते थे इनकी प्रशासनिक सेवायें विभिन्न कार्मिकों द्वारा प्रदत्त की जाती थी। वजीर को प्रधान मंत्री के समान उच्च स्थल प्राप्त था। फिर दीदान का पद सृजित था जिसको उप मंत्री का अधिकार प्राप्त था मुशारिफ; मुख्य लेखा अधिकारी, उलेमा; धार्मिक कार्यों के लिए इत्यादि पद हुआ करते थे।

प्रान्तीय स्तर पर जिसको सूबा कहते थे, नियंत्रण करने वाले को सूबेदार या नाजिम कहते थे। सूबेदार की सहायता हेतु प्रांतीय दीवान एवं बख्शी भी हुआ करते थे। सूबा को सरकार अर्थात् जिलों में बांटा हुआ था। सरकार का

अधिकारी फौजदार के नाम से प्रचलित था। फौजदार के अन्तर्गत अमीर, राजस्व अधिकारी, वित्तिकची, राजस्व कागजात तथा खजानदार लोग कार्य करते थे। प्रशासनिक दृष्टिकोण से सरकार परगना में विभक्त था। परगना का सर्वोच्च अधिकारी परगनाधिकारी कहलाता था। परगनाधिकारी को अन्य नामों से भी पुकारा जाता था। जैसे शिकदोर या शिगदार, परगना के अधीन गाँव होते थे। गाँव को 'भावडाह', 'डिह' या 'नगलाह' भी कहा जाता था। गाँवों की देखभाल हेतु मुकदम, लगान वसूली हेतु पटवारी तथा झगड़ों को निपटाने हेतु चौधरी होते थे। पटवारी शब्द आज भी लोक सेवक के रूप में विख्यात एवं प्रचलन में हैं। अकबर के शासन काल में मनसबदारी प्रथा शुरू हुई। मनसब के मायने रखना या निश्चित करने से है। मनसबदारी शाही सेवा में कार्यरत अधिकारियों की पद, प्रतिष्ठा, सत्ता एवं अधिकार को दर्शाने वाली प्रथा थी। श्आर्मी आफ द इण्डियन मुगल्स पुस्तक के अनुसार मनसबदारी प्रथा को तीन श्रेणियों में बाँटा गया था। श्रेणी के अनुसार मनसबदारियों का वेतन भी निर्धारित था। वेतन का विभाग दीवना-ए-तन कहलाता था। तनख्वाह शब्द भी मुगलशासन की देन है। आज के संदर्भ में लोक सेवकों को वेतन मान दिया जाता है यह शब्द तनख्वाह शब्द का प्रर्यायवाची है। अकबर के नौ रत्नों में एक रत्न अबुल फजल भी थे। इनके द्वारा रचित आइने अकबरी में लोक सेवकों का कार्य एक अधिकार वर्णित है। कोतवाल नाम से नियुक्त अधिकारी का वर्णन आइने अकबरी में किया गया है।

ब्रिटिश शासन काल

आधुनिक लोक सेवाओं का इतिहास ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन के साथ ही लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई। कम्पनी द्वारा नियुक्त होने वाला लोक सेवक को राइटर कहते थे। इसका कार्य लिपिकीय गतिविधियाँ एवं रिकार्ड सम्बन्धी कार्यों के निष्पादन से सम्बद्ध रखता था। कम्पनी में दो प्रकार की प्रसंविद एवं अप्रसंविद लोक सेवाएं हुआ करती थीं। प्रसंविद सेवा का अर्थ है कि इस प्रकार की सेवाओं में सेवाकर्मी संविदा के रूप में रखे जाते थे। इनमें प्रायः उच्च पद जैसे लेखाधिकारी सुरक्षा अधिकारी आदि सम्मिलित थे। ये पद सिर्फ 'अंग्रेजों' द्वारा ही सुशोभित होत थे। अन्य लोगों अर्थात् भारतीयों पर निष्ठा एवं विश्वास पर प्रश्न चिन्ह लगा था। अप्रसंविद सेवा में भारतीय, अंग्रेज, पेरिस के लोग एवं पुर्तगाली भी सम्मिलित थे। प्रारम्भिक दिनों में ये दोनों उपरोक्त प्रकार के लोक सेवक कम्पनी के व्यापारिक कार्यों में हाथ बटाते रहे। सन् 1765 में मुगल बादशाह शाह आलम ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा का दीवान बना दिया। क्योंकि इससे पहले भारतीय प्लासी एवं वक्सर की लड़ाई हार चुके थे। परिणाम स्वरूप उपरोक्त राज्यों से राजस्व एकत्र तथा दीवानी न्याय प्रशासन का दायित्व कम्पनी को मिल गया। यही वह समय था जब कम्पनी व्यापारिक संस्था शासक बन गई। सन् 1765 से कम्पनी के अभिलेख में सिविल सर्वेन्ट शब्द प्रयुक्त होने लगा था। वारेन हेस्टिंग्स गर्वनर जनरल भारत में प्रथम रेगुलेटिंग एक्ट 1773 के द्वारा पारित नियमों के क्रियान्वयन एवं अनुपालन सुनिश्चित करने हेतु आये। इसी समय से कम्पनी के लोक सेवाओं का रूप नौकरशाही नुमा होने लगा था। इनका कार्य क्षेत्र भी बढ़ गया था जैसे राजस्व एकत्र करना, शांति तथा सुरक्षा की स्थापना एवं भारतीयों पर करने का हो गया था। राल्फ शेल्डन 1772 में प्रथम जिला कलक्टर के पद पर आसीन हुए थे। यद्यपि यह पद अगले ही वर्ष समाप्त भी कर दिया गया। 1786 में जिला राजस्व इकाई का जन्म हुआ तथा सन् 1787 में राजस्व एवं दण्ड नायक कार्य संयुक्त करके जिला कलक्टर नियुक्त होने लगे। भारत में लोक सेवाओं में जनक लार्ड कार्नवालिस माने जाते हैं। इन्होंने लोक सेवाओं की संहिता भी तैयार की। इसके अन्तर्गत लोक सेवकों को प्रर्याप्त वेतनमान एवं उत्तरदायी भी बनाया गया। लार्ड वेलेजली के शासन काल में ही फोर्ट विलियम कालेज, नाम की एक संस्था थी कलकत्ता में, लोक सेवकों के प्रशिक्षण हेतु स्थापना हुई थी। इसमें तीन वर्ष का प्रशिक्षण कम्पनी के अधिकारियों को देने की परम्परा थी। इस प्रशिक्षण संस्थान में अधिकारियों को

भारतीय भाषाओं के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। सन् 1813 में लार्ड ग्रेनविले ने योग्यता आधारित भर्ती का प्रस्ताव भी रखा।

आधुनिक योग्यता प्रणाली सन् 1853 में आरम्भ हुई। सन् 1855 में सिविल सर्विस कमीशन के माध्यम से जो कि लन्दन में स्थित था प्रवेश परीक्षा आयोजित करने लगी। प्रवेश परीक्षा में आयु सीमा 19 से 22 वर्ष की रखी गई। इसका सारा श्रेय लार्ड मैकाले को जाता। सन् 1864 में पहली बार भारतीय मूल के निवासी सत्येन्द्र नाथ टैगोर ने सिविल सेवा परीक्षा उत्तीर्ण की थी। सन् 1855 से 1921 तक आई. सी. एस. परीक्षा लन्दन में होती थी। सन् 1922 में लन्दन एवं इलाहाबाद में परीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई। लार्ड कैनिंग ने सन् 1859 में विभागीय व्यवस्था शुरू की। इसके अन्तर्गत प्रशासन के कार्यों को विभिन्न शाखाओं के बॉटने की शुरूआत हुई। एचीसन आयोग ने पूर्व में प्रचलित दोनों प्रकार की लोक सेवाओं की व्यवस्था को समाप्त कर अन्य तीन प्रकार की लोक सेवायें प्रारम्भ की। ये सेवायें इम्पीरियल सिविल सर्विस, प्रोविन्सियल सिविल सर्विस एवं सब आर्डिनेट सिविल सर्विस नाम से जानी जाती थीं। इम्पीरियल सिविल सर्विस के अन्तर्गत भर्ती की प्रक्रिया लन्दन में होती थी। बाकी दोनों सेवाओं की भर्ती भारत में होनी शुरू हो गई थी। प्रांतों में सांविधिक लोक सेवा को समाप्त करके नई प्रोविन्सियल सिविल सर्विस के अधिकारियों को इम्पीरियल सिविल सर्विस में पदोन्नति दी जाने लगी।

भारतीयों द्वारा इंग्लैण्ड तथा भारत में एक साथ सिविल सर्विस आयोजित करने की मांग पर सन् 1912 में इस्तिगंटन आयोग हुआ। आयोग ने 25 प्रतिशत पद भारतीयों के लिए इम्पीरियल सिविल सर्विस में सुरक्षित करने की सिफारिश की। 1919 में गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट के तहत दोहरे शासन की शुरूआत हुई जो सेवाएं प्रत्यक्षतः सुप्रीम गवर्नमेण्ट के अधीन थीं उनको केन्द्रीय सेवाएं मानी गईं जैसे रेलवे, कस्टम आदि। अन्य इम्पीरियल सेवाओं को अखिल भारतीय सेवाओं का नाम दिया गया जिसके अन्तर्गत, इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डिया पुलिस, इण्डिया सर्विस आफ इन्जीनियर्स तथा इण्डिया एजुकेशन सर्विस सम्मिलित की गई। प्रांतीय सेवाओं को प्रांत के नाम से जाना जाने लगा। सन् 1923 में ली आफ फर्नहाम की अध्यक्षता में बने आयोग की अनुशंसा पर भारत में केन्द्रीय लोक सेवा आयोग की स्थापना 1926 में की गई। इस आयोग के गठन का उद्देश्य लोक सेवाओं में सुधार का था।

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के माध्यम से शासन तथा प्रशासन को उत्तरदायित्व पूर्ण बनाया गया। 15 अगस्त 1947 को भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित हुआ। फलस्वरूप ब्रिटिश काल में बना इम्पीरियल सेक्रेटेरिएट सन् 1950 में केन्द्रीय सचिवालय कहलाने लगा।

स्वतंत्रता के पश्चात 26 जनवरी, 1950 से संघीय लोक सेवा आयोग का नाम बदल कर संघ लोक सेवा आयोग पड़ा तथा इण्डियन सिविल सर्विस ;आई. सी. एस. को इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस नाम दिया गया। ब्रिटिश कालीन लोक सेवाओं का विकास दो शताब्दियों के संक्रमणकाल से गुजरा था। ब्रिटिश शासन में सिविल सेवाओं में महिलाओं का स्थान नहीं था। दिनांक 18 जुलाई 1948 से भारत में महिलाओं को सिविल सर्विस के अनुमति दी गई तथा 1949 में कर्नाटक की चोनिरा वेलिप्पा मुथम्मा भारतीय विदेश सेवा की प्रथम महिला अधिकारी बनी। सन् 1950 में एना राजम जार्ज प्रथम महिला आई. ए. एस. अधिकारी बनी तथा सन् 1972 में किरण वेदी प्रथम महिला आई. पी. एस. अधिकारी बनी।

अभ्यास प्रश्न 2

1. स्वतंत्रता पश्चात लोक सेवा आयोग का क्या नाम है?
2. आई. सी. एस. के नाम को बदल कर अब क्या कहा जाता है?

10.3.2 लोक सेवा के कार्य

वर्तमान में विश्व की किसी भी शासन व्यवस्था में लोक सेवाओं के बिना, शासन की नीतियों एवं कार्यक्रमों के संचालन की कल्पना तक नहीं की जा सकती है। आधुनिक समय में लोक सेवा को अनेक प्रकार के कार्य करने होते हैं। मुख्य रूप से इनके कार्यों का विभाजन तीन प्रकार से किया जा सकता है। प्रशासनिक, विधार्थ एवं न्यायिक प्रकार। अरस्तू के अनुसार प्राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और अच्छे जीवन के लिए उसका अस्तित्व बना हुआ है। स्पष्ट है कि वर्तमान शासन व्यवस्थाओं में राज्य के कंधों पर जन कल्याण तथा सुरक्षा के गुरुतर दायित्व हैं जिनके क्रियान्वयन का

माध्यम लोक सेवाएं ही हैं। लोक सेवाओं में विपुल, योग्य तथा निपुण कार्मिकों की सहायता से ही शासन की नीतियों, योजनाओं तथा कार्यक्रमों की व्यावहारिक स्तर पर क्रियान्वित सम्भव हो पाती है। लोक सेवा के समस्त कार्यों का वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं है परन्तु इनके द्वारा निष्पादित मुख्य कार्यों का विवेचन निम्नलिखित है।

1. नीति निर्माण: नीतिनिर्माणकरना मंत्रियों व संसद का कार्य है। क्योंकि वे जन प्रतिनिधि होते हैं और जनता द्वारा सीधे चुनाव से जीत कर आते हैं जो कि लोक तंत्र का परिचायक भी है। किन्तु व्यावहारिक रूप से नीति निर्माण में परोक्ष रूप से लोक सेवकों का बहुत बड़ा हाथ होता है। अपने कुशाग्र बुद्धि एवं निपुण होने से ये लोक सेवक, नीतिनिर्माणमें काफी सहायक होते हैं।

2. नीति क्रियान्वयन में: नीति निर्धारण के पश्चात उनका क्रियान्वयन अत्यन्त आवश्यक है। इसका सम्पूर्ण दायित्व लोक सेवकों पर ही होता है। कार्यक्रम तभी सफल होते हैं जब उनको सही रूप से क्रियान्वित किया जाये वरना अच्छी से अच्छी नीतियाँ कागज के पन्नों में सिर्फ शब्द बन कर रह जाती है।

3. परामर्शकर्ता के रूप में: लोक सेवा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य राजनीतिक कार्यपालिका के सदस्यों अर्थात् मंत्रीगण को सलाह देना भी है। यद्यपि शासन मंत्रियों द्वारा ही संचालित होता है। परन्तु उनके सफल संचालन का उत्तरदायित्व लोक सेवकों पर ही होता है। मन्त्रियों को शासन प्रणाली तंत्र का बहुत ज्ञान नहीं होता है। प्रशासन के सफल संचालन में अपने विश्वसनीय अधिकारियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। रैमजेम्योर कहते हैं कि 'क्षौ में से निन्यानवे मामलों में मन्त्रीगण लोक सेवाओं की राय मान लेते हैं और नियत स्थान पर हस्ताक्षर भी कर देते हैं' जोसेफ चैम्बर लेन, ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने यहाँ तक कहा है कि मुझे सन्देह है कि आप लोग ;लोक सेवक हमारे बिना काम चला सकते हैं, परन्तु मेरा पक्का विश्वास है कि हम लोग ;मन्त्रीगण आपके बिना काम नहीं चला सकते।

4. प्रत्यायोजित विधि निर्माण: वर्तमान में लोक सेवकों को प्रत्यायोजित विधि निर्माण का कार्य भी करना पड़ता है। अधिक कार्य एवं समयाभाव के कारण संसद अनेक जटिल विषयों पर विधि का मूर्तिरूप प्रदत्त कर पाती है जब कि वास्तविक रूप से लोक सेवक ही सूक्ष्म एवं व्यापक रूप रेखा प्रदान करते हैं।

5. अर्ध-न्यायिक कार्य: लोक सेवकों को अर्ध-न्यायिक प्रकृति के कार्य भी करने पड़ते हैं। प्रशासनिक कानून तथा प्रशासनिक अधिनिर्णय के फलस्वरूप प्रशासक न केवल प्रशासन करते हैं अपितु न्याय भी करते हैं। राज्य के कार्य क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ प्रशासनिक अधिनिर्णय की मात्रा भी बढ़ती जा रही है।

6. विकास एवं परिवर्तन में सहायक: कृषि एवं आर्थिक व्यवस्था को सृदृढ़ बनाने वाले समस्त उद्योगों का विकास, मशीनीकरण, संसाधनों का समुचित दोहन, आयात-निर्यात में संतुलन, उत्पादन तथा आय में वृद्धि एवं जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक कारकों को प्रगतिशील बनाये रखने हेतु लोक सेवाओं की भूमिका अहम और सर्वविदित है। आर्थिक एवं सामाजिक विकास प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हैं। जे. जे. स्पेंगलर के मतानुसार सामान्यतः विकास तब माना जाता है जबकि वांछनीय तथा प्राथमिक माने जाने वाली वस्तुओं का सूचकांक बढ़ जाए।

7. राष्ट्रीय एकता में सहायक: भारत सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विविधताओं से ओत प्रोत है। जिसमें भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता की सामाजिक समस्याएं भी विद्यमान हैं। इन समस्याओं को सुलझाने में लोक सेवकों का बहुत बड़ा योगदान रहता है। लोक सेवकों का कार्य क्षेत्र राष्ट्रीय स्तर के होते हैं एवं तटस्थता तथा समानता के आधार पर कार्य करते हैं जो कि समस्याओं के समाधान में बहुत कारगर होती है।

8. लोक सेवक के रूप में: विकासशील एवम लोकतांत्रिक देश में लोक सेवक शब्द अप्रत्यक्ष सेवा करने का नाम है। यहाँ उनसे अपेक्षा की जाती है कि लोक सेवाएं अपनी भूमिका निभाने के लिए जन साधारण के साथ तादात्म्य स्थापित करें।

सारांशतः कहा जा सकता है कि आधुनिक कल्याणकारी शासन व्यवस्थाओं में लोक सेवाएं एक महत्वपूर्ण निकाय है जो सम्पूर्ण विकास तंत्र का मुख्य आधार भी है।

10.3.3 लोक सेवाओं की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

लोक सेवाओं की प्रवृत्तियाँ समयानुकूल होती हैं। कहने का तात्पर्य है कि राजनीतिक परिवर्तनों, वैज्ञानिक एवं तकनीकी अविष्कारों, मानव मूल्य के नये आयामों एवं परिवर्तित समस्याओं की चुनौती द्वारा इसके लक्ष्य, संगठन, प्रक्रिया, औचित्य इत्यादि को उन्ही के अनुरूप परिवर्तित किया जाता है। उपरोक्त परिवर्तित परिवेश से उत्पन्न हुई नई समस्याओं, को हल करने के लिए लोक सेवाओं की प्रवृत्तियों के बदलाव आज भी परमावश्यक है। वर्तमान में लोक सेवकों की प्रवृत्तियाँ निम्नवत् हैं।

1. संख्यात्मक विकास: लोक सेवा की संख्या में निरन्तर तेजी से वृद्धि हो रही है। पार्किन्स के नियमानुसार 1955 ई. लोक कर्मचारियों की संख्या में अनवरत वृद्धि से भलीभाँति परिचित हैं। विकसित राष्ट्र जैसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संघीय कर्मचारियों की संख्या सन् अटठारह सौ सत्रह में छः हजार पाँच सौ के लगभग थी वहीं उन्नीस सौ सत्तावन में इनकी वृद्धि तेईस लाख हो गयी थी। पार्किन्स नियम के अनुसार प्रतिवर्ष 5.75 प्रतिशत औसत की दर से नौकरशाही वृद्धि करती है। इसे राइजिंग पिरामिड आफ ब्यूरोक्रेसी के नाम से भी जाना जाता है।

2. वैज्ञानिक एवं तकनीकी विशेषज्ञ: लोक सेवा में सरकारी कार्यों की प्रकृति के परिवर्तन के साथ-साथ वैज्ञानिकों एवं तकनीकी विशेषज्ञों की नियुक्ति होने लगी है। सरकार अब अधिकाधिक वैज्ञानिकों, डाक्टरों, अभियन्ताओं, अर्थशास्त्रियों, कृषिशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों को भी नियुक्त करती है।

3. लोक सेवक की बढ़ती शक्तियाँ: लोक प्रशासन के उद्भव काल से लेकर अब तक कई पड़ाव आये साथ ही साथ इसकी व्याख्या भी बदलती गई जो पहले संकुचित विचारधारा तक ही सीमित थी अब वो काफी व्यापक हो गयी और नवीन लोक प्रबंधन की संज्ञा से परिभाषित किया जाता है। परिणामतः लोक प्रशासन के विस्तार में वृद्धि हुई और उसका कार्य अधिकाधिक प्राविधिक स्वरूप धारण करता गया है। अब लोक कर्मचारी पहले की भाँति केवल पुलिस या राजस्व अधिकारी मात्र नहीं है वरन विकास कार्यक्रम के अनेक पहलुओं से जुड़े हैं। स्वतन्त्र भारत की आर्थिक तथा सामाजिक कठिनाइयों ने एक कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी समाज की धारणा एवं उसकी स्थापना के विचार को बल दिया है।

4. तटस्थता: लोक सेवा की परम्परागत गुण तटस्थता रहा है। तटस्थता का अर्थ है लोक सेवकों को राजनीतिक कार्यों व गतिविधियों से अलग बनाये रखना एवं अपने को निर्लिप्त रखना। आज के परिप्रेक्ष्य में निष्पक्षता का स्थान प्रतिबद्धता ले चुकी है। फलस्वरूप नीति निर्माण में भी लोक सेवाओं की अहम भूमिका रहती है। इनके उपलब्धियों का मूल्यांकन राजनीतिक कार्यपालिका करती है।

5. सकारात्मक प्रकृति: लोक सेवकों के चरित्र में काफी परिवर्तन आ गया है। प्रारम्भ में ये नकारात्मक सोंच रखते थे। एवं नागरिक के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते थे। वर्तमान में बिल्कुल विपरीत हो रहा है जो सोंच नागरिक के विश्वास एवं विकास में बाधा बनती थी वही अब उनके कठिनाइयों के समाधान खोजने एवम मार्ग प्रशस्त करने को तत्पर रहती है।

6. व्यावसायिक मानदण्ड: लोक सेवकों में उच्च मनोबल तथा ईमानदारी बनाये रखने हेतु व्यावसायिक मानदण्डों पर काफी बल दिया जाता है। अन्य व्यवसायों जैसे चिकित्सा, पत्रकारिता, विधि आदि की भाँति यदि लोक सेवा भी एक व्यवसाय बन जाता है तो व्यावसायिक मानदण्ड तथा आचरण की संहिताएं शीघ्र ही स्थापित हो जायेंगी।

7. प्रबन्धक के रूप में: विकास शील देशों में विकास का लक्ष्य मुख्य है। समाज के प्रत्येक वर्ग को विकास कार्यक्रमों की जानकारी देना, एवं उनतक पहुँचाने के लिए विकास कार्यक्रमों का अनुपालन सुनिश्चित करना लोक सेवकों का दायित्व बन गया है।

अभ्यास प्रश्न .3

1. लोक सेवी के विकास एवं परिवर्तन में सहायक की भूमिका में कौन-कौन सी बातें आवश्यक हैं?
2. तटस्थता के क्या तात्पर्य है?

10.3.4 लोक सेवा की विशेषताएं

डा. एल. डी. व्हाइट के शब्दों में- लोक सेवाएं प्रशासनिक संगठन का ऐसा माध्यम हैं जिसके द्वारा सरकार अपने लक्ष्यों को प्राप्त करती है | आधुनिक लोक सेवा की विशेषताएं निम्नलिखित विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं--

1. निपुण लोक सेवक - लोक सेवा ऐसे कार्यकर्ताओं ;अधिकारियों का एक व्यवसायिक वर्ग है जो कि प्रशिक्षित, कुशल, स्थायी तथा वेतन भोगी हैं। लोक सेवकों का कार्य कुशल रूप से प्रशासन का संचालन करना होता है। प्रशासन का कार्य करना ही लोक सेवकों का पूर्णकालिक प्रशासनिक व्यवसाय है। प्रशासनिक कार्यों के निष्पादन हेतु उन्हें वेतन मिलता है।
2. पदानुक्रम का सिद्धान्त - लोक सेवकों का संगठन लोक प्रशासन के पद-सोपान के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अन्तर्गत वरिष्ठ अधिकारी अपने द्वारा दिये गये आदेशों को अनुपालन अपने अधीनस्थ अधिकारी द्वारा सुनिश्चित कराता है।
3. तटस्थता का दृष्टिकोण - लोक सेवकों की यह महत्वपूर्ण विशेषता है। वे राज्य के सेवक होते हैं। इन्हें सत्तारूढ़ दलों की सेवा करनी पड़ती है।
4. अनामता का सिद्धान्त - लोक सेवक प्रत्येक कार्य के निष्पादन पश्चात अनाम ही बने रहते हैं। इनके द्वारा निष्पादित कार्यों का सेहरा जन प्रतिनिधियों के सर मढ़ता है।
5. निष्पक्षता - निष्पक्ष रूप से लोक सेवकों का कार्य करना ही निष्पक्षता है। ये समाज के प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति के लिए बिना पक्षपात के राज्य के आदेशों एवं नियमों को लागू करने से लेकर अनुपालन तक सुनिश्चित करते हैं।
6. वचनबद्धता- सत्तारूढ़ दल के कार्यक्रमों के साथ लोक सेवक वचनबद्ध होते हैं। सार्वजनिक अधिकारियों को राजनीतिक दलों का सदस्य बनने एवं उनकी बैठकों में भाग लेने की अनुमति नहीं होती है।
7. देश के कानून द्वारा सेवकों के कर्तव्यों की व्याख्या की जाती है। अतः उन्हें संविधियों में उल्लिखित न्यूनतम तथा अधिकतम अनुज्ञाओं की सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करना होता है।
8. उत्तरदायी - जनता के द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। क्योंकि प्रजातंत्र में जनता ही सम्प्रभु होती है।

एस. आई. फाइनर के शब्दों में जो उनके द्वारा स्वरचित पुस्तक “ए प्रीमियर आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन” से उद्धरित है, कि लोक सेवा का अस्तित्व लाभोपार्जन के लिए नहीं होता है। अतः इसके सदस्यों की प्रेरणा अन्तिम आश्रय के रूप में, वेतन प्राप्त करने की ही होती है, जोखिम उठाकर अधिक धन कमाने की नहीं। दूसरी बात यह कही है कि लोक सेवा सार्वजनिक होती है अतः इनके कार्यों की दृढ़ एवं सूक्ष्म जाँच की जाती है और वे अस्वीकृत भी किये जा सकते हैं। इस प्रकार से उनकी लोचशीलता तथा तत्परता सीमित हो जाती है और अन्त में तीसरी बात लिखते हैं कि लोक सेवकों तथा उनके मन्त्रियों को निरन्तर संसद की आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। इससे उन्हें अवसरों के प्रति सतर्क एवं सन्नद्ध रहने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। अन्ततः इनकी सेवाएं व्यापक होती हैं। अतः ये अपने स्टाफ सम्बन्धों की ओर विशेष ध्यान दे और इनमें पारम्परिक प्रेम के अभाव अथवा विवाद को दूर करने के लिए सेवा की कोटि के सम्भावित व्यय पर व्यवहार की समानता उत्पन्न करें।

अभ्यास प्रश्न

1. लोक सेवाओं का जन्म चीन में हुआ। सत्य /असत्य
2. कौटिल्य द्वारा रचित ग्रन्थ अर्थशास्त्र है। सत्य /असत्य

- 3.मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य था। सत्य /असत्य
- 4.मेगस्थनीज की पुस्तक 'इण्डिका' है। सत्य /असत्य
- 5.कौटिल्य के अनुसार राज्य के सफल संचालन हेतु सप्तांग सिद्धान्त को अनुसरण करना चाहिए। सत्य /असत्य

10.4 सारांश

संगठन को निर्मित करते समय उद्देश्य होता है। उस उद्देश्य के पूर्ति के लिए मानव संसाधन की भी आवश्यकता पड़ती है। लोक प्रशासन की भाषा में संगठन में कार्यरत लोगों को कार्मिक को निकाल दे तो वह एक अमूर्त वस्तु बन जाता है, अर्थात् वह पारस्परिक सम्बन्धों की एक ऐसी व्यवस्था मात्र रह जाता है जो संगठन के मस्तिष्क में अथवा कागज पर होती है। संगठन के भीतर विविध पदों पर कार्य करने वाले सामूहिक रूप से अथक सेवाओं के नाम से पुकारे जाते हैं।

10.5 शब्दावली

सेविवर्ग: पिफनर के अनुसार 'सेविवर्ग' को प्रशासन की आधारभिला कहा जाता है।

इण्डियन सिविल सर्विस: 1947 तक प्रतियोगिता के आधार पर चुने जाते थे। स्वतंत्रता पश्चात इसे भारतीयप्रशासनिकसेवा का नया नाम दिया गया है।

10.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य
2. सत्य
3. सत्य
4. सत्य

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- कटारिया, सुरेन्द्र- कार्मिक प्रशासन
 शर्मा एवं जैन - लोक सेवीवर्गीय प्रशासन
 शर्मा एवं सडाना - लोक प्रशासन

10.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

योडर, डेल- कार्मिक प्रबन्धन एवम औद्योगिक सम्बन्ध

एस. डब्लू. एवम केरने आर. सी- लोक कार्मिक

10.9 निबंधात्मक प्रश्न

- 1.लोक सेवा की परिभाषा दीजिए। भारत में लोक सेवा की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
- 2.लोक सेवा के अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
- 3.लोक सेवा के विकास पर एक निबन्ध लिखिए।

इकाई 11 अखिल भारतीय सेवाएं, केन्द्रीय सेवाएं

इकाई की संरचना

- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 उद्देश्य
- 11.3 अखिल भारतीय सेवाओं की आवश्यकता एवं ऐतिहासिक विकास
 - 11.3.1 अखिल भारतीय सेवाओं का गठन
 - 11.3.2 भारतीय प्रशासनिक सेवा का महत्व
 - 11.3.3 भर्ती प्रणाली के महत्व एवं मूल सिद्धान्त
 - 11.3.4 अखिल भारतीय सेवाओं के कार्मिकों का प्रशिक्षण एवं उसका महत्व
- 11.4 केन्द्रीय सेवाएं
 - 11.4.1 भर्ती का अर्थ
 - 11.4.2 भर्ती की रीतियाँ
 - 11.4.3 चयन
 - 11.4.4 योग्यता प्रणाली का मापदण्ड
 - 11.4.5 प्रशिक्षण
 - 11.4.6 प्रशिक्षण के प्रकार
- 11.5 सारांश
- 11.6 शब्दावली
- 11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 11.10 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

कार्मिक-वर्ग सरकारी तन्त्र का संचालन करता है। नीति, विधियों, नियमों तथा विनियमों को क्रियान्वित करने के लिए प्रशासन जो भी कार्यवाहियाँ करता है वे सब कर्मचारी-वर्ग द्वारा ही की जाती हैं। इनके द्वारा प्रदत्त सेवाओं को अखिल भारतीय सेवाएं कही जाती हैं।

इस अध्याय को तीन भागों में विभक्त किया गया है। अखिल भारतीय सेवाएं, केन्द्रीय सेवाएं, भर्ती एवं प्रशिक्षण अखिल भारतीय सेवाओं का गठन संविधान के अनुच्छेद 312 के अन्तर्गत की गई हैं। इसी को अखिल भारतीय सेवा अधिनियम की संज्ञा दी गई है।

इनके चयन में तीन चरणों का प्रक्रिया अपनायी जाती है। इन्हें क्रमशः प्रारम्भिक परीक्षा, मुख्य परीक्षा एवं साक्षात्काल कहा जाता है।

चयनोपरान्त भर्ती एवं प्रशिक्षण का कार्य प्रारम्भ होता है। भर्ती वह प्रक्रिया है जिसमें परोक्ष रूप से संगठन का भविष्य निहित होता है क्योंकि संगठन की सफलता एवं कुशलता कार्मिकों की प्रयत्नता पर आश्रित होती है।

प्रशिक्षण कार्मिक प्रशासन का अभिन्न अंग है। इसके द्वारा कार्मिकों में आत्म विश्वास, निपुणता, निर्णय की क्षमता आदि में वृहद बढ़ोत्तरी होती है।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने से अखिल भारतीय सेवाओं नामक शीर्षक से भली-भाँति परिचित हो जायेंगे--

1. भारत में संघात्मक शासन प्रणाली को अपनाया गया है।
2. संघीय संविधान में केन्द्र एवं राज्यों की सेवायें भिन्न होती हैं।
3. भारतीय संविधान में सम्मिलित सेवाओं का प्रावधान है इसी को अखिल भारतीय सेवायें कहते हैं।
4. संघीय प्रशासन एवं राज्य प्रशासन दोनों के लिए समान रूप से अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना की गई है।
5. अखिल भारतीय सेवाओं की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है।

11.3 अखिल भारतीय सेवाओं की आवश्यकता एवं ऐतिहासिक विकास

अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना की आवश्यकता पर टिप्पणी करते हुए संविधान प्रारूप निर्मात्री समिति के अध्यक्ष डॉ. भीम राव अम्बेडकर ने संविधान सभा के समक्ष अपने वक्तव्य में कहा था कि यह मानी हुई बात है कि प्रत्येक देश में उसकी प्रशासकीय रचना में कुछ ऐसे पद होते हैं जो प्रशासनिक स्तर को बनाये रखने के विचार से महत्वपूर्ण हो सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रशासनिक स्तर इन पदों पर नियुक्त लोक सेवकों की योग्यता पर निर्भर होता है। संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि एक अखिल भारतीय सेवा होगी और केवल उस सेवा के ही सदस्य संघ भर में ऐसे महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किये जा सकेंगे। इस प्रकार अम्बेडकर ने उस योगदान पर बल दिया जिससे इस प्रकार की सेवा द्वारा संघ और राज्यों के प्रशासन में अधिक कार्यकुशलता उत्पन्न की जा सके।

साइमन कमीशन के अनुसार इतने विशाल क्षेत्र में यदि सम्पर्क बनाये रखना है तो केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच सेवाओं का उचित चक्र आवश्यक है। ए. डी. गोरवाला के शब्दों में, राष्ट्रीय एकता की स्थापना में यह ;सेवाएँ एक मूल्यवान योगदान सिद्ध होगी। प्रत्येक प्रान्त अपने प्रशासन में बहुत से ऐसे तत्वों की एक प्रतिकृति उत्पन्न कर लेगा जो इस प्राचीन देश की सम्पन्नता में योग देते हैं। एक बड़ा नाटककार ऐसी विश्व सरकार की बात सोचता है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक देश का स्थानीय प्रशासन उस देश के निवासियों द्वारा ही चलाया जाता है, जिससे प्रशासन निष्पक्ष हो और साथ ही सभी देशों के निवासियों को विश्व एकता की अनिवार्यता का ज्ञान हो सके। हम भारतीय इतने भाग्यशाली हैं कि यदि हम चाहें तो इस प्रयोग को एक बड़े पैमाने पर कार्यान्वित कर सकते हैं। विघटनकारी प्रवृत्तियों को सफलतापूर्वक रोक कर एकरूपता स्थापित कर सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह सेवा देश भर में प्रशासकीय प्रणाली में समरूपता स्थापित करने में प्रभावशाली एवं आवश्यक है।

भारत में ब्रिटिश काल में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के समय में ही भारतीय सिविल सेवा की रचना हुई थी। अतः भारत में हमेशा ही सेवाओं का अखिल भारतीय संवर्ग उपस्थित रहा है। जो कि बाद में धीरे-धीरे अखिल भारतीय संवर्गों की संघीय सरकार के विभिन्न विभागों में अधिकारियों का संवर्ग स्थापित हो गया, परन्तु ये सभी सेवाएँ

गवर्नर जनरल के नियन्त्रण में न होकर सीधे भारत मंत्री और उसकी परिषद के अधीन थीं। अखिल भारतीय सेवा के किसी भी पदाधिकारी को 'सपरिषद भारत मंत्री' के अतिरिक्त अन्य कोई अधिकारी सेवा से अपदस्थ नहीं कर सकता था। भारतीय सिविल सेवा के द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था की गई थी कि अखिल भारतीय सेवा के किसी अधिकारी के साथ अनुचित व्यवहार न हो, और यदि हो तो उस अधिकारी को भारत मंत्री से अपील करने का अधिकार प्राप्त होता था एवं प्रान्तीय गवर्नरकी जाँच की उपरान्त सही शिकायत के निवारण का भी विधान था। अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी के वेतन, पेंशन ;सेवानिवृत्ति वेतन इत्यादि पर किसी भी भारतीय विधानमण्डल को कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। चूंकि अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी लोकमत ;जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं थे अतः अपने विशेषाधिकार से पूर्णतः सुरक्षित भी थे इसलिए भारतीय शासन अधिनियम ; 1919 द्वारा इसमें कुछ सुधार प्रक्रिया को अमल में लाया गया। 1924 में भारत में उच्च लोक सेवा विषयक शाही आयोग ; की नियुक्ति की गयी, जिसके सभापति लार्ड के ली अतः इसे ली आयोग से भी जाना जाता है। ली आयोग ने कुछ अखिल भारतीय सेवाओं की समाप्ति की अनुशंसा की, जो उन विभागों से सम्बन्धित थीं, जिन्हें 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय को 'हस्तान्तरित' कर दिया गया था, जैसे भारतीय शिक्षा सेवा/इण्डियन एजुकेशनल सर्विस, भारतीय कृषि सेवा/इण्डियन एग्रीकल्चरल सर्विस, भारतीय पशु-चिकित्सा सेवा/ इण्डियन वेटरिनरी सर्विस, और भारतीय अभियन्ता सेवा की सड़क तथा भवन निर्माण शाखा/ इण्डियन सर्विस ऑफ इंजीनियर्स की रोड्स एवं बिल्डिंग शाखा। लेकिन आयोग ने भारतीय सिविल सर्विस/इण्डियन सिविल सर्विस, भारतीय पुलिस सेवा/इण्डियन पुलिस, भारतीय वन सेवा/इण्डियन फॉरेस्ट सर्विस, भारतीय चिकित्सा सेवा/इण्डियन मेडिकल सर्विस, और भारतीय अभियन्ता सेवा की सिंचाई शाखा/इण्डियन सर्विस ऑफ इंजीनियर्स की सिंचाई शाखा को कायम रखने की अनुशंसा और साथ ही इन सेवाओं के निरन्तर भारतीयकरण किये जाने की भी सिफारिश की थी। इसके अतिरिक्त, आयोग ने यह भी सिफारिश की कि यदि किसी विभाग का नियन्त्रण उत्तरदायी भारतीय मंत्रियों को हस्तान्तरित किया जाए तो उस विभाग में उस समय कार्यरत किसी भी ब्रिटिश पदाधिकारी को आनुपातिक पेंशन लेकर सेवानिवृत्त होने का अधिकार होना चाहिए। इन सिफारिशों को क्रियान्वित किया गया था।

1935 के भारत शासन अधिनियम ; द्वारा अखिल भारतीय सेवाओं में कुछ अन्य परिवर्तन भी लाए गए। इस अधिनियम की धारा 224 के अनुसार, आई. सी. एस., आई. पी. एस. और आई. एम. एस. ;सिविल की सेवाओं को जारी रखने की व्यवस्था की गई। 1947 में जब राज्य सत्ता का हस्तान्तरण भारतीय को किया गया तो केवल दो अखिल भारतीय सेवाएं अर्थात् आई. सी. एस. और आई. पी. एस. में ही भर्ती जारी रखी गईं और आई. एम. एस. को भर्ती को निलम्बित कर दिया गया। इनमें से आई. सी. एस. सबसे महत्वपूर्ण और सर्वोच्च श्रेणी की सेवा थी, क्योंकि इनका वेतनमान, उच्च और अधिकार व्यापक होने के साथ-साथ सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त थी, इसी कारण इसे 'हेवेन बौर्न-सर्विस' और स्टीम फ्रेम के नाम से भी जाना जाता था।

चूंकि ब्रिटिश सरकार अपनी शक्ति के लिए अपने लोक सेवकों पर निर्भर करती थी अतः उसने उन्हें वे सभी अनुग्रह, विशेषाधिकार तथा रियायतें प्रदान कर रखी थीं। जिनके फलस्वरूप लोक सेवा को 'एक विशेष' स्थिति प्राप्त हो गयी थी।

सत्ता हस्तान्तरण के दौरान अधिकारियों की सेवा शर्तों के सम्बन्ध में ब्रिटिश पार्लियामेंट की सन्तुष्टि के अनुरूप व्यवस्था की गई। इस प्रकार जुलाई 1947 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ; में समुचित गारण्टी संनगीकृत की

गई पुरानी सेवाओं की गारण्टी देते समय नयी भारत सरकार ने इस बात की आवश्यकता का ध्यान रखा कि इन सेवाओं के स्थान पर ऐसी सेवा की स्थापना की जाए जो भारतीय द्वारा नियन्त्रित हो तथा जिसमें केवल भारतीय पदाधिकारी ही हों। गवर्नर जनरल की कार्यपालिका परिषद में सरदार बल्लभ भाई पटेल तत्कालीन गृह मंत्री थे, जिनके द्वारा 1946 में ही पुरानी आई. सी. एस और आई. पी. एस. के स्थान पर दो नवीन अखिल भारतीय सेवाओं के संगठन के लिए प्रान्तीय सरकारों की स्वीकृति प्राप्त कर ली गई थी। ये दो नवीन अखिल भारतीय सेवाएं हैं- भारतीय प्रशासनिक सेवा आई. ए. एस. एवं भारतीय पुलिस सेवा ; आई. पी. एस. ।

अखिल भारतीय सेवाएँ

भारतीय प्रशासनिक सेवा	भारतीय पुलिस सेवा	भारतीय वन सेवा
आई. ए. एस.	आई. पी. एस.	आई. एफ. एस.

11.3.1 अखिल भारतीय सेवाओं का गठन

अखिल भारतीय स्तर पर संविधान में सिविल सेवाओं के गठन की व्यवस्था की गई है। संविधान के अनुच्छेद 312 में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है।

अनुच्छेद 312 रू अनुच्छेद 312 संसद को विधि द्वारा संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन करने की शक्ति प्रदान करता है। इसके अनुसार यदि राज्य सभा राष्ट्रहित में आवश्यक या इष्टकर समझती है तो राज्यसभा के उपस्थित और मतदान में भाग ले रहे सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा ऐसी सेवाओं का सृजन कर सकती है और इन सेवाओं की भर्ती तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों का विनियमन कर सकती है। चूंकि राज्य सभा में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं इसलिए इसके समर्थन से नवीन सेवाओं के गठन हेतु राज्यों की सहमति सुनिश्चित हो जाती है। इसी अधिकार के अनुसार अक्टूबर 1951 में अखिल भारतीय सेवा अधिनियम पारित किया गया ।

संविधान निर्माण के बाद केवल एक अखिल भारतीय सेवा 'भारतीय वन सेवा' का गठन किया जबकि भारतीय इंजीनियरिंग सेवा ;सिंचाई, शक्ति, भवन निर्माण एवं सड़कें तथा भारतीय चिकित्सा व स्वास्थ्य सेवा के प्रस्ताव को अस्वीकृत किया गया।

संघ सरकार ने अखिल भारतीय सेवा अधिनियम के अनुच्छेद 3 के उप-अनुच्छेद ;1 में दिए गए अधिकारों के अन्तर्गत, पुराने नियमों के कई हिस्सों के अर्थहीन हो जाने के कारण, अखिल भारतीय सेवाओं के लिए नवीन नियम एवं उपबन्ध स्थापित किए । इस अधिनियम के प्रभावी होने के पूर्व के क्रियान्वित नियमों को जारी रखा गया अतः इस प्रकार अखिल भारतीय सेवाओं की सेवा-शर्तों के नियमों के दो वर्ग बन गए। पहले, भारत मंत्री और काउंसिल सहित गवर्नर जनरल द्वारा बनाए गए पुराने नियम, जिनके अन्तर्गत आई. सी. एस. एवं आई. पी. एस. पदाधिकारियों की सेवा शर्तें निर्धारित की जाती थीं तथा दूसरे 1951 के अधिनियम के अनुसार निर्मित नवीन नियम जो कि 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' और 'भारतीय पुलिस सेवा' पर लागू किए गए।

भारतीय प्रशासनिक सेवा ; भारतीय प्रशासनिक सेवा ;आई. ए. एस. को पुरानी भारतीय सिविल सेवा का नवीन प्रारूप कहा जा सकता है। यह सेवा अखिल भारतीय सेवा के रूप में केन्द्र सरकार के नियन्त्रण के साथ साथ

राज्य संवर्गों ; में भी विभाजित है अतः यह सम्बन्धित राज्य सरकारों के भी प्रत्यक्ष नियन्त्रण में होती है। भारतीय प्रशासनिक सेवा के पदाधिकारियों का वेतन और सेवानिवृत्ति वेतन ; पेंशन राज्य सरकारों द्वारा प्रदान किया जाता है, परन्तु इन पर अनुशासनिक नियन्त्रण रखने और दण्डित करने का कार्य केन्द्र सरकार द्वारा किया जाता है। केन्द्र सरकार अपना यह दायित्व संघ लोक सेवा आयोग की सलाह पर निभाती है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी केन्द्र और राज्य के बीच परिभ्रमण के नियमानुसार प्रतिनियुक्त होते हैं जिससे केन्द्र और राज्य दोनों ही सरकारों को लाभ होता है इस प्रणाली को सरकारी भाषा में अवधि प्रणाली अथवा टेन्योर सिस्टम के नाम से जाना जाता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा की दूसरी विशेषता इसका बहुउद्देशीय स्वरूप का होना भी है। इसमें ऐसे 'सामान्यज्ञ प्रशासकों' होते हैं, जिनसे समय-समय पर व्यापक विविधतापूर्ण दायित्व एवं कार्य निभाने की अपेक्षा की जाती है। उदाहरणस्वरूप कानून व्यवस्था का दायित्व, राजस्व वसूली, व्यापार, वाणिज्य या उद्योग का विनियमन, कल्याणकारी कार्यक्रम, विकास तथा प्रसार कार्य आदि। इस प्रकार भारतीय प्रशासनिक सेवा एक बहु-पक्षीय सेवा का स्वरूप ले लेती है।

भारतीय पुलिस सेवा ; अखिल भारतीय सेवाओं में से एक 'भारतीय पुलिस सेवा' स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व की सेवा है जो कि भारतीय प्रशासनिक सेवा से निम्न दो बातों से अलग है-

1. इसके अधिकतर अधिकारी राज्यों में ही कार्य करते हैं, कारण केन्द्र में पुलिस से सम्बन्धित अधिक पद नहीं होते हैं।
2. इनका वेतनमान और स्तर आई. ए. एस. से कम है। जबकि इस सेवा के अधिकारी भी इसी सम्मिलित अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा के माध्यम से ही नियुक्त किये जाते हैं।

भारतीय पुलिस सेवा के लिए सर्व प्रथम पाँच महीने का बुनियादी प्रशिक्षण ; दिया जाता है तत्पश्चात् विशेष प्रशिक्षण हेतु सरदार पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी, हैदाराबाद भेजा जाता है। जहाँ इन्हे हथियारों से सम्बन्धित प्रशिक्षण आदि भी दिया जाता है। लगभग एक वर्ष के प्रशिक्षण कार्यक्रम के पाठ्यक्रम में अपराध मनोविज्ञान, अपराध का पता लगाने में काम आने वाले वैज्ञानिक उपकरण, भ्रष्टाचार निवारक उपाय एवं तत्काल सहायता पहुँचाने के तरीकों आदि का समावेश होता है। तत्पश्चात् परिवीक्षाधीन अधिकारी को संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षा में सफलता प्राप्त करनी होती है, उसके बाद ही पुलिस उप-अधीक्षक ;। के पद पर नियुक्ति होती है। यहाँ पर भी नियुक्ति पूर्व एक वर्षीय व्यावहारिक प्रशिक्षण का प्रावधान है।

राज्य संवर्गों में बँटा हर संवर्ग, सम्बन्धित राज्य सरकार के नियन्त्रण में होता है जो कि मूलतः संघ सरकार के नियन्त्रण में भी होता है। पुलिस सेवा का प्रशासन गृह मंत्रालय करता है, लेकिन इसके कार्मिकों के बारे में सामान्य नीति निर्धारण कार्मिक तथा प्रशासनिक सुधार विभाग के अधीन है।

भारतीय वन सेवा

अखिल भारतीय सेवाओं में इसका गठन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किया गया है। भारतीय वन सेवा 1967 में संसद द्वारा एक अधिनियम पास किए जाने के बाद प्रारम्भ हुई। इसका वेतनमान एवं स्तर दोनों अखिल भारतीय सेवाओं

आई. ए. एस. और आई. पी. एस. से निम्न है। इस सेवा के लिए अधिकारियों का चयन, संघ लोक सेवा आयोग द्वारा ही अलग से एक परीक्षा आयोजित करके किया जाता है। चूंकि इसकी प्रकृति एवं कार्य में विशिष्टता एवं विशेषज्ञता पायी जाती है अतः यह सामान्य सिविल सेवा के अन्तर्गत नहीं आती है। इस सेवा का प्रबन्ध भी कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग के अधीन ही होता है, जो कि सभी अखिल भारतीय सेवाओं में नियुक्ति, अनुशासन एवं सेवा की शर्तों आदि की व्यवस्था करता है। इसका बुनियादी प्रशिक्षण मसूरी में लगभग तीन महीने का होता है। यह प्रशिक्षण इन्हे अखिल भारतीय एवं केन्द्रीय सेवाओं के चयनित अधिकारियों के साथ ही दिया जाता है। तत्पश्चात् परिवीक्षाधीन अधिकारी को देहरादून स्थित 'भारतीय वन संस्थान' में दो वर्ष का सख्त प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है जिसकी समाप्ति के बाद इन्हें एक और अन्तिम परीक्षा पास करनी होती है तभी इन्हे नियुक्ति मिलती है।

भारतीय वन सेवा की अन्य अखिल भारतीय सेवाओं की भाँति संवर्ग सेवा है। इसके पदाधिकारी भी प्रतिनियुक्ति होकर केन्द्र सरकार की सेवा में आ सकते हैं परन्तु यह अवधि पूरी होते ही इन्हे अपनी सेवा में वापस जाना पड़ता है।

11.3.2 भारतीय प्रशासनिक सेवा का महत्व

भारतीय प्रशासनिक सेवा देश में सर्वाधिक प्रतिष्ठा वाली सेवा है। सर्वोच्च स्थान प्राप्त होने के कारण इसका महत्व भी बढ़ जाता है। इस सेवा के पदाधिकारी प्रशासकीय शक्ति एवं अधिकारों का पूरी तरह उपयोग करते हैं। चूंकि भारत में संघीय शासन प्रणाली है अतः इस प्रणाली द्वारा केन्द्र व राज्य दोनों ही सरकारों को लाभ होता है साथ ही अधिकारियों को भी संघ व राज्य दोनों सरकारों की नीतियों और कार्यक्रमों से परिचय प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ये अधिकारी संघीय तथा राज्य प्रशासनों के बीच प्रशासकीय समन्वय स्थापित करने के सर्वोत्तम माध्यम सिद्ध हो जाते हैं।

यहाँ यह भी गौरतलब है कि संघीय शासन में संघ और राज्यों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बने होने चाहिए और इसके लिए सबसे महत्वपूर्ण यह है कि अधिकारी तन्त्र पर किसी एक का पूर्ण नियन्त्रण न हो। इस आवश्यकता की पूर्ति प्रशासकीय सेवा के द्वारा की जाती है। क्योंकि भारतीय प्रशासनिक सेवा पर न तो पूर्णतः केन्द्र का नियन्त्रण रहता है और न ही राज्य का नियन्त्रण रहता है। इस सेवा के द्वारा नियुक्त पदाधिकारी को राज्य संवर्ग प्राप्त होता है, जो 'अवधि प्रणाली'; टैन्डोर सिस्टम के अन्तर्गत केन्द्र या अन्य राज्य में प्रतिनियुक्त किए जाते रहते हैं।

अखिल भारतीय सेवाओं में भर्ती प्रक्रिया ;

भारत में अखिल भारतीय तथा केन्द्रीय सेवाओं में भर्ती का कार्य संघ लोक सेवा आयोग, नई दिल्ली द्वारा परीक्षाओं के संचालन के माध्यम से किया जाता है। विदित हो कि 1979 से पहले सिविल सेवा की केवल एक परीक्षा होती थी। 1975 में सरकार द्वारा प्रो. डी. एस. कोठारी की अध्यक्षता में नियुक्त समिति की अनुशंसा के आधार पर, 1979 से सिविल सेवा की प्रारम्भिक परीक्षा ; प्रारम्भ हुई जिसका उद्देश्य प्रधान परीक्षा/मुख्य परीक्षा के लिए उम्मीदवारों का चयन, छटनी या स्क्रीनिंग करना है। यह परीक्षा प्रायः जून में आयोजित होती है। सिविल सेवा की प्रधान/मुख्य परीक्षा ; लिखित और साक्षात्कारद्वारा विभिन्न अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाओं के पदों के लिए उम्मीदवारों का चयन किया जाता है। यह प्रधान/मुख्य परीक्षा प्रायः दिसम्बर माह में होती है। इस परीक्षा में बैठने की न्यूनतम उम्र 21 वर्ष और अधिकतम 30 वर्ष है।

11.3.3 भर्ती प्रणाली के महत्व एवं मूल सिद्धान्त

किसी भी संगठन में भर्ती की प्रक्रिया का अत्यधिक विशेष महत्व होता है। इसके द्वारा ही लोक सेवाओं का स्तर एवं योग्यता सुनिश्चित की जाती है और प्रशासनिक संरचना में परिवर्तन लाया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भर्ती प्रणाली द्वारा ही प्रशासनिक मशीनरी को जनकल्याणकारी तथा समाजोन्मुख बनाया जाता है। भर्ती ही लोक सेवा का आधार होती है जो इसे लक्ष्य तक पहुँचाती है क्योंकि राज्य में सरकार के कल्याणकारी दायित्वों की पूर्ति लोक सेवाओं के माध्यम से होती है। अतः योग्यता आधारित, निष्पक्ष तथा व्यावहारिक भर्ती प्रणाली का महत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है।

ओ. ग्लेन स्टॉल ने अपनी महत्वपूर्ण रचना में कहा है- 'भर्ती सम्पूर्ण लोक सेवाओं के ढाँचे की आधार शिला है | उन्होंने भर्ती को कार्मिक ढाँचे का कॉर्नर-पत्थर कहा है। वास्तव में भर्ती की प्रक्रिया में आधार भूत सामग्री उचित होनी चाहिए एवं साथ-साथ यह प्रक्रिया जितनी ईमानदारी से होगी प्रशासन की सफलता उतनी ही अधिक होगी।

भारत में आधुनिक लोक सेवाओं की शुरुआत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के दौरान सन् 1853 के राजलेख के माध्यम से हुई थी। हालांकि इसके पहले भी लोक सेवाएँ थीं किन्तु उनमें भर्ती का आधार नितान्त स्वैच्छित था। जबकि 1853 से योग्यता का सिद्धान्त को अपनाया गया। भारत में भर्ती प्रणाली के मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

1. सिविल सेवाओं में भर्ती योग्यता के आधार पर की जाती है। योग्यता की परख खुली प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से होती है। जिसको संचालन कराने का संवैधानिक कार्य 'लोक सेवा-आयोग' संस्था का है।
2. लोक सेवा आयोग ; भर्ती हेतु संस्था को निर्मित करने में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि यह संस्था राजनीतिक प्रभावों से दूर रहकर एवं निष्पक्ष होकर भर्ती का कार्य करे।
3. भारत में भर्ती की दो प्रक्रियाएँ हैं- प्रत्यक्ष और पदोन्नति द्वारा। प्रायः पदोन्नति द्वारा भरे जाने वाले पदों का अनुपात सेवा की प्रकृति पर निर्भर करता है।

अखिल भारतीय सेवाओं के 33 प्रतिशत पद राज्य प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारियों में से पदोन्नति द्वारा भरे जाते हैं। संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से, अखिल भारतीय सेवाओं में से अनेक सेवाओं, जैसे- भारतीय विदेश सेवा, भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय विदेश सेवा, भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा और केन्द्रीय सेवाओं की विभिन्न श्रेणियों के लिए, एक ही परीक्षा आयोजित होती है। इसमें बैठने वाले की आयु, वर्तमान में नवीन सरकार द्वारा प्रत्याशी की उच्चतम आयु 26 वर्ष से बढ़ाकर ३० वर्ष कर दी है। ब्रिटिश

‘सामान्य’ ;जनरल प्रणाली पर आधारित इस परीक्षा में विश्वविद्यालय की स्नातक उपाधि वाला ;बी. ए./बी. एस. सी. या समकक्ष उपाधि, प्रत्याशी बैठ सकता है। इसके अन्तर्गत पहले एक उच्च स्तर की लिखित परीक्षा ली जाती है, जिसमें प्रत्याशी की बौद्धिक क्षमता एवं किताबी जानकारी का अनुमान लगाया जाता है, तत्पश्चात् संघ लोक सेवा आयोग साक्षात्कार के रूप में व्यक्तित्व एवं चरित्र को आँकने हेतु परीक्षा लेता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा में चयन हेतु तीन परीक्षाएं आयोजित की जाती है।

आयु – भारतीय नागरिक,जिसकी न्यूनतम आयु 21 वर्ष ,अधिकतम आयु के सम्बन्ध में भिन्नता है

सामान्य	३० वर्ष
पिछड़ा वर्ग	३५ वर्ष
अनुसूचित जाति , अनुसूचित जनजाति	३५ वर्ष
शारीरिक रूप से विकलांग	४० वर्ष

प्रारंभिक परीक्षा मुख्य परीक्षा साक्षात्कार

शैक्षिक योग्यता –किसी मान्यता प्राप्त संस्था से स्नातक उपाधि प्राप्त हो ,मुक्त और दूरस्थ शिक्षा से प्राप्त डिग्री समान रूप से मान्य होगी।

परीक्षा के अवसर –

सामान्य	चार
पिछणा वर्ग 35 वर्ष	सात
अनुसूचित जाति , अनुसूचित जनजाति	कोई सीमा नहीं
शारीरिक रूप से विकलांग	सात

परीक्षा के लिए आवेदन करने वाले यदि परीक्षा में भाग नहीं लेते तो ,वह अवसर के रूप में नहीं गिना जायेगा।परन्तु यदि प्रारंभिक परीक्षा का एक प्रश्नपत्र दे देते हैं तो ,वह एक अवसर माना जायेगा।

अंतिम चयन में मुख्य परिक्षा और साक्षात्कार के अंक जोड़कर मेरिट के आधार पर चयनित अभ्यर्थियों की सूची तैयार की जाती है।

11.3.4 अखिल भारतीय सेवाओं के कार्मिकों का प्रशिक्षण एवं उसका महत्व

भारत सरकार के कार्यक्षेत्र में निरन्तर वृद्धि तथा प्रशासकीय कार्यों के अत्यन्त प्राविधिक, विशिष्ट तथा जटिल रूप धारण करने के कारण लोक सेवकों का प्रशिक्षण बहुत अधिक महत्व रखता है। लोक प्रशासन में प्रशिक्षण का अर्थ कार्मिकों के पदों से सम्बन्धित ज्ञान तथा कौशल में सुधार अथवा वृद्धि के लिए किया गया प्रयास है साथ ही यह कार्मिकों के दृष्टिकोण तथा मूल्यों को एक खास दिशा में उन्मुख करने का एक माध्यम है।

भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग की रिपोर्ट के अनुसार 'प्रशिक्षण मानवीय साधनों में निवेश है। यह मानवीय क्षमता को सुधारने और सेवी वर्ग की कुशलता बढ़ाने का महत्वपूर्ण साधन है।'

अमरीका की 'सेवायोजन समिति' की रिपोर्ट के अनुसार प्रशिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जो मुख्य रूप से लोक सेवक में वर्तमान तथा भावी कार्य को सम्पन्न करने के लिए गतिशीलता देती है। वह उपयुक्त स्वभाव, विचार, क्रिया, ज्ञान और दृष्टिकोण का उसी के अनुरूप विकास करती है।

अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाओं के लिए चुने गये प्रत्याशियों को पाँच महीने के आरम्भिक प्रशिक्षण देने के उपरान्त उन्हें उनकी सेवा के अनुरूप विभिन्न संस्थानों में विशेष प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जाती है।

आरम्भिक प्रशिक्षण में सिविल सेवाओं के लक्ष्य, कर्तव्य तथा पेशे की नैतिकता सम्बन्धित सूचनाएं प्रदान की जाती हैं। इनके पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण उद्देश्य उच्च सेवाओं के अधिकारियों को देश के संवैधानिक, आर्थिक व सामाजिक स्वरूप की जानकारी प्रदान करना होता है, जिसके अन्तर्गत उन्हें कार्य सम्पादित करना होगा एवं नीति और उनसे जुड़े कार्यक्रमों का निर्धारण कर उन्हें निर्मित एवं लागू करने के कार्य में योगदान देना होगा। प्रशिक्षण का उद्देश्य इन अधिकारियों को सरकारी तन्त्र एवं लोक प्रशासन के व्यापक सिद्धान्तों की जानकारी देना भी है और साथ-साथ इस प्रकार के प्रशिक्षण से विभिन्न सेवाओं के अधिकारियों के मध्य न केवल समान जनसेवा की भावना पैदा होती है बल्कि व्यापक रूप से समान दृष्टिकोण के प्रति जुड़ाव भी पैदा हो जाता है।

पाँच महीने से इस बुनियादी पाठ्यक्रम के बाद आई. ए. एस. को छोड़कर अन्य सेवाओं के परिवीक्षाधीन अधिकारी अपनी-अपनी सेवाओं के अनुरूप संस्थागत प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं में अग्रसर किये जाते हैं परन्तु आई. ए. एस. के परिवीक्षाधीन अधिकारी अकादमी में ही संस्थागत प्रशिक्षण के दूसरे पाठ्यक्रम में प्रवेश कर जाते हैं।

द्वितीय चरण

व्यावहारिक प्रशिक्षण ;राज्य

बुनियादी प्रशिक्षण प्रथम चरण ;5 माह

सेंडविच पाठ्यक्रम

नवीन प्रशिक्षण प्रणाली

‘भारतीय प्रशासनिक सेवा’ हेतु 1969 से सरकार द्वारा ‘सेंडविच पाठ्यक्रम’ जैसे नवीन प्रशिक्षण का आरम्भ किया जा चुका है। इसके अन्तर्गत पहले चरण तथा बुनियादी पाठ्यक्रम के मध्य अधिकारी को राज्य में व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु भेजा जाता है, यह वह राज्य होता है, जिसका उसे संवर्ग प्राप्त है। तत्पश्चात् दूसरे चरण में फिर प्रशिक्षण हेतु अकादमी भेजा जाता है, इस प्रकार पूरे प्रशिक्षण में उसे व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसके उपरान्त प्रशिक्षण सम्बन्धी अन्य नियमों को पूरा करने के बाद ही नियुक्ति होती है।

संवर्ग प्रबन्धन ; 1970 तक भारत सरकार का कार्मिक प्रबन्ध देखने वाली मुख्य एजेन्सी गृह मंत्रालय थी जो कि वित्त मंत्रालय के साथ मिल-जुलकर सर्वजनिक सेवाओं का प्रबन्धन करती थी। इसके अन्तर्गत सामान्य सेवा-शर्तों गृह मंत्रालय द्वारा निर्धारित होती थी तथा वित्त सम्बन्धी सेवा शर्तों वित्त मंत्रालय के द्वारा निर्धारित की जाती थीं। परन्तु चूंकि गृह मंत्रालय कार्मिक प्रबन्ध की मुख्य एजेंसी थी अतः अखिल भारतीय सेवाओं पर इसका सम्पूर्ण नियन्त्रण था। मंत्रालय विभिन्न सेवाओं में चयन, अनुशासन एवं सेवा शर्तों के समान स्तर को कायम रखने हेतु सभी सेवाओं पर एक समान रूप से लागू होने वाले विषयों की देख-रेख किया करता था। 1970 के बाद गृह मंत्रालय के कार्मिक विभाग द्वारा ‘भारतीय प्रशासनिक सेवा’ एवं ‘भारतीय वन सेवा’ का प्रबन्धन किया जाने लगा तथा ‘भारतीय पुलिस सेवा’ का प्रबन्धन कार्य गृह मंत्रालय द्वारा ही किया जाता है।

11.4 केन्द्रीय सेवाएं

केन्द्रीय सेवाएँ वो सिविल सेवाएं हैं जो पूरी तरह केन्द्र सरकार के अधीन होती हैं जबकि अखिल भारतीय सेवाओं पर केन्द्र का पूर्णतः नियन्त्रण नहीं होता है। केन्द्रीय सेवा भी राष्ट्रीय स्तर की सेवा में नियुक्ति तथा सेवा शर्तों के सम्बन्ध में कानून संसद बनाती है। इस सेवा के अन्तर्गत शामिल सेवाएं हैं- भारतीय राजस्व सेवा, भारतीय रेलवे लेखा सेवा, भारतीय चुंगी तथा केन्द्रीय आबकारी सेवा, भारतीय लेखा तथा संपरीक्षा सेवा, भारतीय प्रतिरक्षा लेखा सेवा, भारतीय डाक सेवा, भारतीय रेलवे

यातायात सेवा, सैन्य भूमि एवं छावनी सेवा, भारतीय आयुध कारखाना सेवा तथा केन्द्रीय सूचना सेवा।

केन्द्र सरकार की सविल सेवाओं में नियमित केन्द्रीय सिविल सेवाएँ तथा इनके अतिरिक्त ऐसे बाहरी सिविल पद होते हैं, जिन्हें मिलाकर इसे सामान्य केन्द्रीय सेवा कहा जाता है। इस सेवा के कर्मचारी राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर बने रहते हैं। केन्द्रीय सिविल सेवाओं और अन्य सिविल पदों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है- प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ। इनमें से प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी की केन्द्रीय सेवाओं में भर्ती, संघ लोक सेवा-आयोग द्वारा, आयोजित 'अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा' के माध्यम से होती है।

प्रशिक्षण तथा संवर्ग प्रबन्धन –

केन्द्रीय सेवाओं में प्रथम श्रेणी के पद हेतु 'लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी', मसूरी में पाँच महीने का बुनियादी/अथवा आरम्भिक पाठ्यक्रम पूरा करना होता है। तत्पश्चात् अपनी-अपनी सेवाओं के अनुरूप अन्य संस्थानों में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है, जहाँ पर उनको सेवा के अनुरूप ही प्रशिक्षण देने की व्यवस्था होती है। इसी दौरान इन्हें व्यावहारिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है जिसके उपरान्त परिवीक्षाधीन अधिकारी को एक विभागीय परीक्षा पास करनी होती है जिसके विषय उसकी सेवा से सीधे सम्बन्धित होते हैं। फिर इनकी नियुक्ति कर दी जाती है।

केन्द्रीय सेवाओं की सेवा शर्तों के निर्धारण का कार्य कार्मिक विभाग का है तथा वित्त मंत्रालय द्वारा इन पदों के वेतनमान तथा अन्य वित्तीय पक्षों जैसे-वेतन निर्धारण, वेतन वृद्धि की मंजूरी, पेंशन, ग्रेच्युटी एवं भविष्य निधि में अंश दान आदि विषयों को देखा जाता है।

भारतीय विदेश सेवा :

भारतीय विदेश सेवा प्रथम श्रेणी की एक केन्द्रीय सिविल सेवा है। इस सेवा का गठन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किया गया एवं इस पर पूर्णतः केन्द्र सरकार का नियन्त्रण होता है। अखिल भारतीय सिविल सेवा परीक्षा के प्रथम श्रेणी के सफल उम्मीदवारों को इस सेवा में नियुक्त किया जाता है। सिविल सेवाओं में इस सेवा को सर्वाधिक सम्मान, प्रतिष्ठा, उच्चस्तर, वेतन तथा भत्ते मिलते हैं। इसके अधिकारियों को विदेशों में भारतीय मिशनों एवं दूतावासों में नियुक्त किया जाता है।

भारतीय विदेश सेवा का प्रबन्धन विदेश मंत्रालय के पास होता है। जिसमें कार्मिक विभाग एवं वित्त मंत्रालय भी शामिल हैं। भारतीय विदेश सेवा के नवनियुक्त अधिकारी का प्रशिक्षण कार्यक्रम तीन वर्ष का होता है जिसके अन्तर्गत इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राजनय, भूगोल आदि विषयों की जानकारी दी जाती है तथा इन्हें आई. ए. एस. के परिवीक्षाधीनों के साथ 'संस्थागत प्रशिक्षण' भी

दिलाया जाता है। इनके प्रशिक्षण कार्यक्रम में मुख्यतः जिले के व्यावहारिक कार्य, सचिवालय सम्बन्धी कार्य तथा भाषाओं से सम्बन्धित प्रशिक्षण कार्यक्रम शामिल होता है।

11.5 सारांश

उपरोक्त अध्याय के अध्ययन पश्चात हम अखिल भारतीय सेवाएं के स्वरूप से भली भाँति परिचित हो चुके होंगे। साथ ही साथ केन्द्रीय सेवाओं का भी वर्णन किया गया है। पुनश्च इनके भर्ती एवं प्रशिक्षण को भी लिपिबद्ध किया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हमने भारत में प्रचलित अखिल भारतीय सेवाओं, केन्द्रीय सेवाओं के बारे में जानने का अवसर प्राप्त हुआ है।

साथ ही साथ राज्यों के लिए, राज्य लोक सेवाओं के बारे में जाना है और इसके साथ में हमने यह भी देखा है कि भारत में लोक सेवकों की भर्ती के कौन से तरीके अपनाये जाते हैं। इसी क्रम में हमने यह जाना है कि पदोन्नति भी भर्ती का एक तरीका है।

11.6 शब्दावली

आई. ए. एस. : भारतीय प्रशासनिक सेवा

आई. पी. एस. : भारतीय पुलिस सेवा

आई. एफ. एस. : भारतीय वन सेवा

आई. एफ. एस. : भारतीय विदेश सेवा

भर्ती : नियुक्ति का समानार्थक अर्थ

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. सत्य २. संयुक्त राज्य अमेरिका ३. दो प्रकार ४. सत्य।

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

एस. डब्लू. एवम केरने आर. सी- लोक कार्मिक

शर्मा एवं सदाना - लोक प्रशासन

योडर, डेल- कार्मिक प्रबन्धन एवम औद्योगिक सम्बन्ध

11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. गोयल एस. एल. - पब्लिक परसोनेल एडमिनिस्ट्रेशन

-
2. कटारिया सुरेन्द्र- कार्मिक प्रशासन
 3. शर्मा एवं जैन - लोक सेवी वर्गीय प्रशासन
-

11.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना के कारकों की व्याख्या कीजिए।
2. सेवी वर्ग नीति की परिभाषा दीजिए। सेवी वर्ग प्रशासन में इसके महत्व की व्याख्या कीजिए।
3. लोक कार्मिक प्रशासन में भर्ती अभिकरणों के कार्य एवं भूमिका की विवेचना कीजिए।
4. प्रशिक्षण से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न प्रकार क्या हैं ?

इकाई 12 भर्ती, प्रशिक्षण

इकाई संरचना

- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 उद्देश्य
- 12.3 भर्ती का अर्थ और विशेषताएँ
- 12.4 भर्ती का महत्व
- 12.5 भर्ती के प्रकार
- 12.6 प्रशिक्षण का अर्थ
- 12.7 प्रशिक्षण का महत्व
- 12.8 विकासशील देशों में प्रशिक्षण
- 12.9 प्रशिक्षण की पद्धतियाँ एवं तकनीक
- 12.10 सारांश
- 12.11 शब्दावली
- 12.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 12.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 12.14 सहायक/उपयोगी पाठ्यक्रम सामग्री
- 12.15 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

किसी भी संगठन की सफलता उसके मानव संसाधन की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। प्रशासनिक व्यवस्था में यह भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि यहाँ कर्मचारियों और अधिकारियों की दक्षता सीधा प्रभाव शासन की प्रभावशीलता और जनसेवा की गुणवत्ता पर डालती है। इसीलिए *भर्ती (Recruitment)* और *प्रशिक्षण (Training)* प्रशासनिक प्रक्रिया के दो अनिवार्य स्तंभ माने जाते हैं।

भर्ती वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से योग्य, सक्षम और समर्पित व्यक्तियों का चयन किया जाता है ताकि वे संगठन की आवश्यकताओं और लक्ष्यों को पूरा कर सकें। लेकिन केवल योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति पर्याप्त नहीं होती—उन्हें अपने कार्य की प्रकृति, दायित्वों और संगठन की कार्यप्रणाली को समझने के लिए समुचित प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि प्रशिक्षण को लोक प्रशासन में दक्षता और उत्तरदायित्व का आधार माना गया है।

आज के बदलते प्रशासनिक परिदृश्य में, जहाँ तकनीक, नीतियाँ और जनअपेक्षाएँ लगातार विकसित हो रही हैं, वहाँ प्रशिक्षण केवल प्रारंभिक तैयारी नहीं बल्कि एक सतत प्रक्रिया बन चुका है। यह न केवल कर्मचारियों की कार्यकुशलता बढ़ाता है बल्कि उनमें सेवा भाव, अनुशासन और नवाचार की भावना भी जगाता है।

इस इकाई में हम *भर्ती और प्रशिक्षण* के स्वरूप, महत्व, उद्देश्यों और इनके प्रशासनिक कार्यप्रणाली पर प्रभाव का अध्ययन करेंगे। उद्देश्य यह समझना है कि कैसे ये दोनों प्रक्रियाएँ मिलकर एक सक्षम, उत्तरदायी और जनहितैषी प्रशासनिक ढाँचा तैयार करती हैं।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप:

- भर्ती के अर्थ, विशेषताएँ और महत्व को समझ पायेंगे।
- भर्ती के विभिन्न प्रकारों से अवगत हो पायेंगे।
- प्रशिक्षण का अर्थ, महत्व और विकासशील देशों में इसकी स्थिति को समझ पायेंगे।

12.3 भर्ती का अर्थ एवं विशेषताएँ

किसी संगठन में भर्ती या चयन कार्मिक प्रबंध का आधारभूत कार्य है। भर्ती की दूषित नीति के कारण प्रशासन में अस्थायी दुर्बलता जाती है और प्रशासन सुस्त और अयोग्य व्यक्तियों के लिए स्वर्ग बन जाता है। योग्य कार्मिक किसी भी संगठन की मूल्यवान परिसंपत्ति हैं और ये संगठन की प्रगति और स्थायित्व के लिए जिम्मेवार हैं। राज्य के कार्यों में अत्यधिक विस्तार होने के कारण लोक सेवकों की महत्ता विगत कुछ वर्षों से काफी बढ़ गई है। लोक प्रशासन की गुणवत्ता एवं प्रभावशीलता इसके कार्मिकों पर निर्भर करती है।

नियुक्ति एवं अधिप्राप्ति एक व्यापक प्रक्रिया है। भर्ती एवं चयन इसके आवश्यक अंग हैं। भर्ती नियुक्ति का प्रथम चरण है। भर्ती अभ्यर्थियों की खोज, आवश्यकता और स्रोतों के निर्धारण तक सीमित है जबकि चयन इसके बाद की प्रक्रिया है। किसी संगठन को योग्यता प्राप्त कर्मचारियों की पर्याप्त संख्या में भर्ती करना आवश्यक होता है। उसके लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक विविध क्रियाकलाप द्वारा कर्मचारियों की पूर्ति के इस कार्य को भर्ती द्वारा संपन्न किया जाता है। संगठन में भर्ती और चयन संबंधी कार्य कार्मिक प्रशासन का बुनियादी कार्य है। भर्ती, प्रत्याशित कर्मचारियों की खोज एवं उन्हें संगठन में आवेदन करने के लिए प्रोत्साहित करने की प्रक्रिया है। भर्ती करते समय संगठनों को श्रम-बाजार की प्रकृति तथा मानव शक्ति के स्रोत को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। नियुक्ति के लिए आवेदनकर्ताओं की संख्या इस बात पर आश्रित रहती है कि कार्य प्रकृति क्या है एवं

रिक्त पदों की संख्या कितनी है। विद्यमान आर्थिक स्थितियां, कौशल का उपलब्ध होना, भर्ती करने वाली कम्पनी की साख आदि अन्य तत्व हैं जो भर्ती को प्रभावित करते हैं।

भर्ती का सरल अर्थ है- रिक्त पद पर उपयुक्त कार्मिक की नियुक्ति। भर्ती प्रक्रिया में सम्मिलित गतिविधियों के आधार पर इसके संकुचित और व्यापक दो अर्थ होते हैं- संकुचित अर्थों में भर्ती, रिक्त पद पर योग्य उम्मीदवार की नियुक्ति तक सीमित है। व्यापक अर्थों में भर्ती रिक्त पद के लिए योग्य उम्मीदवार के चयन से लेकर उस पद पर उसकी सामर्थ्यपूर्ण स्थापना तक की कार्यवाहियों से संबंधित है। भर्ती को विविध विद्वानों ने परिभाषित किया है जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं-

एल.डी.व्हाइट के अनुसार, “रिक्त पदों के लिए आयोजित परीक्षाओं हेतु योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करना ही भर्ती है।”

जे. डी. किंगसले के शब्दों में, “भर्ती का अर्थ है, लोक सेवाओं के लिए प्रार्थियों को प्रतियोगात्मक रूप से आकर्षित करना। यह व्यापक प्रक्रिया का एक अंग है। इसमें परीक्षा और प्रमाणन प्रक्रियाएं भी शामिल हैं।”

एडविन फिल्लपो के अनुसार, “भर्ती सम्भावित कर्मचारियों की खोज करने तथा उन्हें संगठन कार्यों के लिए आवेदन करने के लिए उत्प्रेरित करने की प्रक्रिया है।”

क्लिंगर के अनुसार, “भर्ती योग्य आवेदकों को आकर्षित करने की प्रक्रिया है।”

प्रो. ब्यूल के अनुसार, “किसी विक्रय पद के लिए सर्वोत्तम उपलब्ध प्रार्थियों की सक्रिय खोज करना ही भर्ती है।”

एम.पी.शर्मा के शब्दों में, “भर्ती का सीधा अर्थ है, योग्य तथा उपयुक्त व्यक्ति की रिक्त स्थान पर नियुक्ति।”

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कर्मचारियों की भर्ती वह क्रिया है जिसके द्वारा संस्था में विभिन्न रिक्त पदों के लिए व्यक्तियों की खोज की जाती है तथा उन्हें रिक्त पदों तथा उनके लिए आवश्यक योग्यता के संबंध में जानकारी देकर उन्हें संस्था में आवेदन करने के लिए प्रेरित किया जाता है, ताकि संगठन के लक्ष्यों की पूर्ति की जा सके। किसी संगठन में भर्ती तथा चयन कर्मचारी संबंधी मूलभूत कार्य है। भर्ती द्वारा ही लोक सेवाओं का स्तर एवं योग्यता निश्चित होती है और इसी से शासन की उपयोगिता और समाज और शासन तंत्र के बीच संबंध निर्धारित होते हैं। भर्ती संपूर्ण कार्मिक प्रशासन के ढांचे की आधारशिला है। इस प्रकार भर्ती चयन की विस्तृत प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है, जो परीक्षा, साक्षात्कार एवं प्रमाणीकरण इत्यादि की प्रक्रिया को समाहित करता है।

भर्ती योग्य आवेदकों को आकर्षित करने की प्रक्रिया है। भर्ती की विशेषताएं निम्न हैं-

1. भर्ती प्रशासन में निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है।
2. भर्ती योग्य व्यक्तियों के खोज की प्रक्रिया है।
3. भर्ती एक सकारात्मक प्रक्रिया है जिसमें चयन अनुपात को बढ़ाने का उद्देश्य रहता है।
4. भर्ती वर्तमान तथा भावी दोनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की जा सकती है।
5. इसमें व्यक्तियों को आवेदन करने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया जाता है।

6. इसमें भर्ती के विभिन्न स्रोतों का निर्धारण करके उन्हें बनाये रखने का प्रयास किया जाता है।
7. भर्ती के द्वारा प्रत्येक कार्य के लिए पर्याप्त मात्रा में आवेदकों की पूर्ति उत्पन्न होनी चाहिये ताकि नियोक्ता को चयन की सुविधा हो।
8. भर्ती एवं चयन परस्पर सम्बद्ध हैं, यद्यपि दोनों में पर्याप्त अन्तर होता है।

भर्ती की ठोस नीति की आवश्यकता को सर्वप्रथम चीन में अनुभव किया गया था और योग्यता के सिद्धांत पर आधारित भर्ती को अपनाने की ठोस नीति को मान्यता भी चीन में ही प्रारंभ की गई। आधुनिक समय में प्रशा सबसे पहला देश है जिसने भर्ती प्रणाली का विकास किया था। भारत में योग्यता का सिद्धांत 1853 से प्रारंभ हुआ जबकि ब्रिटेन में इसे 1857 में स्वीकार किया गया है। अमेरिका में योग्यता सिद्धांत 1883 में आरंभ हुआ जबकि फ्रांस में प्रतियोगिता परीक्षाओं की शुरुआत 1847 से हुई थी। भर्ती के योग्यता सिद्धांत ने लूट सिद्धांत का स्थान लिया है लेकिन यह परिवर्तन धीरे-धीरे ही हुआ है। संयुक्त राज्य अमेरिका में लूट-खसोट की प्रणाली काफी लंबे समय तक चलती रही। राष्ट्रपति गारफील्ड की हत्या के बाद इसमें परिवर्तन किया गया और 1883 में पहली बार प्रतियोगिता परीक्षा के माध्यम से भर्ती का प्रावधान किया गया।

12.4 भर्ती का महत्व

प्रशासनिक व्यवस्था में भर्ती सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। किसी संगठन को ऐसे योग्यता प्राप्त कर्मचारियों की पर्याप्त संख्या में पूर्ति की व्यवस्था करना आवश्यक होता है जो उसके लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक विभिन्न कार्य कर सकें। लोक सेवाओं के गुण और कार्यकुशलता भर्ती और भर्ती संबंधी नीतियों पर निर्भर करते हैं। भर्ती सम्भावित कर्मचारियों के स्रोतों का निर्धारण करने, व्यक्तियों को कार्य अवसरों के बारे में सूचित करने तथा उन प्रार्थियों को संस्था में आकर्षित करने की प्रक्रिया है, जो कार्य को निष्पादित करने की वांछित योग्यता रखते हैं।

कर्मचारियों की पूर्ति के कार्य को भर्ती तथा चयन द्वारा संपन्न किया जाता है। लोक सेवकों की योग्यता और नैतिक स्तर का निर्धारण भर्ती प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है। समाज के प्रति सरकार और प्रशासन की प्रासंगिकता और उपयोगिता एक स्वस्थ एवं निष्पक्ष भर्ती प्रणाली पर ही निर्भर करती है। भर्ती पद्धति स्वस्थ एवं निष्पक्ष तथा इसका क्रियान्वयन कुशलतापूर्वक एवं बिना भेदभाव के होना चाहिए। भर्ती कुशल व्यक्तियों के सिविल सेवा में प्रवेश हेतु प्रवेश द्वार खोलने का कार्य करता है। यह एक सुदृढ़ लोक सेवा का आधार स्तंभ भी है। स्टॉल के अनुसार भर्ती संपूर्ण सार्वजनिक कार्मिक रचना की आधारशिला है। प्रशासनिक आवश्यकता के लिए सर्वोत्तम, कुशाग्र बुद्धि और अत्यधिक कार्य दक्ष व्यक्तियों की पूर्ति भर्ती प्रणाली द्वारा ही संभव है। आधुनिक समय में लोकसेवा सबसे महत्वपूर्ण जीवन वृत्ति सेवा है और जीवन वृत्ति सेवा का कोई भी घटक भर्ती नीति से बढ़कर महत्वपूर्ण नहीं है। इस प्रकार भर्ती कार्मिक प्रशासन का एक बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू है जिस पर प्रशासनिक कार्य कुशलता बहुत हद तक निर्भर करती है।

सरकार के निरंतर कार्यों में विस्तार के फलस्वरूप प्रशासन अब जटिल विशेषज्ञ और तकनीकी बन गया है। योग्यता प्रणाली पर आधारित भर्ती नीतियां और कार्यक्रम लोक सेवाओं में सर्वोत्तम योग्यता

प्राप्त और सक्षम व्यक्तियों को चुनने का प्रयास करते हैं। सरकारी सेवाओं में रिक्त पदों की भरने की संपूर्ण प्रक्रिया भर्ती से विस्तृत मालूम पड़ती है। फिर भी भर्ती को सामान्यतया उस प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है जिसके द्वारा रिक्त पदों को भरने के लिए लोगों की सेवा में नियुक्ति की जाती है। प्रत्येक संगठन योग्य कार्मिकों की भर्ती एवं चयन करके अपनी सफलता को सुनिश्चित कर सकता है। भर्ती एवं चयन मानव शक्ति नियोजन का एक महत्वपूर्ण अंग तथा मानव संसाधन विकास का एक आवश्यक कार्य है। प्रशासन में अनेक कारणों से मानव संसाधनों में परिवर्तन होते रहते हैं। नवीन तकनीकों में परिवर्तनों के कारण भी नये कर्मचारियों की आवश्यकता उत्पन्न हो सकती है। भर्ती एवं चयन संगठन में नयी मानव शक्ति जोड़ने की प्रक्रिया है तथा यह कर्मचारी नियोजन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है।

12.5 भर्ती के प्रकार

भर्ती के संबंध में विविध विधियों का प्रयोग दुनिया के देशों में किया जाता है। विभिन्न देशों में भर्ती के विविध प्रकार या विधियों को अपनाया गया है, उनमें हैं-

1. **प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भर्ती-** भर्ती की दो विधियां हैं- आंतरिक भर्ती यानी प्रोन्नति से भर्ती करना और बाह्य उपलब्ध लोगों से भर्ती करना। बाहर उपलब्ध और योग्य अभ्यर्थियों द्वारा जब रिक्त पदों पर भर्ती की जाती है तो उसे प्रत्यक्ष भर्ती कहते हैं लेकिन जब पहले से ही सेवारत उपयुक्त और अनुभवी अभ्यर्थियों के द्वारा रिक्त पद भरा जाता है तो उस प्रोन्नति को अप्रत्यक्ष भर्ती कहा जाता है। आंतरिक स्रोत से आशय उपक्रम में कार्य करने वाले कर्मचारियों की उच्च पदों पर पदोन्नति, स्थानान्तरण व समायोजन से है। बाह्य स्रोत से भर्ती निम्न वर्गीय कर्मचारियों की जाती है। भर्ती की दोनों विधियों के कुछ लाभ और कुछ हानियां हैं लेकिन विश्व के लगभग सभी देशों में यही दो विधियां अपनाई जाती हैं। सामान्यतया निर्णय स्तरीय पदों को प्रत्यक्ष भर्ती तथा उच्च स्तरीय पदों को पदोन्नति यानी अप्रत्यक्ष भर्ती के द्वारा भरा जाता है। विभिन्न देशों में उनके राजनीतिक और प्रशासनिक नीतियों के अनुसार विवेक सम्मत और व्यवहारिक दोनों प्रकार की भर्ती नीतियों के सम्मिश्रण को अपनाया जाता है।

प्रत्यक्ष भर्ती प्रणाली के लाभ के साथ साथ हानियाँ भी बहुत हैं। प्रत्यक्ष भर्ती प्रणाली योग्य उम्मीदवारों को शुभ अवसर प्रदान करता है। अतः प्रजातांत्रिक सिद्धांत है। इसमें आपूर्ति के स्रोत विस्तृत हैं तथा इसके द्वारा युवा और अति योग्य अभ्यर्थी सिविल सेवा में आते हैं। इसमें नए चेहरे, नए विचार, परिवर्तन, तकनीकी, प्रशासकीय, सामाजिक, राजनीतिक अवस्थाओं का सेवाओं में प्रति भी मन होता है। इसमें परिवर्तनशील अवस्था और तकनीकों के साथ सेवा प्रगति कर सकती हैं तथा कर्मचारीगण अपनी अर्हता बढ़ाने के लिए कठिन परिश्रम भी करते हैं।

वहीं दूसरी ओर प्रत्यक्ष भर्ती प्रणाली की हानियाँ भी है। इसमें उत्तरदायी पदों पर अनुभव ही नहीं युवकों को भर्ती किया जाता है जिनमें कम से कम आरंभ में अपने कर्तव्य निर्वाह के

लिए दक्षता और आत्मविश्वास का अभाव रहता है। प्रत्यक्ष विधि के द्वारा नियुक्त अनुभवहीन युगों के लिए प्रशिक्षण परम आवश्यक हो जाता है। इस भर्ती पद्धति में सरकारी सेवाओं में पहले से कार्य कर रहे लोगों की प्रोन्नति व्यवसाय अवरुद्ध हो जाते हैं। इससे उनकी कार्यकुशलता और निष्ठा पर बुरा असर पड़ता है। यह लोक सेवाओं का कार्यभार अत्यधिक बढ़ा देता है। भविष्य में उन्नति के अवसर नहीं दिखने पर कर्मचारियों और अन्य योग्य और कुशल लोगों में विश्वास पैदा करता है। इसमें कर्मचारी के अनुभव, कठिन परिश्रम और कार्यकुशलता पूर्ण हो जाते हैं तथा अधिक समय नष्ट करने वाली और अधिक खर्चीली भी है।

दूसरी ओर अप्रत्यक्ष भर्ती प्रणाली में नियुक्त व्यक्तियों को प्रशासनिक और सरकारी कार्यों का अपेक्षित अनुभव रहता है तथा वह भी अपने कर्तव्य निर्वाह पूर्ण विश्वास और उत्तरदायित्व के साथ करते हैं तथा इस विधि के द्वारा नियुक्त व्यक्तियों के लिए दीर्घाविधि प्रशिक्षण आवश्यक नहीं है। यह कर्मचारियों में सेवा में प्रगति और तरक्की का अवसर प्रदान करता है तथा कठिन परीक्षण करने हेतु प्रोत्साहित भी करता है। अप्रत्यक्ष भर्ती लोक सेवा आयोग का कार्यभार काफी हद तक कम कर देता है तथा इसके माध्यम से कर्मचारी के कार्यकुशलता, अनुभव का उपयोग देश की प्रगति किया जाता है। अप्रत्यक्ष भर्ती प्रणाली कम समय नष्ट करने वाला और कम खर्चीला है। वहीं दूसरी ओर अप्रत्यक्ष भर्ती प्रणाली के हानियां भी कम नहीं हैं। इस भर्ती प्रणाली में सेवा में पूर्व से विद्यमान सीमित अभ्यर्थियों को अवसर प्रदान किया जाता है जो अप्रजातांत्रिक है। इसमें आपूर्ति के स्रोत और प्रतिबंधित होते हैं तथा इसके द्वारा सक्षम अभ्यर्थियों को सिविल सेवा में प्रवेश के अवसर को नकारा जाता है। इस प्रकार यह भय पैदा करता है। नए चेहरे, नए विचारों को प्रवेश करने से रोकता है। इसमें शीघ्र परिवर्तनशील संसार के साथ सिविल सेवा प्रगति नहीं कर पाती है तथा प्रोन्नति की अवसर की प्रतीक्षा कर्मचारी हमेशा करते ही रह जाते हैं। दोनों प्रकार की भर्तियों के गुण और दोषों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक पद्धति के कुछ सकारात्मक और कुछ नकारात्मक पहलू हैं श्रेष्ठ पद्धति दोनों विधियों को अपनाकर निर्मित की जाती है।

2. **सकारात्मक और नकारात्मक भर्ती-** जब भर्ती के अभिकरण सरकारी सेवाओं में भर्ती के लिए सक्रिय रूप से सर्वाधिक योग्य और अत्यधिक का कार्य कुशल अभ्यर्थियों की खोज करते हैं तो इसे भर्ती की सकारात्मक विधि कहा जाता है। इसके विपरीत अभ्यर्थियों का ध्यान आकर्षित किए बगैर अयोग्य और अनुपयुक्त अभ्यर्थियों को बाहर रखने के लिए भर्ती की नकारात्मक विधि का उपयोग किया जाता है। वर्तमान समय में अभ्यर्थियों को आगे लाने हेतु आकर्षित करने के लिए अनेक देशों में सकारात्मक समाचार पत्रों में विज्ञापन प्रचार साहित्य, सिनेमा इत्यादि को अपनाया जाता है।
3. **सामूहिक और व्यक्तिगत भर्ती-** एक बड़ी संख्या में गैर-तकनीकी और सामान्य सेवाओं के रिक्त पदों को भरना सामूहिक भर्ती की तकनीक है। सरकारी में भारी संख्या में रिक्त पदों

को भरने के लिए जनसंचार माध्यमों के द्वारा विज्ञापन निकाला जाता है। तत्पश्चात परीक्षा और साक्षात्कार की कठिन विधि अपनाई जाती है। लोक सेवा आयोग भारत में इन्हीं विधियों को दोनों विधियों को प्रयोग में लाते हैं।

12.6 प्रशिक्षण का अर्थ

प्रशिक्षण, प्रशासन एवं प्रबन्धन की एक विधा है। किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था में प्रशिक्षण को आवश्यक माना गया है। प्रशिक्षण का उद्देश्य ऐसे तंत्र की स्थापना करना होता है जो समय-समय पर लोक सेवकों के वास्तविक व्यवहार को सकारात्मकता देता रहे और नवीनतम ज्ञान एवं निपुणताओं में वृद्धि भी करे। प्रशिक्षण कार्य एवं संगठन की आवश्यकताओं के लिए एक कर्मचारी के ज्ञान निपुणताओं, व्यवहार, अभिरूचियों तथा मनोवृत्तियों में सुधार करता है, परिवर्तन उत्पन्न करता है तथा ढालता है। प्रशिक्षण का उद्देश्य लोक सेवकों की कार्यकुशलता और क्षमता को बढ़ाना है।

प्रशिक्षण का शाब्दिक अर्थ है, किसी खास कला या व्यवसाय की शिक्षा देना। लोक प्रशासन में प्रशासन का अर्थ किसी कर्मचारी की कार्यकुशलता, शक्ति और बुद्धिमत्ता को सुधारने तथा वांछित दिशा में उसकी रुचि और मूल्य को विकसित करने का सक्रिय प्रयास करना है। व्यापक अर्थों में प्रशिक्षण जीवनपर्यंत चलने वाली एक प्रक्रिया है।

शिक्षा के समान ही प्रशिक्षण जीवन पर्यंत चलने वाली एक लंबी प्रक्रिया है, परंतु शिक्षा की तुलना में प्रशिक्षण के उद्देश्य सीमित और निश्चित होता है। शिक्षा किसी व्यक्ति के बाल्यकाल से प्रारंभ होकर व्यक्तित्व, चरित्र, व्यवहार, रुचियां, क्षमता, आदि के निर्माण को प्रभावित करती है और व्यापक मानसिकता उत्पन्न करती है। परंतु प्रशिक्षण किसी विशेष किस्म के कार्य अथवा व्यवसाय के लिए अपेक्षित कार्यकुशलता और ज्ञान में सुधार करता है। इस प्रकार प्रशिक्षण की अपेक्षा शिक्षा अधिक व्यापक अवधारणा है। फिर भी प्रशिक्षण और शिक्षा एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और अधिकांश बार वे परस्पर व्यापी होते हैं। साधारण शब्दों में, प्रशिक्षण किसी कार्य विशेष को सम्पन्न करने के लिए एक कर्मचारी के ज्ञान एवं निपुणताओं में वृद्धि करने का कार्य है। प्रशिक्षण एक अल्पकालीन शैक्षणिक प्रक्रिया है तथा जिसमें एक व्यवस्थित एवं संगठित कार्य-प्रणाली उपयोग में लायी जाती है, जिसके द्वारा एक कर्मचारी किसी निश्चित उद्देश्य के लिए तकनीकी ज्ञान एवं निपुणताओं को सीखता है। इस प्रकार प्रशिक्षण एक सीखने का अनुभव है। जिसके अन्तर्गत यह एक कर्मचारी में तुलनात्मक रूप से स्थायी परिवर्तन लाने का प्रयास करता है, जो कि उसके कार्य का निष्पादन क्षमता में सुधार लाता है। विभिन्न विद्वानों के द्वारा प्रशिक्षण को निम्नलिखित रूपों में परिभाषित किया गया है-

मैण्डेल के अनुसार, “प्रशिक्षण का अर्थ है, नये कार्य के लिये अभिनवीकरण। वर्तमान कार्य के लिए ज्ञान तथा कुशलता का विकास एवं भावी उत्तरदायित्वों के लिए तैयारी।”

एडविन बी. फिलिप्पा के अनुसार, “प्रशिक्षण किसी कार्य विशेष को करने के लिए एक कर्मचारी के ज्ञान एवं निपुणताओं में वृद्धि करने का कार्य है।”

स्टाल(Stahl) के मतानुसार, “कर्मचारी वर्ग के विकास में प्रशिक्षण मानवीय प्रयास के निर्देशन का एक मूल तत्व है और इस रूप में यह उस समय अधिक प्रभावशाली रहता है जबकि इसे नियोजित, व्यवस्थित एवं मूल्यांकित किया जाता है।”

एस.एल. गोयल कहते हैं, “प्रशिक्षण- (क) एक कार्य प्रक्रिया है, (ख) जिसके द्वारा कार्मिक की क्षमताओं को बढ़ाया जा सकता है, (ग) जिससे कि अपने सांगठनिक कार्यों का निष्पादन करने के लिए अपेक्षित ज्ञान, कुशलताओं तथा रुझानों के अर्थों में सांगठनिक आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके, (घ) अपेक्षाकृत थोड़े समय में ही।”

विलियम जी. टोर्पे की परिभाषा के अनुसार, “प्रशिक्षण, कर्मचारियों के मौजूदा सरकारी पदों के लिए और भविष्य के सरकारी पदों के लिए उनको तैयार करने के उनकी कुशलताओं, आदतों, ज्ञान प्रवृत्तियों का विकास करने की प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य उनकी प्रभावशीलता में वृद्धि करना है।”

अवस्थी और माहेश्वरी कहते हैं कि, “प्रशिक्षण लोक सेवकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के एक सुस्पष्ट प्रयास है और यह व्यावसायिक ज्ञान, व्यापक दृष्टि तथा व्यवहार के सही ढंग को प्रदान करके किया जाता है। यह लगातार महसूस की जाने वाली आवश्यकता के सम्मुख एक सतत या वांछित प्रयास है।”

इस प्रकार प्रशिक्षण एक सक्रिय, सुनियोजित और सुविचारित प्रक्रिया है। एक प्रक्रिया के रूप में प्रशिक्षण विशेष और सीमित है। इसका अर्थ विशेष कार्य अथवा व्यवस्था के बारे में शिक्षण देना है। इसका प्रयोजन कर्मचारियों की उनके कार्य कुशलता ज्ञान और कार्य क्षमता को सुधारना है तथा इसका लक्ष्य कर्मचारियों को उच्च जिम्मेदारियों के लिए तैयार करना भी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जब लोक सेवकों की योग्यता, कुशलता, बुद्धि व दृष्टिकोण को एक निश्चित दिशा में अग्रसर करने का प्रयास किया जाता है तो यह प्रशिक्षण कहलाता है। प्रशिक्षण एक संगठित प्रक्रिया है, जिसके द्वारा लोग किसी निश्चित उद्देश्य के लिए ज्ञान तथा/अथवा निपुणताओं को सीखते हैं।

12.7 प्रशिक्षण का महत्व

प्रशिक्षण कार्मिक प्रशासन का एक बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू है जिस पर प्रशासनिक कार्यकुशलता बहुत हद तक निर्भर करती है। बदली हुई परिस्थितियों में प्रशिक्षण की आवश्यकता अत्यधिक महसूस की गई है। प्रशिक्षण, प्रबंध का सर्वप्रथम एवं सर्वोपरि उत्तरदायित्व है। संगठन के कार्यों को संपन्न कराने के लिए शिक्षण एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में उभरा है। प्रशिक्षण के माध्यम से कर्मचारी अपने कार्यों को अधिक प्रभावी ढंग से संपन्न करने में समर्थ होता है। व्यक्ति में जो कुशलता, आदत, ज्ञान आदि जो पूर्व में विद्यमान रहते हैं, उन्हें प्रशिक्षण द्वारा अधिक परिमार्जित किया जा सकता है। प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य प्रशासन में कार्यकुशलता स्थापित कर कर्मचारियों को उच्च स्तर के कार्यों का उत्तरदायित्व वहन करने की क्षमता विकसित करना है तथा उनकी तकनीकी योग्यताओं के विकास द्वारा प्रत्यक्ष रूप से उनकी कार्यकुशलता को बढ़ाना भी है। प्रशासनिक अधिकारियों के दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में प्रशिक्षण का अत्यधिक योगदान है। इस

प्रकार अधिकारियों एवं कर्मचारियों की मानसिक एवं बौद्धिक क्षमता में वृद्धि प्रशिक्षण का महत्वपूर्ण कार्य है।

सरकार के निरंतर कार्यों में विस्तार के फलस्वरूप प्रशासन अब जटिल विशेषज्ञ और तकनीकी बन गया है। योग्यता प्रणाली पर आधारित भर्ती नीतियां और कार्यक्रम लोक सेवाओं में सर्वोत्तम योग्यता प्राप्त और सक्षम व्यक्तियों को चुनने का प्रयास करते हैं। कुशल प्रशासन हेतु लोक सेवकों को उपयुक्त एवं प्रभावी प्रशिक्षण आवश्यक है। लोक सेवा के कर्मचारियों का प्रशिक्षण आधुनिक काल में प्रबंधन का महत्वपूर्ण पहलू है। अधिकांश चुने गए व्यक्तियों में उपाधियां पूर्व से ही धारित होती है जो बदलते परिदृश्य में पर्याप्त नहीं होती। प्रशिक्षण अधिकारियों एवं कर्मचारियों को नवीन परिस्थितियों के अनुसार प्रशासनिक कार्यों को कुशलता पूर्वक करने में मददगार सिद्ध होता है एवं उसकी कार्यकुशलता एवं दक्षता को सुधारता है। लोक सेवकों को अपने संगठन के लक्ष्यों और उद्देश्यों, संघ कार्य के स्वरूप, वास्तविक कार्य करने की तकनीक और पद्धतियों के बारे में ज्ञान प्रशिक्षण कार्यक्रमों द्वारा दिया जा सकता है। इसी प्रकार बदलते हुए परिदृश्य में अर्जित ज्ञान और कार्यकुशलता को नवीन एवं अद्यतन बनाने हेतु प्रशिक्षण आवश्यक है, जो एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।

प्रशिक्षण का उद्देश्य कर्मचारियों को उनके वर्तमान तथा आगामी कार्यों से परिचित होने हेतु सक्षम बनाना है। प्रशिक्षण एक सक्रिय, सुनियोजित और सुविचारित प्रक्रिया है। प्रशिक्षण के महत्व निम्नलिखित हैं-

1. उच्चतर कार्यनिष्पादन- प्रशिक्षण के द्वारा समग्र रूप से संस्था तथा कर्मचारी दोनों के कार्य की गुणवत्ता तथा मात्रा बेहतर बनती है। ज्ञान, कार्यकुशलता तथा उत्पादकता में वृद्धि होती है।
2. प्रक्रियाओं की एकरूपता- इसके द्वारा कार्य करने की सर्वश्रेष्ठ उपलब्ध कार्यविधियों का मानकीकरण किया जा सकता है तथा उन्हें सभी कर्मचारियों को सिखाया जा सकता है, जिससे कार्यनिष्पादन की गुणवत्ता में सुधार होता है।
3. सीखने की कम अवधि- इससे कार्यनिष्पादन के स्वीकार्य स्तर तक पहुंचने हेतु आवश्यक सीखने की अवधि तथा लागत दोनों में कमी लाने में सहायता मिलती है। कर्मचारियों को गलतियां करके तथा दूसरों को देखकर काम सीखने पर समय व्यर्थ नहीं गंवाना पड़ता।
4. कम पर्यवेक्षण- इससे कर्मचारियों के विस्तृत तथा निरंतर पर्यवेक्षण की आवश्यकता कम होती है तथा वे अपने कार्य में आत्मनिर्भर हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें पता होता है कि उन्हें क्या करना है और कैसे करना है।
5. उच्च मनोबल- इससे कर्मचारियों के कार्य संबंधी संतोष तथा मनोबल में वृद्धि होती है तथा सकारात्मक सोच विकसित होती है, जिसके कारण वे अपने कार्य तथा संस्था के प्रति अधिक सहायक तथा वफ़ादार बनते हैं। अनुशासन तथा संबंधों में सुधार आने के फलस्वरूप अनुपस्थिति की दर तथा श्रमिकों के आवर्तन में कमी आती है।

6. सहभागितापूर्ण प्रबंधन- इससे प्राधिकारों के प्रत्यायोजन तथा विकेंद्रीकरण में सहायता मिलती है। प्रशिक्षित कर्मचारी नये तथा चुनौतीपूर्ण कार्य स्वीकार करने हेतु तत्पर रहते हैं।

12.8 विकासशील देशों में प्रशिक्षण

प्रशिक्षण का मूल उद्देश्य प्रशासनिक अधिकारी को अपने कार्य में कुशल एवं दक्ष बनाना है। प्रशिक्षण के पश्चात् कर्मचारी का व्यक्तित्व तो वही रहता है, किन्तु उसके व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन आ जाता है। विश्व के सभी देशों में लोक सेवकों का प्रशिक्षण एक आवश्यक तथ्य है, किंतु विकासशील देशों में इसकी आवश्यकता और महत्व अधिक है। विकासशील देशों में प्रशिक्षण की तात्कालिक आवश्यकता के कई महत्वपूर्ण कारक हैं। इन कारकों की वजह से विकासशील देशों में विकास नीतियों की संपूर्ण सफलता उपयुक्त प्रशिक्षण पर ही निर्भर है। अधिकांश विकासशील देशों में सामान्यतया प्रशिक्षित और योग्यता प्राप्त व्यक्तियों की कमी है और प्रशिक्षण की सुविधाएं और प्रशिक्षण संस्थान अपर्याप्त हैं। सरकार के कार्यों में निरंतर वृद्धि के फल स्वरूप लोक सेवकों को नए प्रकार के कार्यों को संपादित करने में उच्च कोटि की दक्षता और तकनीकी दृष्टि से प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। प्रशासन जटिल, तकनीकी और विशेषीकृत हो गया है, वहीं दूसरी ओर विकासशील देशों में सामाजिक आर्थिक स्थितियां लगातार बदल रही हैं और तीव्र गति से होने वाले परिवर्तनों की चुनौतियों के लिए प्रशासन के नवीनीकरण की आवश्यकता है। विकासशील देशों में चलाए जाने वाले विकास कार्यक्रमों का क्रियान्वयन असाधारण तेजी और दक्षता से करने के लिए अक्सर प्रशासन पर दबाव बना रहता है, जिसे लोक सेवकों के प्रशिक्षित होने की अवस्था में ही तुरंत निस्तारित किया जा सकता है।

12.9 प्रशिक्षण की पद्धतियाँ एवं तकनीक

प्रशिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा संगठनों के कर्मचारियों के ज्ञान, निपुणताओं तथा रुचियों में वृद्धि की जाती है। विभिन्न संगठनों की परिवर्तित आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए यह अत्यन्त आवश्यक है कि कर्मचारियों के लिए उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाये। लोक सेवकों को प्रशिक्षण प्रदान करने में विविध विधियों का उपयोग किया जाता है, जिनमें महत्वपूर्ण पद्धतियाँ हैं-

1. **औपचारिक शिक्षा द्वारा प्रशिक्षण-** आजकल अधिकांश देशों में औपचारिक शिक्षा द्वारा प्रशिक्षण की तकनीक अपनाई गई है। इसके अंतर्गत व्याख्यान या कक्षाएं आयोजित करके नवनियुक्त कर्मचारियों को वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा औपचारिक रूप से प्रशिक्षण दिया जाता है। यदा-कदा बाह्य विशेषज्ञों द्वारा भी व्याख्यान का आयोजन भी किया जाता है। निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर यह प्रशिक्षण सामूहिक चर्चा, संगोष्ठी, अभिभाषण और कार्यशाला पर आधारित होती है। विभागीय अध्यक्ष भी इस दौरान कर्मचारियों को संबोधित करता है तथा उन्हें आवश्यक निर्देश भी देता है। औपचारिक प्रशिक्षण में फिल्म, दृश्य, श्रवण उपकरण तथा कंप्यूटरों का ही प्रयोग किया जाता है। व्याख्यान पद्धति प्रशिक्षण

का यह सबसे पुराना तरीका है। इसमें वरिष्ठ विद्वानों तथा अनुभवी अधिकारियों द्वारा व्याख्यान दिए जाते हैं। इनसे प्रशिक्षुओं को उनके काम के विभिन्न पक्षों पर नई-नई जानकारी मिलती है। व्याख्यान विधि का एक लाभ यह है कि यह एक प्रत्यक्ष विधि है, जिसे कि प्रशिक्षार्थियों के एक बड़े समूह के लिए प्रयोग किया जा सकता है। अतः इससे समय एवं धन, दोनों की बचत होती है। इस विधि का प्रमुख दोष यह है कि इसके द्वारा केवल सैद्धान्तिक ज्ञान की प्रदान किया जा सकता है, व्यावहारिक ज्ञान नहीं।

2. **कार्य करते हुए अर्जित अनुभव द्वारा प्रशिक्षण-** प्रायः अधिकारी और कर्मचारी कार्य करने के दौरान अर्जित अनुभवों से बहुत कुछ सीखते हैं और इसी सीखने की प्रक्रिया को बनाए रखने के लिए उनका स्थानांतरण एक अनुभाग से दूसरे अनुभाग में किया जाता है। वरिष्ठ तथा अनुभवी अधिकारियों द्वारा समय-समय पर अनुदेश या निर्देश इस सीखने की प्रक्रिया में नए कर्मचारियों की सहायता करते हैं। अल्पकालिक तौर पर अंतर विभागीय विनिमय कार्यक्रम या अध्ययन दौरे द्वारा भी कर्मचारियों की दक्षता को सुधारने का प्रयास किया जाता है। समय के साथ यह सीखने की प्रक्रिया अधिक परिपक्व होती जाती है और प्रशासक के रूप में उसकी कार्यशैली में आवश्यक सुधार भी लाती है। लेकिन यह पद्धति काफी धीमी है और इसमें अत्यधिक समय भी लगता है। अक्सर इसके स्पष्ट रूप से परिभाषित उद्देश्य और निश्चित समय सीमा नहीं होती है।
3. **प्रशिक्षण की सम्मेलन पद्धति-** वर्तमान समय में यह पद्धति सर्वाधिक प्रचलित है। प्रशिक्षण हेतु विभिन्न विभागों से चुने गए अधिकारियों एवं कर्मचारियों के समूह को एक मंच पर लाकर चर्चा द्वारा अनुभव और विचारों को साझा किया जाता है। प्रशिक्षण की यह व्यवस्था विश्लेषण पद्धति भी कही जाती है। इसमें दूसरों के अनुभव से सीखने का पर्याप्त अवसर भी प्राप्त होता है और प्रशिक्षण पा रहे कर्मचारियों की भूमिका भी सक्रिय बनी रहती है। चर्चा को सही दिशा में रखने के लिए अनुदेशक का कार्य भी महत्वपूर्ण हो जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कई अन्य देशों में सम्मेलन पद्धति बहुत ही लोकप्रिय है। भारत में भी भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों के अल्पकालिक प्रशिक्षण के लिए इस पद्धति का उपयोग किया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत, सामूहिक विचार-विमर्श द्वारा सूचनाओं एवं विचारों का आदान-प्रदान किया जाता है। इसके उद्देश्य एक समूह के ज्ञान एवं अनुभव से सभी को लाभान्वित करना होता है। इस विधि के अन्तर्गत भाग लेने वाले विभिन्न विषयों पर अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं, तथ्यों, विचारों एवं आँकड़ों का आदान-प्रदान एवं परीक्षण करते हैं, मान्यताओं की जाँच करते हैं, निष्कर्षों को निकालते हैं तथा परिणामस्वरूप कार्यों के निष्पादन में सुधार हेतु योगदान देते हैं।
4. **प्रशिक्षण की अभिषद (सिंडीकेट) पद्धति-** प्रशिक्षण की इस पद्धति का जन्म इंग्लैंड में एडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ कॉलेज (हेनले-ओन-थेम्स) में हुआ था। इस पद्धति में तीन या चार प्रशिक्षुओं के छोटे से दल को अध्ययन परियोजना का काम दिया जाता है। सामान्य सदस्यों के मार्गदर्शन में प्रशिक्षु से उस विषय का गहन अध्ययन कराया जाता है। अतः यह प्रशिक्षण

की भागीदारी पद्धति है। अभिषद दो प्रकार के होते हैं- जानकारी संग्रह और समस्या समाधान।

5. **विषय अध्ययन पद्धति-** इसमें विषय विशेष का सघन और गहरा अध्ययन किया जाता है। इसके लिए वास्तविक मामलों का वर्णन उन लोगों द्वारा किया जाता है जिनको अध्ययनाधीन मामले का निजी अनुभव होता है। इसके बाद सामान्य सदस्य के निर्देशन और देख-रेख में सामूहिक परिचर्चा की जाती है। इस तरीके से लोकसेवकों की समझ और कार्यक्षमता विकसित होती है।
6. **संवेदनशीलता प्रशिक्षण-** यह सबसे जटिल और नवीनतम पद्धति है। प्रशासनिक सिद्धांत के साहित्य में कर्मचारियों की व्यक्तिगत प्रभावशीलता में सुधार करने के लिए इस पद्धति का सुझाव क्रिस आर्गिरिस ने दिया था। इसको टी-ग्रुप ट्रेनिंग भी कहते हैं। इसका लक्ष्य है- व्यवहार के अपेक्षित ढंगों के प्रति प्रशिक्षुओं की मनोवृत्तियों का अनुकूलना। ए0आर0 त्यागी के शब्दों में- “टी-ग्रुप में प्रशिक्षु अपनी स्वभावगत विलक्षणताओं को अपने साथी प्रशिक्षुओं के सामने लाते हैं जो आपसी व्यवहार के द्वारा उनको रगड़कर साफ कर देते हैं। ये प्रशिक्षु अपने पुराने व्यवहार के प्रति सचेत हो जाते हैं जिसका पता उनको अन्यथा कभी नहीं चल पाता और इस प्रकार यह पद्धति उन्हें आत्मविश्लेषण तथा आत्मविकास का अवसर प्रदान करती है।”

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रशिक्षण की कोई भी पद्धति सर्वश्रेष्ठ नहीं है। इसे आवश्यकता समय एवं उद्देश्यों को देखकर ही निर्धारित किया जाना चाहिए। भिन्न-भिन्न देश प्रशिक्षण कार्यक्रमों की आवश्यकताओं के अनुकूल जिन विभिन्न पद्धतियों का समावेश कर अपने कार्यक्रमों को संचालित करते हैं। संगोष्ठी, सम्मेलन, कार्यशाला, सामूहिक चर्चाएं और क्षेत्र के दौरे इस संदर्भ में काफी आवश्यक हो जाते हैं। पुनश्चर्या और अभिविन्यास पाठ्यक्रम की उपयोगिता भी इस संदर्भ में काफी महत्वपूर्ण हो जाती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भर्ती की ठोस नीति की आवश्यकता को सर्वप्रथम किस देश ने अनुभव किया था?
2. आधुनिक समय में कौन सा सबसे पहला देश है जिसने भर्ती प्रणाली का विकास किया?
3. भारत में योग्यता का सिद्धांत कब प्रारंभ हुआ?
4. इनामी पद्धति किस देश में प्रचलित थी?
5. एशेटन कमेटी रिपोर्ट का संबंध किस देश से है?
6. यह किसने कहा कि प्रशिक्षण नये कार्य के लिए अभिनवीकरण है?
7. प्रशिक्षण की यह परिभाषा किसने दी कि “प्रशिक्षण लोक सेवकों की कार्यक्षमता बढ़ाने का एक सुस्पष्ट प्रयास है।”
8. लोक सेवकों के प्रशिक्षण के उद्देश्यों के बारे में सर्वप्रथम किस रिपोर्ट में बताया गया था?

12.10 सारांश

यह इकाई प्रशासनिक प्रक्रिया के दो महत्वपूर्ण घटकों—**भर्ती और प्रशिक्षण**—पर केंद्रित है। इसमें सबसे पहले भर्ती की संकल्पना को स्पष्ट किया गया है, जिसके अंतर्गत उपयुक्त व्यक्ति को सही पद पर चयनित करने की प्रक्रिया को समझाया गया है। भर्ती की **विशेषताएँ** जैसे निष्पक्षता, पारदर्शिता, योग्यता-आधारित चयन और अवसर की समानता पर चर्चा की गई है। इसके साथ ही, इकाई में भर्ती के **महत्व** को भी रेखांकित किया गया है कि किस प्रकार यह किसी संगठन या प्रशासन की दक्षता और उत्पादकता की आधारशिला होती है। आगे भर्ती के **प्रकारों**—जैसे प्रत्यक्ष भर्ती, पदोन्नति के माध्यम से भर्ती, संविदा भर्ती आदि—का विवेचन किया गया है।

इकाई के दूसरे भाग में **प्रशिक्षण** की अवधारणा को विस्तृत रूप से समझाया गया है। प्रशिक्षण को एक सतत प्रक्रिया माना गया है, जो कर्मचारी के ज्ञान, कौशल और कार्य-दक्षता को बढ़ाने के लिए आवश्यक है। इसमें **प्रशिक्षण के महत्व** को इस दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है कि यह न केवल कर्मचारी के प्रदर्शन में सुधार लाता है, बल्कि संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति में भी सहायक होता है। विकासशील देशों के सन्दर्भ में, प्रशिक्षण को प्रशासनिक क्षमता निर्माण और सुशासन के लिए अनिवार्य बताया गया है।

समग्र रूप से, यह इकाई यह दर्शाती है कि किसी भी संगठन या प्रशासनिक ढांचे के सशक्त और सक्षम बनने की प्रक्रिया भर्ती से आरंभ होती है और प्रशिक्षण के माध्यम से परिपूर्ण होती है।

12.11 शब्दावली

मानदंड- नियम या आधार, अर्हता- योग्यता, वरिष्ठता- सेवा प्रारंभ करने की तिथि से लेकर गणना की गयी सेवा की अवधि, विचारधारा- विचारों का समूह जो निहित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु आधार होता है, मंत्रालय- सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों के लिए कार्यकारी एवं उत्तरदायी संस्था, विभाग- नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु मंत्रालय का एक भाग, आंदोलन- असंतोष की अभिव्यक्ति का माध्यम, उपबंध- प्रावधान

12.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. चीन, 2. प्रशा, 3. 1853 से, 4. अमेरिका में, 5. ब्रिटेन, 6. मैण्डेल ने,
7. अवस्थी और माहेश्वरी ने, 8. एशेटन कमेटी रिपोर्ट- 1944,

12.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भट्टाचार्य, मोहित, 2012, लोक प्रशासन, वर्ल्ड प्रेस, कोलकाता।
2. शर्मा, एम. पी., 2005, लोक प्रशासन, किताब महल, इलाहाबाद।

3. अवस्थी और माहेश्वरी, 2010, लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
4. निग्रो, फेलिक्स ए., 1963, पब्लिक पर्सनल एडमिनिस्ट्रेशन, हाल्ट, न्यूयॉर्क।

12.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. डे, बाटा के., 1978, भारत में नौकरशाही का विकास और लोक प्रबंध, उप्पल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
2. सरन, पी., 2005, आधुनिक लोक प्रशासन, मीनाक्षी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
3. अवस्थी एवं अवस्थी, 2017, भारत में लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

12.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. भर्ती के अर्थ एवं महत्व का वर्णन कीजिए।
2. भर्ती के उद्देश्य एवं इसके प्रकार का मूल्यांकन कीजिए।
3. भर्ती की अर्हता पद्धतियों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
4. प्रशिक्षण के अर्थ एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।
5. प्रशिक्षण के उद्देश्य एवं प्रशिक्षण के प्रकार का वर्णन कीजिए।
6. प्रशिक्षण की पद्धतियाँ एवं तकनीक क्या हैं? विस्तार से वर्णन कीजिए।

इकाई 13 भारत में वित्तीय प्रबन्ध व बजट का निर्माण प्रक्रिया

इकाई की संरचना

- 13.1. प्रस्तावना
- 13.2 उद्देश्य
 - 13.3 वित्तीय प्रबन्धन: आशय
 - 13.3.1 वित्तीय प्रबन्धन: महत्व
 - 13.4 भारत बजट निर्माण प्रक्रिया
 - 13.4.1 बजट की तैयारी
 - 13.4.2 बजट की स्वीकृति
 - 13.4.3 बजट का क्रियान्वयन
 - 13.4.4 बजट का विधायी नियन्त्रण
- 13.5 सांराश
- 13.6 शब्दावली
- 13.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 13.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 13.10 निबन्धात्मक प्रश्न

13.1. प्रस्तावना

भारत में लोक प्रशासन के वित्तीय प्रबन्ध व बजट का निर्माण प्रक्रिया से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है, इससे पहले की इकाइयों के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि भारतीय प्रशासन क्या है? स्थानीय शासन एवं राज्य शासन क्या है।

वित्त प्रशासन का जीवन रक्त है, प्रशासन के प्रबन्ध में वित्त शरीर और उसकी छाया के रूप में जुड़े हैं। किसी भी संगठन, उद्योग, कार्यालय और उद्यम के क्रियान्वयन हेतु कर्मचारी और पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है, जिसे केवल वित्त के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। प्रशासकीय इंजन का ईंधन वित्त है। प्रशासन का प्रबन्ध बिना उसके असम्भव है। भारत में लोककल्याणकारी और विकासात्मक राज्य की अवधारणा के परिणामस्वरूप सरकार के सामाजिक और विकासात्मक कार्यों में अप्रत्याशित वृद्धि बनी हुई है। जिस हेतु राजस्व एकत्रण, क्रियान्वयन एवं विधायी नियंत्रण की महती आवश्यकता है। जो उपलब्ध वित्तीय स्रोतों के इष्टतम प्रयोग को बनाए रखे।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप भारत में वित्तीय प्रबन्ध के आशय, तत्व, सिद्धांत एवं बजट के माध्यम से उसके सम्पूर्ण कार्यक्षेत्र का विवेचन कर सकेंगे।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

1. वित्तीय प्रबन्ध के अर्थ तथा विभिन्न परिभाषाओं को जान सकेंगे।
2. वित्तीय प्रबन्ध के महत्व को लिख सकेंगे।
3. बजट निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे।

13.3 वित्तीय प्रबन्धन: आशय

“ वित्तीय प्रबन्ध ” दो शब्दों के मेल से बना है। “ प्रबन्ध ” शब्द का आशय सामान्य उद्देश्य के लिए मानव एवं संसाधनों का सरल प्रयास करने से है। “ वित्तीय ” का शाब्दिक अर्थ है धन सम्बन्धित संसाधन लोक प्रशासन में वित्तीय प्रबन्ध में उन प्रशासनिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनके द्वारा वित्तीय साधनों का संग्रह, विनियोजन तथा लेखांकन किया जाता है। बजट बनाने तथा उसे क्रियान्वित करने से सम्बन्धित सभी प्रक्रियाएँ वित्तीय प्रबन्ध का केन्द्र-बिन्दु होती हैं।

सार्वजनिक आवश्यकताओं को परिपूर्ण करने के लिए सरकार द्वारा विभिन्न स्रोतों से धन एकत्र किया जाता है। परन्तु लोकल्याणकारी और विकासात्मक राज्य की अवधारणा के परिणामस्वरूप सरकार के सामाजिक और विकासात्मक कार्यों में निरन्तर वृद्धि होने से राजकोष में धन अपर्याप्त रहता है; दूसरी ओर प्रशासनिक संरचना की आवश्यकता और कर्मचारियों की सार्वजनिक वित्त पर तीक्ष्ण नजर सार्वजनिक वित्त प्रयोग को दिग्भ्रमित कर सकती है। अतः चोरी को रोकने एवं उपलब्ध वित्तीय स्रोतों के इष्टतम प्रयोग के लिए उत्तम वित्तीय प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। लोक प्रशासन में इसके अध्ययन को ही वित्तीय प्रबन्ध कहा जाता है। इस प्रकार वित्तीय प्रबन्ध का प्रमुख ध्येय राज्य के वित्त का उचित, दक्ष और प्रभावशाली प्रबन्ध है। इसके अन्तर्गत सरकार के वे तमाम कार्य आते हैं जिनका संबंध सार्वजनिक धन को इकट्ठा करने, व्यय करने, बजट बनाने, आय-व्यय का हिसाब बनाने, सरकार के लेन देन तथा पूँजी एवं दायित्वों का विवरण रखने एवं इनका सम्पूर्ण प्रतिवेदन तैयार करने से होता है।

वित्तीय प्रबन्ध का सम्बन्ध मुख्यतया निम्नलिखित बातों से है-

- 1- सार्वजनिक सेवाओं को सम्पन्न करने के लिए धन का एकत्रिकरण करना।
- 2- सार्वजनिक सेवाओं को प्रदान करने के लिए धन का व्यय करना (बजट तैयार करना)।

3- धन एकत्रीकरण और व्यय के लिए प्रशासन को अधिकृत करना अर्थात अनुमानित बजट का विधानमंडल में स्वीकृत कराना।

4- सार्वजनिक धन के प्रयोग करने वालों की नियन्त्रण सत्ता का निर्धारण करना।

5- आय-व्यय सम्बन्धी सिद्धान्तों को क्रियान्वित करना, जिससे बजट का निष्पादन कहते हैं।

6- व्यय किए गए धन के सम्बन्ध में उत्तर दायित्व का निर्धारण करना।

7- बजट सम्बन्धी समस्त प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में कानूनी उत्तरदायित्व लेना तथा परीक्षण कराना, ताकि विधायिका को जवाब दिया जा सके।

आइए अब वित्तीय प्रबन्ध के कुछ अधिक परिष्कृत परिभाषाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। एल0 डी0 व्हाइट के अनुसार, “वित्त प्रबन्ध के अन्तर्गत वे क्रियाएं सम्मिलित हैं जो अधिकारियों को धन उपलब्ध कराती हैं तथा उसका नीतिपरक एवं वैधानिकता के साथ कुशलतापूर्वक प्रयोग का आश्वासन देती हैं”।

डॉ0 सी0 पी0 भाम्भरी के अनुसार, “ वित्त का प्रशासन में वही मूल्य बताया है जो वातावरण में ऑक्सीजन का है एवं प्रबन्ध उसको वैधानिकता के साथ प्रयोग करता है”।

जेज गैस्टन के अनुसार, “ वित्त प्रबन्ध सरकारी संगठन का वह भाग है जो सार्वजनिक धन के संग्रह, सुरक्षा तथा आबंटन, सार्वजनिक राजस्व तथा व्यय में समन्वय, राज्य की तरफ से ऋण, क्रियान्वयन के प्रबन्ध, सार्वजनिक घरेलू वित्त मामलों के सामान्य नियंत्रण से सम्बन्धित है”।

यद्यपि उपरोक्त परिभाषा वित्तीय प्रबन्ध के संकुचित क्षेत्र को दर्शाती है, लेकिन वित्तीय प्रबन्ध को व्यापक रूप में जी0 एस0 लाल निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं, “वित्तीय प्रबन्ध में राज्य के वित्त के समुचित प्रयोग और फलोत्पादक प्रशासन से सम्बन्धित सिद्धान्तों और व्यवहार के साथ सम्बन्धित होता है” इस प्रकार उपरोक्त बातों के अध्ययन के बाद निम्नलिखित परिभाषा दी जा रही है।

“वित्तीय प्रबन्ध में सार्वजनिक आय-व्यय की उन समस्त क्रियाओं को शामिल करते हैं जोकि विधानमंडल के द्वारा बनाई गयी विधि के अनुसार हैं ताकि समस्त प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में कानूनी उत्तरदायित्व लेना तथा परीक्षण कराना, ताकि विधायिका को जवाब दिया जा सके।”

13.3.1 वित्तीय प्रबन्धन: महत्व

लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विस्तार के साथ सरकार के कार्यों में लगातार वृद्धि हुई इसी प्रकार प्रशासन के प्रत्येक कार्य के लिए कर्मचारी एवं संसाधन की माँग बढ़ी जिसकी पूर्ति वित्त

द्वारा ही सम्भव थी। वर्तमान वैश्वीकरण की परिधि में जिस नवीन कल्याणकारी विश्व संकल्पना का उद्भव हुआ है, वहां सरकार ने उन नए क्षेत्रों में प्रवेश किया जो राज्य के कार्य क्षेत्र से बाहर रखे गये थे। इस प्रकार बदलते हुए सन्दर्भ में वित्तीय प्रबन्ध की महत्ता प्रशासन में अपने आप दृष्टिगोचर होती है कि बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिए संसाधन की उत्पत्ति के नए स्रोतों तथा अनुकूलतम प्रयोग को महत्ता दी जाए।

वित्त प्रशासन का महत्वपूर्ण अंग है। वह उसका जीवन रक्त या जीवन आधार है। प्रशासन में तथा वित्त में उतना ही धनिष्ठ संबंध है जितना शरीर और रक्त में वस्तुतः प्रशासनिक इंजन का ईंधन वित्त है। शासन के प्रत्येक कार्य वित्त के अभाव में पूर्ण नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार हृदय शरीर में शुद्ध रक्त की पूर्ति कर चेतना और ऊर्जा का संचार करता है। उसी प्रकार प्रशासन में वित्त उसकी नीतियाँ तथा योजनाओं को पूर्ण करता है, क्योंकि वित्त के अभाव में उनका कार्यन्वयन संभव नहीं है। अतः वित्त को लोक प्रशासन की चालक शक्ति कहा जाता है।

प्राचीन समय में जब राज्य वाहा आक्रमण से बचाव, आन्तरिक शान्ति को बनाये रखने तथा प्रशासन के सामान्य क्रियाओं के संचालन हेतु धन की आवश्यकता पड़ती थी। परन्तु आज राज्य के कार्य में उसके लोककल्याणकारी योजनाओं के लगातार वृद्धि से वित्त की अनिवार्यता बढ़ती जा रही है। फलस्वरूप वित्तीय प्रबन्ध का प्रशासन अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु बन गया है, जो सीमित संसाधन के आधार पर कल्याणकारी विचारधारा के अतिरिक्त लोकतंत्रात्मक व्यवस्था और प्रबन्ध के क्षेत्र में विकसित तकनीकी विशेषता के फलस्वरूप भी बड़ा है।

अभ्यास प्रश्न 1

1. लघु-उत्तरीय प्रश्न

अ. वित्तीय प्रबन्ध का क्या आशय।

ब. वित्तीय प्रबन्ध महत्व को बताइए।

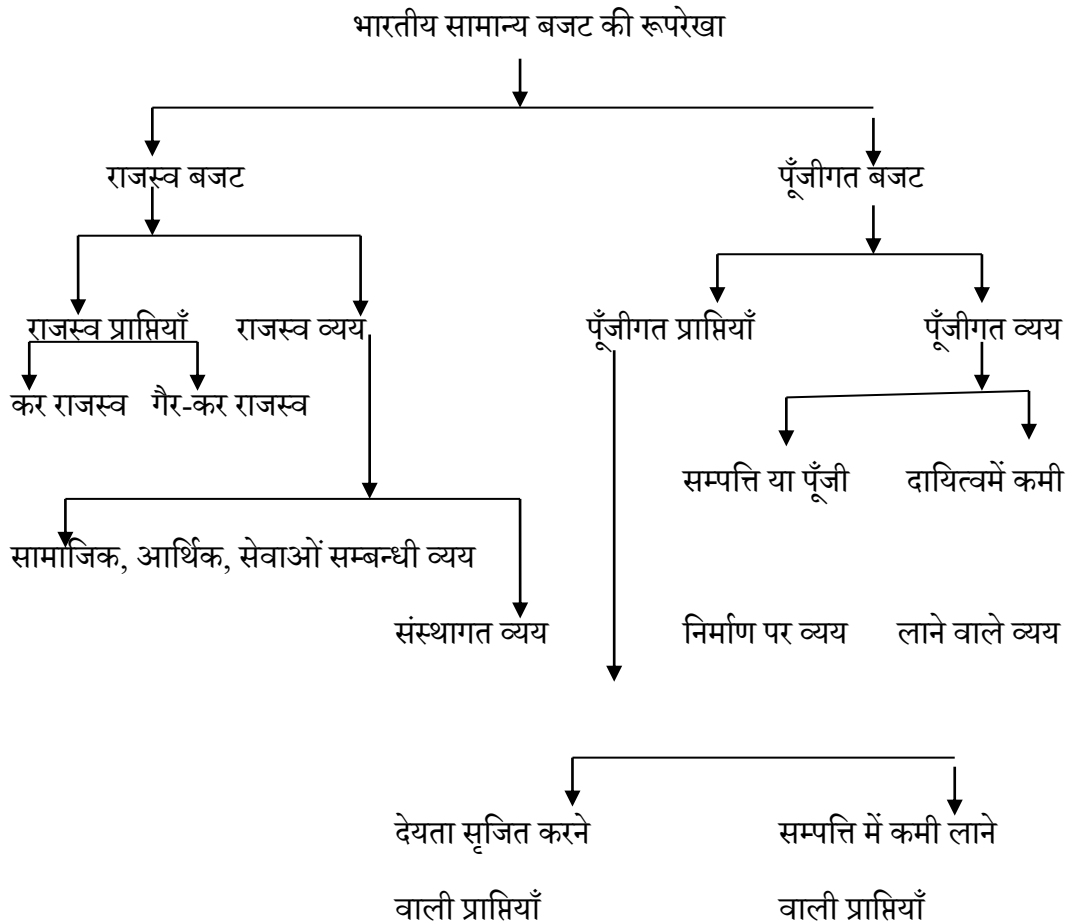
13.4 भारत बजट निर्माण प्रक्रिया

भारत में आधुनिक युग में बजट पद्धति का आरम्भ वायसराय लार्ड केनिंग के कार्यकाल में हुआ। जेम्स विल्सन को 1859 में वायसराय कार्यकारिणी में वित्त विशेषज्ञ के रूप में नियुक्त किया गया। जिन्होंने 1860 में बजट के माध्यम से भारत की वित्तीय स्थिति का बड़ा सुन्दर विश्लेषण और सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। जिस कारण इन्हे भारत में आधुनिक बजट पद्धति का संस्थापक और जन्मदाता कहा जाता है। भारत में बजट पद्धति तैयार करने का उत्तरदायित्व कार्यपालिका को देती है।

‘बजट’ शब्द का तो संविधान में कही उल्लेख ही नहीं है। संविधान का अनुच्छेद 112 के अनुसार एक “वार्षिक वित्तीय विवरण” तैयार करने का उल्लेख करता है, जो, जो प्रत्येक वित्तीय वर्ष के आरम्भ में राष्ट्रपति की स्वीकृति के साथ संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जायगा जिसमें भारत सरकार के आय और व्यय के अनुमान प्रस्तुत किए जायेंगे। संघीय व्यवस्था के अनुरूप भारत में सम्पूर्ण देश के लिए केवल एक ही बजट नहीं होता है। राज्यों के अपने अपने पृथक् बजट होते हैं। संघीय स्तर पर भारत में द्वि-बजट की व्यवस्था विद्यमान है- (1) सामान्य बजट, तथा (2) रेलवे बजट। रेलवे बजट का आरम्भ सन् 1921 में एकवर्ध समिति की सिफारिश पर सामान्य बजट से अलग कर किया गया। ऐसा व्यापारिक दृष्टिकोण के आधार पर किया गया कि रेलवे द्वारा निश्चित अंशदान की व्यवस्था होने से सिविल अनुमानों में स्थिरता आए और रेलवे वित्त के प्रशासन में लोचन बना रहे। सामान्य बजट का परिसीमन भारतीय संघीय व्यवस्था में शक्तियों के बँटकारे द्वारा कर दिया गया है। संघीय सरकार और राज्य सरकारें क्रमशः संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची में उल्लिखित कार्यों तक ही सीमित है। इस प्रकार केन्द्रीय बजट इस सीमाओं के अन्तर्गत रहकर ही बनाया जाता है।

भारतीय सामान्य बजट की रूप-रेखा के अन्तर्गत बजट में सरकार के आय-व्यय को तीन खण्डों में रखा जाता है (1) समेकित संचित निधि, (2) आकस्मिक निधि, तथा (3) लोकखाता। जिसमें समेकित निधि से व्यय करने के लिए संसद से पूर्व-स्वीकृति अनिवार्य है, जिस हेतु संविधान के अनुच्छेद 113 के अनुसार अनुदानों की माँगों के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। जबकि आकस्मिक निधि से राष्ट्रपति के आदेशानुसार आकस्मिक घटनाओं युद्ध, बाढ़, अकाल, भूकम्प आदि आवश्यकताओं में परिपूर्ति के लिए व्यय किया जाता है। लोकखाता में जन सामान्य के द्वारा भविष्य निधि, अल्प बचत संग्रह और अन्य जमा धन आता है जो सरकार की निगरानी में रहता है, और वापस लौटाने की जिम्मेदारी होती है। अतः इनमें से होने वाले व्यय के लिए संसद की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती है। व्यय के आधार पर भारतीय बजट में दो खण्ड पाये जाते हैं (1) राजस्व बजट (2) पूँजीगत बजट। राजस्व बजट में दो भाग राजस्व प्रप्तियाँ तथा राजस्व व्यय राजस्व प्रप्तियाँ में आयकर, निगम कर, उत्पादकर और अन्य करों, फीस एवं गैर कर इत्यादि से होने वाली आय को शामिल करते हैं। राजस्व व्यय जिसमें सामाजिक, आर्थिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं और व्यवस्था सम्बन्धी व्यय को इस भाग में शामिल किया जाता है। पूँजीगत बजट में सरकार की पूँजीगत प्राप्तियाँ तथा पूँजीगत व्यय शामिल है। पूँजीगत प्राप्तियाँ में जनता से लिए गए उधार, विदेशी सरकार और संस्थाओं से प्राप्त उधार, अल्प बचत तथा भविष्य निधि, ऋण तथा अग्रिमों की वापसी, विनिवेश, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से प्राप्त आय को शामिल किया जाता है। पूँजीगत व्ययों को दो भागों में योजनागत पूँजीगत व्यय तथा गैर योजनागत पूँजीगत व्यय में रखा जाता है, जिसमें

जमीन, इमारतों, मशीनों, उपकरणों जैसे परिसम्पत्तियों को प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले व्यय को शामिल करते हैं।



भारत में बजट निर्माण करने का दायित्व वित्त मन्त्रालय को प्राप्त है। वित्तमन्त्री, जोकि राष्ट्र के कोष का संरक्षक तथा देश को वित्तीय नीति का कर्णधार माना जाता है, बजट प्रस्ताव संसद के समक्ष रखता है और वित्त विधेयक पारित कर संसद वित्तीय वर्ष के लिए बजट का अनुमोदन करती है इस बजट निर्माण में वित्त मन्त्रालय को अनेक प्रशासनिक मन्त्रालय, योजना आयोग एवं नियन्त्रक-महा लेखा परीक्षक का महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता है, जो एक दिन नहीं अपितु वर्ष भर चलने वाली प्रक्रिया की परिणत है। भारतीय बजट प्रक्रिया को प्रमुख रूप से चार चरणों में विभाजित किया जा सकता है:-

- (1) बजट की तैयारी
- (2) बजट की स्वीकृति
- (3) बजट का विधायी नियन्त्रण

13.4.1 बजट की तैयारी

भारत में बजटनिर्माणप्रक्रिया में सर्वप्रथम वित्त मन्त्रालय प्राथमिकता रूप में विभिन्न मन्त्रालय, वित्त आयोग, योजना आयोग तथा नियन्त्रण महालेखा परीक्षक के सहयोग से वित्तीय वर्ष (भारत में वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से आरम्भ होकर 31 मार्च तक रहता है) के शुरू होने के सात से आठ माह पूर्व बजट अनुमान तैयार करता है। बजट की तैयारी के इस प्रथम चरण में कार्यपालिका के द्वारा सरकार की निति, योजना कार्यक्रम आदि का निरूपण किया जाता है जिसके आधार पर बजट की तैयारी शुरू की जाती है। प्रशासनिक मन्त्रालय और उसके अधीनस्थ कार्यालयों से उसकी आवश्यकताओं की विस्तृत जानकारी प्राप्त की जाती है। वित्त आयोग केन्द्र और राज्य के मध्य बाँटे जाने वाले संसाधनों के सम्बन्ध में सिद्धान्तों को निर्धारित करता है। योजना आयोग योजनाओं की प्राथमिकता के सम्बन्ध में मन्त्रणा देता है इस बजट अनुमान की विचार विमर्शीय प्रक्रिया में विभिन्न वित्तीय संस्थाओ, जैसे जीवन बीमा निगम, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, औद्योगिक विकास संस्थान आदि के प्रतिनिधि शामिल होते है। योजना आयोग अपने स्तर पर विचार विमर्श में राज्यों के वित्त सचिवों वित्त आयुक्तों, विभिन्न क्षेत्रों के तकनीकी विशेषज्ञों, संघीय सरकार के मन्त्रियों के साथ गोष्ठियाँ आयोजित करता है। इस विचार विमर्श प्रक्रिया में गैर-योजना खण्ड के व्यय की सीमा का भी निर्धारण किया जाता है, एवं संघीय सरकार के समस्त स्रोतों का आकलन किया जाता है, और नियन्त्रक महालेखा परीक्षक प्राक्कलन तैयार करने हेतु लेखा कौशल उपलब्ध कराता है।

बजट निर्माण प्रक्रिया- विभिन्न चरण

बजट अनुमान का कार्य भारत में वित्त मन्त्रालय द्वारा जुलाई-अगस्त से ही आरम्भ हो जाता है। वह विभिन्न मन्त्रालयों तथा विभागों के अध्यक्ष को राजस्व और व्यय का अनुमान प्रस्तुत करने के लिए निर्धारित प्रपत्र भेजता है। जो विभागाध्यक्ष द्वारा स्थानीय कार्यालयों को भेजता है। इस प्रपत्र में निम्नलिखित खण्ड होते है:-

- (1) विनियोगों के मुख्य और उपशीर्षक
- (2) गत वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय
- (3) चालू वर्ष के स्वीकृत अनुमान

(4) चालू वर्ष के संशोधित अनुमान

(5) आगामी वर्ष के लिए बजट अनुमान

(6) बजट अनुमानों में प्रस्तावित वृद्धि या कमी का स्पष्टीकरण।

स्थानीय कार्यालयों में अनुमान प्रपत्र तैयार करके सम्बन्धित विभागों को भेज दिया जाता है। विभागाध्यक्ष प्राक्कलन प्रपत्र का सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण कर उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन करके उन्हें समेकित एवं एकीकृत करके मन्त्रालय को भेजा जाता है। मन्त्रालय में विभाग स्तर पर इनका सूक्ष्म निरीक्षण करके संशोधन उपरान्त नवम्बर मध्य तक वित्त मन्त्रालय को प्रेषित कर देते हैं। मन्त्रालय द्वारा ही इसकी एक प्रति नियन्त्रक महालेखा परीक्षक को भी प्रेषित कर दी जाती है जो अपनी टिप्पणियां वित्त मन्त्रालय के पास भेजता है। वित्त मन्त्रालय अनुमान प्रपत्रों का सूक्ष्मता पूर्वक मितव्ययिता सम्बन्धी परीक्षण करता है। यहाँ नीति सम्बन्धी परीक्षण नहीं किया जाता, न ही विशेषज्ञ की तरह जाँच ही की जाती है।

पूँजीगत अनुमानों के लिए योजना आयोग से परामर्श करता है नयी योजनाओं के बारे में वित्त मन्त्रालय द्वारा छानबीन करते समय निम्न प्रश्न कर सकता है-

- (1) क्या प्रस्तावित व्यय वास्तव में आवश्यक है ?
- (2) यदि है तो अब तक इसके बिना कैसे काम चल रहा था ?
- (3) इसकी आवश्यकता अभी क्यों पड़ी ?
- (4) इस व्यय के लिए वित्तीय साधन कहां से प्राप्त होंगे ?
- (5) क्या नए विकास इस व्यय को अनावश्यक बना सकते हैं ?

इस प्रकार वित्त-मन्त्रालय प्रश्नों के द्वारा नए व्यय मद की छानबीन पर्याप्त गहराई तक करता है। वित्त मन्त्रालय की व्यय मद की स्वीकृति के बिना उसे बजट में शामिल नहीं किया जा सकता उसकी असहमति पर सम्बन्धित विभाग का मन्त्री इस सम्बन्ध में अपने विचार रखता है। असहमति होने पर प्रस्तावित योजना पर मन्त्रिमण्डल में विचार - विमर्श होता है। मन्त्रिमण्डल द्वारा जो भी निर्णय लिया जाए उसे सभी को मानना होता है। अन्यथा असहमति प्रकट करने वाले व्यक्ति के समक्ष मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र देने का ही विकल्प मौजूद होता है। वित्त मन्त्रालय यह निगरानी करता है कि किसी मन्त्रालय को उसकी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक धन आवंटित न हो जाए। नयी योजनाओं या कार्यक्रम से सम्बन्धित व्यय पर ही अधिक सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता रहती है। इस सन्दर्भ

में सर हर्बर्ट कहते हैं कि, “वित्त मन्त्रालय को समीक्षा तथा प्रति-परिक्षण करने की एक विशेष दक्षता प्राप्त होती है, जो लम्बे अनुभव का परिणाम है, लेकिन इसमें समयानुसार निरन्तर नया परिवर्तन होते रहना जरूरी है ताकि उसका दृष्टिकोण कुछ बुद्धिमान व्यक्ति जैसा लगे।”

वित्त मन्त्रालय के नियन्त्रण का समर्थन दो बातों के आधार पर किया जाता है:- (1) वित्त मन्त्रालय स्वयं व्ययकारी विभाग नहीं होता है इसलिए वह करदाताओं द्वारा चुकायी गयी राशियों का अधिक निष्पक्षता से रक्षा करता है। (2) वित्त मन्त्रालय द्वारा दूसरे मन्त्रालयों के व्यय के लिए वित्त का प्रबन्ध किया जाता है अतः यह आवश्यक है कि वह इस व्यय के औचित्य के सम्बन्ध में निर्णय ले सके। इन्हीं बातों पर वित्त मन्त्री और वित्त-मन्त्रालय की विशिष्टता के व्यक्त करते हुए ब्रिटेन में गठित हाल्डेन कमेटी ने कहा था कि, “यदि वित्त मन्त्री को जलाशय में पानी एकत्रित करने तथा पानी के निश्चित स्तर को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है तो उसे पानी की निकासी पर भी नियन्त्रण रखने का हक प्राप्त होना चाहिए”

उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त वित्त-मन्त्रालय के सूक्ष्म निरीक्षण को दोषपूर्ण माना जाता है प्रथम भारी व्यय की आवश्यकताओं वाली योजनाओं में सूक्ष्म निरीक्षण पूर्ण नहीं हो पाता है। फलतः बजट में इनके लिए एक मुश्त राशि रख दी जाती है जो उन योजना के लिए कम अथवा ज्यादा पड़ती है। इस लिए बजट बाद ऐसी योजनाओं के पुननिरीक्षण की जरूरत होती है द्वितीय आज की बदलती हुई परिस्थितियों में नियन्त्रण असामायिक है। वित्त-मन्त्रालय का बड़े भैया जैसा व्यवहार अधिकांश मन्त्रालयों के लिए सरदर्द बन जाता है। इस से प्रत्येक नए प्रस्ताव पर स्वीकृति देने से इन्कार की आदत हो जाती है और इस प्रकार प्रगतिशील नीतियाँ अवरूद्ध हो जाती हैं तृतीय योजनाएँ बजट तैयारी के अन्तिम समय आती हैं जिन्हे राजनीतिक कारणों से बिना सूक्ष्म निरीक्षण के बजट में शामिल कर लिया जाता है जो पूरे बजट कार्यक्रम को नुकसान पहुँचा सकता है चतुर्थ वित्त-मन्त्रालय के कर्मचारी मानवीय कमजोरियों एवं सीमाओं से अछूते नहीं होते हैं। अनेक अवसरों पर ऐसा होता है कि एक पैसा बचाने के लिए रूपया खर्च कर देते हैं यह छोटी छोटी मदों की स्वीकृत में आनाकानी दिखते हैं किन्तु बड़ी-बड़ी योजनाओं को बिना आपत्तियाँ उठाए स्वीकार कर लेते हैं।

व्यय सम्बन्धी अनुमान पूर्ण हो जाने पर सरकारी आय तथा राजस्व के अनुमान तैयार किए जाते हैं। इस कार्य में वित्त-मन्त्रालय को आयकर विभाग, केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग आदि द्वारा सहायता प्राप्त होती है ये गतवर्ष की आय के आधार पर आगामी वित्तीय वर्ष की सम्भावित आय का अनुमान लगाते हैं। वित्त मन्त्रालय व्यय के आधार पर आवश्यक आय हेतु कर की दरों में परिवर्तन कर सकता है वित्त मन्त्रालय समस्त विभागों की अनुदान मांगों के एकत्रित कर जो आय व्यय का दस्तावेज बनाता है इसे ही बजट कहते हैं। उसके दो भाग किए जाते हैं (1) वार्षिक वित्तीय विवरण पत्र, और

(2) अनुदानों की माँग। प्रथम भाग में जन-आलेखन तथा संचित निधि को रखा जाता है, जबकि दूसरे में संचित निधि के पूरे किए जाने वाले व्यय को दिखलाया जाता है।

बजट- पत्रांको संक्षिप्त विवरण

वार्षिक वित्तीय विवरण

संविधान के अनुच्छेद 112 के अनुसार प्रत्येक वित्तीय वर्ष के सम्बन्ध में, जो 1 अप्रैल से 31 मार्च तक होता है, भारत सरकार अनुमानित आय और व्यय का विवरण संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है इस वार्षिक वित्तीय विवरण को ही प्रमुख बजट- प्रपत्र कहते हैं। इस वार्षिक वित्तीय विवरण में सरकार के आय और व्यय को तीन भागों में, जिनके अनुसार सरकारी लेखे रखे जाते हैं, दिखाया जाता है ये भाग हैं- (1) समेकित निधि (2) आकस्मिकता निधि तथा (3) लोक खाता

सरकार को प्राप्त होने वाले सभी कर राजस्व गैर कर राजस्व, शुल्कों तथा उसके द्वारा लिए गये ऋण और उसके द्वारा वितरित ऋणों की वसूली से प्राप्त होने वाली आय “समेकित निधि” में दिखाई जाती है। सरकार का पूरा व्यय समेकित निधि से किया जाता है और जब तक संसद की स्वीकृति नहीं मिल जाती तब तक इस निधि में से कोई रकम खर्च नहीं किया जा सकता है। कभी कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं जब सरकार को संसद की स्वीकृति मिलने के पहले कुछ आवश्यक आकस्मिक व्यय करना पड़ता है, जिसका अनुमान ही नहीं रहता है। इस तरह का व्यय आकस्मिक निधि से किया जाता है। यह निधि अग्रदाय के रूप में राष्ट्रपति के पास रहती है। आकस्मिक निधि से इस तरह जो भी व्यय करती है, उसे बाद में संसद की स्वीकृति से पूरा कर उतनी ही रकम आकस्मिक निधि में वापस डाल दी जाती है।

सरकारी खातों में समेकित निधि से अलग कुछ अन्य लेन देनों जैसे भविष्य निधियों के सम्बन्ध में लेन देन, अल्प बचत संग्रह तथा अन्य जमा आदि का हिसाब रख जाता है। सरकार इन लेन-देनों के सम्बन्ध में बैंकर के रूप में कार्य करती है। इस तरह जो आय होती है उसे लोक खाते में दिखाया जाता है और सम्बन्धित व्यय इसी में से धनराशि निकाल कर किया जाता है। सामान्य तौर पर लोक खाते में दिखाई जाने वाली आय सरकार की आय नहीं होती, क्योंकि इस धनराशि को किसी न किसी समय, उन व्यक्तियों या प्राधिकारियों को जो इसे जमा करते हैं वापस देना होता है। इसलिए लोक खाते से अदायगी के लिए संसद की स्वीकृति लेना आवश्यक नहीं होता। सरकार की आय का कुछ भाग, कुछ मामलों में खास-खास कार्यों के लिए जैसे कोयला खान श्रमिक कल्याण के लिए, चीनी विकास के लिए या वाणिज्यिक उपक्रमों में पुरानी मशीनरी के स्थान पर नई मशीनरी प्रतिस्थापन लाने, आदि के लिए अलग-अलग निधियों से अलग निकाल कर रख दिया जाता है। यह धनराशि संसद की स्वीकृति से समेकित निधि से निकाली जाती है और विशेष कार्यों पर व्यय किये

जाने के लिए लोक खाते में जमा रखी जाती है परन्तु कार्य विशेष पर जो खर्च किया जाता है उसे संसद के सम्मुख उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। यद्यपि यह धन-राशि निधियों से अन्तरित करने से पहले ही संसद द्वारा निर्धारित की हुई होती है।

संविधान के अनुसार व्यय की कुछ मदे, जैसे राष्ट्रपति की परिलब्धियां, राज्यसभा के सभापति और उप-सभापति तथा लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन भत्ते, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों और भारत के नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के वेतन भत्ते और पेंशन, सरकार द्वारा लिए गये उधारों के ब्याज एवं अदायगी और अदालती डिग्रियों के सम्बन्ध में की गयी अदायगियां आदि समेकित निधि पर भारित होती हैं और इन्हे संसद द्वारा स्वीकृति देने की आवश्यकता नहीं है। वार्षिक वित्तीय विवरण में समेकित निधि पर भारित व्यय को अलग से दिखाया जाता है।

संविधान के अनुसार बजट में राजस्व खाते के व्यय को अन्य व्यय से अलग दिखाना होता है, इसलिए सरकार का बजट (1) राजस्व बजट और (2) पूँजी बजट, दो भागों में बांटा होता है।

वित्त विधेयक

सरकार द्वारा लगाए जाने वाले नए करों के प्रस्ताव, विद्यमान कर ढाँचे को संसद द्वारा स्वीकृत अवधि के बाद जारी रखने के प्रस्ताव वित्त विधेयक के रूप में संसद के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते हैं।

लेखाओं का वर्गीकरण

सरकार के लेखे, संविधान के अनुच्छेद 150 के अधीन भारत के नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक द्वारा निर्धारित रीति के अनुसार रखे जाते हैं। वार्षिक वित्तीय विवरण में आय और व्यय अनुमान तथा अनुदानों की माँगों में व्यय के अनुमान लेखाओं के इसी वर्गीकरण के अनुसार दिखाए जाते हैं। इस वर्गीकरण का उद्देश्य संसद और जनता को संसाधनों के आबंटन और खर्च करने में सरकार के उद्देश्य को समझने में सहायता देना है।

अनुदान की माँगें

वार्षिक वित्तीय विवरण में समेकित निधि से किए जाने वाले व्यय के अनुमान दिए जाते हैं। ये अनुमान संविधान के अनुच्छेद 113 के अधीन अनुदान की माँगों के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रायः प्रत्येक मन्त्रालय अथवा विभाग के सम्बन्ध में अनुदान की एक माँग प्रस्तुत की जाती है। परन्तु बड़े मन्त्रालय या विभाग जो कई अलग-अलग सेवाओं के लिए उत्तरदायी होते हैं, वहाँ प्रत्येक मुख्य सेवा के लिए एक अलग माँग प्रस्तुत की जाती है। प्रायः प्रत्येक माँग में एक सेवा के लिए आवश्यक कुल व्यवस्था दी गई होती है अर्थात् इसमें राजस्व से किये जाने वाला व्यय, पूँजी व्यय राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों को दिये जाने वाले अनुदान और उस सेवा के सम्बन्ध में ऋणों और

अग्रिमों के लिए की गई व्यवस्था शामिल होती है। जिन मामलों में किसी सेवा से सम्बद्ध व्यवस्था पूर्ण रूप से समेकित निधि पर भारित व्यय के लिए होती है, जैसे-ब्याज की अदायगी, तो यह व्यय बिलकुल भिन्न माँग से है, एक अलग विनियोग प्रस्तुत कर उस पर संसद द्वारा स्वीकृत लिए जाने की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु ऐसी किसी सेवा के व्यय के मामले में, जिसमें 'स्वीकृत' एवं 'भारित' दोनों मदें शामिल हैं तो उस सेवा के लिए प्रस्तुत की जाने वाली माँग में भारित व्यय भी शामिल कर लिया जाता है, लेकिन दोनों की व्यवस्थाएँ अलग-अलग दिखाई जाती हैं। वार्षिक वित्तीय विवरण के साथ अनुदान माँग प्रस्तुत की जाती है। प्रत्येक माँग में ऊपर की ओर पहले 'स्वीकृत' और 'भारित' व्यय तथा माँग में शामिल 'राजस्व' और 'पूँजी व्यय' के अलग-अलग जोड़ दिखाया जाता है। इसके उपरान्त विभिन्न मुख्य लेखा शीर्षों के अर्न्तगत व्यय के अनुमान दिए जाते हैं। इन ब्यौरे के बाद माँगों के अन्त में वसूलियों का ब्यौरा दिया जाता है, जिन्हें व्यय में से घटा कर खर्चों में दिखाया जाता है।

विनियोग विधेयक

लोक सभा द्वारा अनुदानों की माँगों को स्वीकार किए जाने के बाद इस प्रकार स्वीकृत रकमों और समेकित निधि पर भारित व्यय को पूरा करने के लिए आवश्यक रकम को समेकित निधि से निकालने के लिए विनियोग विधेयक के माध्यम से संसद का अनुमोदन प्राप्त किया जाता है। संविधान के अनुच्छेद 114 (3) के अनुसार समेकित निधि से कुछ भी रकम संसद द्वारा इस सम्बन्ध में कानून बनाए बिना नहीं निकाली जा सकती है।

13.4.2 बजट की स्वीकृति

वार्षिक वित्तीय विवरण या बजट संसद में निम्नलिखित पांच स्तरों से गुजरता है:-

बजट प्रस्तुतीकरण स्तर

सामान्य विचार-विमर्श का स्तर

माँगों पर मतदान का स्तर

विनियोजन विधेयक पर विचार-विमर्श और उसकी स्वीकृति का स्तर

कर प्रस्ताव पर विचार विमर्श और उसकी पुष्टी का स्तर

बजट प्रस्तुतीकरण स्तर - संसद का बजट अधिवेशन सामान्यतया फरवरी के मध्य में आरम्भ होता है। प्रथमतया रेल मन्त्री रेल विभाग का बजट प्रस्तुत करता है। इसके पश्चात वित्त मन्त्री (28 फरवरी)

‘वार्षिक वित्तीय विवरण’ संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस विवरण वक्वव्य के दो भाग होते हैं:-

(1) वित्त मन्त्री का बजटीय भाषण

(2) बजट अनुमान

बजट भाषण में वह देश की सामान्य आर्थिक स्थिति, सरकार की वित्तीय नीति, चालू वर्ष के वित्तीय अनुमानों, संशोधित अनुमानों में उत्पन्न अन्तर का कारण, चालू वर्ष की स्वीकृत माँग और आगामी वर्ष के लिए प्रस्तुत की जाने वाली माँगों में पाए जाने वाले अन्तर के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण होता है। इस भाषण द्वारा ही वित्त मन्त्री आगामी वर्ष के लिए सरकार की वित्त और आर्थिक नीति की घोषणा करते हैं।

सामान्य विचार विमर्श

बजट प्रस्तुत होने के कुछ दिन बाद उस पर विचार विमर्श आरम्भ किया जाता है जो कि तीन से चार दिन चलता है। इसका आरम्भ विरोधी दल के नेता द्वारा किया जाता है जो अन्तर्निहित नीति अथवा सिद्धान्तों पर होती है। इस स्तर पर कोई प्रस्ताव नहीं आता। इसका उद्देश्य देश की वित्तीय व्यवस्था सम्बन्धी समस्याओं को उठाना और बजट पर विस्तार से विचार नहीं होता और न ही कटौती प्रस्ताव आते हैं। विचार-विमर्श के अन्त में वित्त मन्त्री द्वारा एक सामान्य उत्तर दे दिया जाता है।

बजट का सार

	मद	2009-10	2010-11	2010-11	2011-12
		वास्तविक (अन्तिम)	बजट अनुमान	संशोधित अनुमान	बजट अनुमान
1	राजस्व प्राप्तियाँ	572811	682212	783833	789892
2	पूँजी प्राप्तियाँ	451676	426537	432743	467837
3	कुल प्राप्तियाँ	10244487	1108749	1216576	1257729
4	आयोजन भिन्न व्यय	721096	735657	821552	816182
5	आयोजन व्यय	303391	373092	395024	441547
6	कुल व्यय	1024487	1108749	1216576	1257729
7	राजस्व घाटा	338998	276512	269844	307270
8	राजकोषीय घाटा	418482	381408	400998	412817

9	प्राथमिक घाटा	205389	132744	160241	144831
---	---------------	--------	--------	--------	--------

स्रोत: बजट का सार 2011-12 वित्त मन्त्रालय बजट प्रभाग

माँगों पर विचार विमर्श और उसकी स्वीकृति

सामान्य विचार विमर्श के पश्चात राज्यसभा का कार्य प्रायः समाप्त हो जाता है। परन्तु अब लोकसभा उन अनुदान माँगों जो संचित निधि पर भारित नहीं होते, पर मतदान कार्य आरम्भ करती है। मतदान सम्बन्धी अधिकार लोकसभा का अक्षुण्ण अधिकार होता है। इस सन्दर्भ में उसे अधिकार है कि चाहे यह (1) माँग को स्वीकार कर ले, या (2) माँग को अस्वीकार कर दे, या (3) माँग की गई धनराशि कम कर दे। संविधान के अनुच्छेद 113(1) के अनुसार सदन को माँग में वृद्धि करने का कोई अधिकार नहीं है। न ही यह अनुदान के लक्ष्य को बदल सकती है, न ही अनुदान विनियोजन के साथ कोई शर्त लगा सकती है। वे केवल इनमें कटौती प्रस्ताव रख सकते हैं। यह प्रस्ताव तीन प्रकार के होते हैं:- (1) नीति सम्बन्धी कटौती प्रस्ताव वे होते हैं जिनका उद्देश्य प्रस्तावित व्यय में अन्तर्निहित नीति का विरोध करना होता है। (2) मितव्ययता कटौती प्रस्ताव किसी माँग से धन की राशि कम करने का उद्देश्य रहता है। इस प्रस्ताव से सम्बन्धित वक्तव्य मितव्ययता लाने के उपायों पर विचार करते हैं। (3) प्रतीक कटौती प्रस्ताव माँग से सम्बन्धित विशेष शिकायतों को सामने लाने का कार्य करते हैं।

व्यवहार में यह कटौती प्रस्ताव मन्त्रिमण्डल की इच्छा से स्वीकार किया जाता है अन्यथा यह उसके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव जैसा होता है। भारतीय संसद में माँगों पर मतदान के लिए छब्बीस दिन निर्धारित किए गए हैं। इस अवधि में सभी माँगें एक साथ मतदान के लिए लिया जाता है, एवं साथ ही पारित की जाती है। जब एक मन्त्रालय की माँग संसद में प्रस्तुत की जाती है तो उस पर वाद विवाद के दौरान मन्त्रालय की नीति और प्रशासनिक गतिविधियों का सूक्ष्म परीक्षण किया जाता है। इस दौरान सम्बन्धी मन्त्री विवाद सम्बन्धी उत्तर देता है और अपने विभाग की माँग का औचित्य भी सिद्ध करता है।

विनियोजन विधेयक पर विचार विमर्श और उसकी स्वीकृति माँगों पर मतदान के बाद विनियोजन विधेयक की स्वीकृति के रूप में मतदान का अन्तिम चरण पूरा किया जाता है। सदन द्वारा स्वीकृत माँगों को विनियोजन विधेयक के माध्यम से कानूनी रूप दिया जाता है। इसे पारित करते समय सदन पूर्व पारित अनुदानों में अथवा संचित निधि के प्रस्तावों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती संसद द्वारा पारित होने के बाद यह राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु भेज दिया जाता है जो संविधिक प्रावधानों के कारण उसको निश्चित रूप से स्वीकृति प्रदान करता है।

कर प्रस्ताव पर विचार-विमर्श और उसकी पुष्टि

कर सम्बन्धी प्रस्तावों को वित्त विधेयक का रूप दिया जाता है। वित्त विधेयक में सरकार द्वारा आगामी वर्ष के लिए वित्तीय प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते हैं जिसे वार्षिक वित्तीय विवरण के साथ ही रखा जाता है। विनियोजन विधेयक के पारित होने से सरकार संचित निधि से धन व्यय करने का अधिकार तो अधिकार मिल जाता है पर सरकार की आय हेतु वित्त विधेयक की आवश्यकता होती है। वित्त विधेयक के पारित होने के उपरान्त बजट को संसद द्वारा स्वीकृत मान लिया जाता है।

विनियोजन एवं वित्त विधेयक को धन विधेयक की संज्ञा दी जाती है अतः लोकसभा की तुलना में राज्यसभा का क्षेत्राधिकार सीमित होता है। सरकार के द्वारा रखे गये बजट में आय व्यय के सभी अनुमान होते हैं लेकिन विशेष स्थिति का सामना करने के लिए लोकसभा से कुछ और अनुदान पास कराये जाते हैं-

लेखानुदान बजट सत्र के दौरान 31 मार्च तक सभी माँगों पर बहस न भी हो पाये तो भी अन्तिम दिन में उन सब माँगों को पारित कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में सभी मांगे अनुदान बन जाती हैं। इस व्यवस्था को लेखानुदान कहा जाता है। इससे वित्तीय वर्ष आरम्भ होने पर अर्थात् पहली अप्रैल से वित्त के व्यय करने की वैधानिक अनुमति मिल जाती है। साथ ही नवीन वित्तीय वर्ष के आरम्भ होने के बाद भी विभिन्न माँगों पर बहस की जा सकती है। प्रत्यानुदान वह अनुदान है जिसमें संसद उन माँगों को भी स्वीकृत कर सकती है जो कि अप्रत्याशित स्थिति का मुकाबला करने के लिए आवश्यक हो जैसे युद्ध आदि पर व्यय करने के सम्बन्ध में।

अनुपूरक अनुदान का संविधान के अनुसार निम्न रूप में प्रावधान है- (1) यदि विनियोजन विधेयक द्वारा चालू वित्तीय वर्ष के लिए स्वीकृत धन अपर्याप्त हो। (2) यदि चालू वित्त वर्ष में किसी नये विषय जो कि बजट में न दिया हो, पर खर्च के लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता हो। (3) यदि किसी कारण से चालू वित्त वर्ष में किसी विषय पर अनुदान से अधिक धन खर्च कर दिया गया हो।

अतिरिक्त अनुदान पर वित्त वर्ष की समाप्ति पर मतदान होता है। अनेक बार व्यय का निश्चित अनुमान लगाना तथा निर्धारित परिधि की सीमा के रूप में व्यय करना संभव नहीं होता। अतः अतिरिक्त अनुदान संसद द्वारा स्वीकृत कर धन के व्यय को वैधानिकता प्रदान की जाती है। इसे में संसद प्रस्तुती से पूर्व लोक लेखा समिति से अनुमोदन करना आवश्यक है।

13.4.3 बजट का क्रियान्वयन

बजट का सफल क्रियान्वयन वह है जिसमें सभी वित्तीय नियमों, विनियमों का पालन होता है। इस क्रियान्वयन कार्य में अग्रलिखित वित्तीय संक्रियाएं और उनसे सम्बन्धित अधिकारी और अभिकरण जुड़े हैं। बजट क्रियान्वयन सम्बन्धी इन विभिन्न संक्रियाओं का विवेचन निम्नवत है:-

वित्तीय संक्रियाएं सम्बन्धि अभिकरण / अधिकारी

संक्रियाएं	अभिकरण / अधिकारी
(1) राजस्व का एकत्रीकरण	राजस्व विभाग
(2) एकत्रित राजस्व का रक्षण	बैंक (सरकारी निजी) एवं राजकोष
(3) उपलब्ध धन का वितरण	वितरण अधिकारी
(4) आय व्यय का लेखांकन	महालेखाधिकारी
(5) अंकेक्षण तथा प्रतिवेदन	महालेखा परीक्षक

राजस्व का एकत्रीकरण

यह बजट के क्रियान्वयन सम्बन्धी प्रथम प्रक्रिया है। वित्त विधेयक में प्रस्तावित कर प्रस्तावों के अर्न्तगत आय सम्बन्धी अनुमान लगाना और अनुमानित राजस्व का एकत्रीकरण करना होता है। अनुमान का अभिप्राय है कि उन व्यक्तियों और निगमनात्मक इकाइयों को वित्त अधिनियम में निहित आधार के अनुरूप पहचानना और उनसे वसूल की जाने वाली कर राशि को आंकला। उसके पश्चात उनसे इस धन को वसूल करने का कार्य ही राजस्व एकत्रीकरण कार्य है। आय स्रोतों के मूल्यांकन तथा वसूली का कार्य वित्त मंत्रालय का राजस्व विभाग करता है, जो एक सचिव के नियन्त्रण निर्देशन में कार्य करता है। यह केन्द्रीय प्रत्यक्ष का बोर्ड और केन्द्रीय उत्पादन शुल्क तथा सीमा शुल्क बोर्ड के माध्यम से प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सभी प्रकार के संघीय कर से सम्बन्धित राजस्व मामलो में नियन्त्रण एवं वसूली करता है।

राजस्व का संरक्षण

राजस्व कोष के संरक्षण व्यवस्था के सन्दर्भ में दो बातें आवश्यक हैं-(1) वित्तीय लेन देन को सुविधाजनक बनाना और (2) वित्तीय साधनों के गबन और दुरुपयोग को रोकना।

धन संरक्षण और वितरण की व्यवस्था प्रत्येक देश द्वारा की अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं द्वारा निर्धारित होती है। भारत में राजकोष व्यवस्था का प्रचलन है इस समय भारत में 400 राजकोष तथा 1200 उपराजकोष कार्य कर रहे हैं। ये राजकोष जिला तथा तहसील स्तर पर सरकार की तरफ से

भुगतान स्वीकार करते हैं एवं भुगतान देते हैं। साथ ही भारतीय रिजर्व बैंक एवं भारतीय स्टेट बैंक जहाँ भारतीय रिजर्व बैंक के शाखाएँ नहीं हैं वित्तीय भूमिका निभा रहे हैं। जो चालान के माध्यम से धन जमा करते हैं। जब भी किसी को सरकार से धन प्राप्त करना होता है वह उसके नाम जारी किये गये चेक या प्राप्ति बिल को सरकारी राजकोष या बैंक में सम्बन्धित अधिकारी के सम्मुख पेश करके धन ले सकता है। यह सम्पूर्ण व्यवस्था वित्त मन्त्रालय के दिशा निर्देश में चलती है।

राजकोष का वितरण

एकत्रित धन को वितरित करना बजट क्रियान्वयन सम्बन्धी एक प्रमुख स्तर है। बजट पास होने के तुरन्त बाद वित्त मन्त्रालय विभिन्न मन्त्रालयों को स्वीकृत अनुदानों की सूचना दे देता है। मन्त्रालय बजट प्रावधानों तथा प्रशासनिक स्वीकृतियों की सूचना विभागाध्यक्ष को दे देता है। जो प्रक्रिया जिला स्तर तक पहुँच जाती है। वितरण अधिकारी सरकारी कोषों के संरक्षण तथा संवितरण का कार्य राजकोष, उप-राजकोष तथा अधिकृत बैंक की शाखाओं के माध्यम से नियमानुसार करते रहते हैं। यहां वह देखता है कि चालान या चेक सम्बन्धित अधिकृत अधिकारी द्वारा हस्ताक्षरित है अथवा नहीं परन्तु इसके साथ यह देखता है कि

- (1) क्या वह बजट प्रावधान के अनुरूप है अथवा नहीं ?
- (2) क्या तत्सम्बन्धी समुचित प्रशासनिक और तकनीकी अनुमोदन प्राप्त हो चुका है ?
- (3) क्या भुगतान की माँग उचित है ?
- (4) क्या भुगतान के लेखा की व्यवस्था है अथवा नहीं ?

आजकल अधिकांश धन सम्बन्धी लेन देन चेक या प्राप्ति बिल द्वारा ही किया जाता है अतः संवितरण का कार्य इतना कठिन नहीं रहा है। बैंकिंग के विस्तार के कारण अब सरकारी कोषों का भण्डारण रिजर्व बैंक स्टेट बैंक अथवा उसकी शाखाओं में किया जाता है। इसके साथ राजकोष अथवा उपराजकोष भी इस दायित्व का निर्वाह करते हैं।

आय व्यय लेखे

आय व्यय या नियन्त्रण लेखे का मुख्य ध्येय धन संग्रहण, एकत्रण और रक्षण करने वाले अधिकारियों की ईमानदारी का आश्वासन देना और इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए नियमों, निर्देशों और सीमाओं का कठोरता से अनुपालन करने का आश्वासन प्राप्त करना है। जो अलग लेखा तथा अंकेक्षण विभाग के माध्यम से नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक की सहायता से किया जाता है रेलवे के अलावा प्रत्येक विभाग एवं राज्यों में एक महालेखापाल होता है। लेखा परीक्षक द्वारा

निर्धारित नियमों के अनुरूप प्रारम्भिक लेखा उस कोषागार में होता है जहाँ किसी प्रकार का लेन देन होता है, फिर व्यय शीर्ष के अनुसार सभी लेन-देनों का व्यौरा-वार वर्गीकरण एवं लेखाधिकारियों द्वारा लेखों का मासिक संकलन तथा अन्त में भारत के महालेखा परीक्षक द्वारा इनका वार्षिक संकलन होता है।

लेखों का अंकेक्षण तथा परिक्षण

महालेखाकार कार्यालय देश भर के हिसाब-किताब को पहली तारीख को प्राप्त कर प्राप्तियों तथा खर्च का शीर्ष के अनुसार वर्गीकरण करता है। जहाँ राजस्व खाता, पूँजीगत खाता, ऋण खाता, और दूरस्थ प्राप्तियों रूपी चार शीर्षों में लेखा सूचनाएँ संकलित की जाती हैं। जहाँ अन्तिम रूप में भारत का महालेखा परीक्षक सरकार के समस्त लेखों का उपरोक्त शीर्षों के आधार पर कर केन्द्र और राज्यों में क्रमशः राष्ट्रपति और राज्यपाल के सम्मुख पेश करता है जिसमें वित्तीय लेखे, विनियोजन लेखे और तत्सम्बन्धी अंकेक्षण प्रतिवेदन होती हैं। प्रतिवेदन निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करता है- (1) क्या धन का विकनयोजन अधिनियम के अनुसार किया गया ? (2) क्या धन के विनियोजन में निर्धारित नियमों का अभिपालन किया गया ? (3) क्या सार्वजनिक धनदुरुपयोग तो नहीं किया गया ? (4) सेवाओं की सम्पन्नता में कितना समय व्यय किया गया ? इत्यादि।

इस प्रकार लेखा परीक्षण सार्वजनिक हित सार्वजनिक धन के उचित व्यय को आश्वस्त करने का एक महत्वपूर्ण उपाय है जो प्रशासनाधिकारियों को किसी प्रकार के घोटाले के प्रति सचेत करता है।

13.4.4 बजट का विधायी नियन्त्रण

प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में सरकारी वित्त पर विधायिका का नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। भारत में इस नियन्त्रण के विकास का एक रोचक इतिहास रहा है। यहाँ 1911 में केन्द्रीय व्यवस्थापिका में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत रखा गया है। इसके साथ ही जन लेखा समिति का गठन किया जाता है, जिनमें निर्वाचित एवं सरकारी दोनों प्रकार के सदस्यों को लिया जाता है। स्वतन्त्रता के बाद विधायिकों द्वारा लोक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति तथा सार्वजनिक उपक्रमों और विभागीय समिति के माध्यम से सार्वजनिक वित्त पर नियन्त्रण रखती है। इस लिए वित्तीय नियन्त्रण की दृष्टि से समितियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

अभ्यास प्रश्न 2

1. लघुउत्तरीय प्रश्न-

अक्या है अनुदान माँगें .?

बराजस्व बजट का क्या आशया .

2. रिक्त स्थान भरिए

1. संविधान के अनुच्छेद ,,,,,,,,,,,,,, के अनुसार भारत सरकार अनुमानित आय और व्यय का विवरण संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।
2. भारत में वित्तीय वर्ष ,,,,,,,,,,,,,, से आरम्भ होकर ,,,,,,,,,,,,,, मार्च तक रहता है।
3. लेखानुदान बजट सत्र के दौरान ,,,,,,,,,,,,,, तक पारित कर दिया जाता है।

13.5 सारांश

प्रशासनिक कार्यों को बिना वित्त के पूर्ण किया जाना सम्भव ही नहीं है। वित्तीय प्रबन्ध में उन प्रशासनिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनके द्वारा वित्तीय साधनों का संग्रह, विनियोजन तथा लेखांकन किया जाता है। बजट के निर्माण, क्रियान्वयन और उस पर नियन्त्रण सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रक्रिया के केन्द्र बिन्दु वित्तीय प्रबन्ध का प्रमुख ध्येय राज्य के वित्त का उचित, दक्ष और प्रभावशाली प्रबन्ध है। इसके अन्तर्गत सरकार के वे तमाम कार्य आते हैं, जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक धन को इकट्ठा करने, व्यय करने, बजट बनाने, आय व्यय का हिसाब बनाने, सरकार के लेन-देन तथा पूँजी एवं दायित्वों का विवरण और इनका सम्पूर्ण प्रतिवेदन तैयार करने से होता है। इस लिए कहा जाता है कि प्रशासनिक इंजन का ईंधन वित्त है। प्रशासन के प्रत्येक कार्य वित्त के अभाव में पूर्ण नहीं किया जा सकता जिस प्रकार हृदय शरीर में शुद्ध रक्त की पूर्ति कर चेतना और ऊर्जा का संचार करता है उसी प्रकार प्रशासन में वित्त उसकी नीतियाँ तथा योजनाओं को पूर्ण करता है, क्योंकि वित्त के अभाव में उनका कार्यान्वयन सम्भव नहीं है। इसी कारण वित्त को लोक प्रशासन की चालक शक्ति कहा जाता है।

भारत में बजट निर्माण प्रक्रिया का प्रमुख उत्तरदायित्व वित्त मन्त्रालय का है। वित्त मन्त्रालय का प्रमुख वित्त मन्त्री होता है, जो राष्ट्र के कोष का संरक्षक तथा देश की वित्तीय नीति का कर्णधार माना जाता है। लोक वित्त का उचित वितरण एवं प्रयोग करना उसका प्रमुख कार्य है। 'बजट' का निर्माण एक दिन में न करके अपितु साल भर चलने वाली प्रक्रिया के रूप में करता है। जिसके प्रमुख रूप में चार चरण हैं प्रथम वह बजट की तैयारी करता है, जिसके अन्तर्गत वह बजट अनुमान आगामी वित्तीय वर्ष के आरम्भ होने के 7 से 8 माह पूर्ण प्रारम्भ करता है। इस प्रक्रिया के पूर्ण करने में विभिन्न प्रशासनिक मन्त्रालय, योजना आयोग तथा नियन्त्रक महालेखा परीक्षक उसकी सहायता करते। द्वितीय चरण में बजट की संसदीय स्वीकृति प्राप्त की जाती है। जहाँ बजट प्रस्तुतीकरण से लेकर धन विधेयक की स्वीकृति लेखानुदान माँगों को पास करना, विनियोग विधेयक एवं वित्त विधेयक की स्वीकृति ली जाती है। तृतीय चरण में बजट का क्रियान्वयन है, जिसके अन्तर्गत वित्त के एकत्रीकरण, संरक्षण, वितरण लेखा एवं अंकेक्षण और प्रतिवेदन की प्रक्रिया समाहित है। बजट निर्माण प्रक्रिया

का अन्तिम चरण उसका विधायी नियन्त्रण है जो संसदीय एवं विभागीय समितियों एवं नियंत्रक-महालेखा परीक्षक के द्वारा पूर्ण किया जाता है।

13.6 शब्दावली

पूँजी व्यय:- यह अर्थव्यवस्था में भौतिक रूपी की परिसम्पत्तियों के निर्माण के लिए किया जाने वाला व्यय है जैसे- भूमि, मशीन, भवन आदि।

राजस्व व्यय:- यह अर्थव्यवस्था में सरकारी विभागों में सामान्य कार्यों पर किया जाने वाला व्यय है जिसके द्वारा किसी भौतिक परिसम्पत्ति का निर्माण नहीं होता है जैसे-वेतन, दैनिक खर्च आदि।

पूँजी प्राप्तिः:- ये सरकार द्वारा जनता से लिये गये ऋण जिन्हे बाजार ऋण कहते हैं। भारतीय रिजर्व बैंक या विदेशी संस्थानों से लिये गये ऋण आदि।

वित्त विधेयक:- वित्त विधेयक में आगामी वित्तीय वर्ष के लिए सरकार के करारोपण प्रस्तावों को प्रस्तुत किया जाता है। जिसका स्वीकृति संसद से आवश्यक होती है।

धन विधेयक:- संविधान के अनुच्छेद 110(1) में उल्लिखित किसी विषय से सम्बन्धित होता है। जो वित्त विधेयक तो होता है। इसका संबन्ध विशेषतया कराधान, ऋणादान अथवा व्यय से होता है। वित्त विधेयक की धन विधेयक के रूप में प्रमाणित लोक सभा अध्यक्ष द्वारा होती है।

13.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 2 2.रिक्त स्थान भरिए

1.112, 2. 1 अप्रैल से, 31, 3. 31 मार्च

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.सुन्दरम, के0पी0 (1990), भारतीय लोक वित्त एवं वित्तीय प्रशासन, सुल्तान चन्द एण्ड संस, नई दिल्ली।

2.भट्टाचार्य, माहित (2000) लोक प्रशासन के नए आयाम, जवाहर पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

3.कौर, इन्द्रजीत (2000) लोक प्रशासन, एस बी पीडी पब्लिशिंग हाउस, आगरा 30 प्र0।

4.अवस्थी, ए0 पी0,(2000) वित्त प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा 30 प्र0।

5. फाड़िया, बी.एल. (2010) भारतीय लोकप्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

13.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लाल, जी. एस. (1982), भारत में लोक वित्त तथा वित्तीय प्रशासन, एच. पी. कपूर नई दिल्ली।
 2. मुसग्रेव एंड मुसग्रेव (1990), लोक वित्त: सिद्धान्त एवं व्यवहार, मैग्रा हिल बुक कम्पनी, न्यूयार्क।
 3. थावराज, एम. जे. के. (1982), भारत का वित्तीय प्रशासन, सुल्तान चन्द एण्ड संस नई दिल्ली।
-

13.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वर्तमान कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में वित्तीय प्रबन्ध क्यों महत्वपूर्ण हो गया है ?
2. भारत में व्यय के आधार पर बजट को कितने भाग होते हैं स्पष्ट कीजिए।
3. बजट क्रियान्वयन प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।

इकाई 14: सार्वजनिक व्यय पर नियंत्रण- लोक लेखा समिति, अनुमान समिति, लोक उपक्रमों पर समिति विभागीय समितियां, नियंत्रक महालेखा परीक्षक

इकाई की संरचना

- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 उद्देश्य
- 14.3 वित्त पर संसदीय नियंत्रण
 - 14.3.1 लोक लेखा समिति
 - 14.3.1.1 लोक लेखा समिति के कार्य
 - 14.3.1.2 लोक लेखा समिति के नियन्त्रण का स्वरूप
 - 14.3.1.3 लोक लेखा समिति का मूल्यांकन
 - 14.3.2 अनुमान समिति
 - 14.3.3 विभागीय समितियाँ
 - 14.3.4 लोक उपक्रम समिति
- 14.4 नियंत्रक महालेखा परीक्षक
 - 14.4.1 नियंत्रक महालेखा परीक्षक की संवैधानिक स्थिति
 - 14.4.2 नियंत्रक महालेखा परीक्षक के कर्तव्य
 - 14.4.3 नियंत्रक महालेखा परीक्षक की पद एवं स्थिति का मूल्यांकन
- 14.5 संाराश
- 14.6 शब्दावली
- 14.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 14.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 14.10 निबन्धात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार द्वारा किया गया **सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure)** जनता के धन से होता है। यही कारण है कि इस धन के उपयोग में पारदर्शिता और जवाबदेही सुनिश्चित करना बेहद ज़रूरी है। संसद केवल नीतियाँ बनाने या बजट पारित करने तक

सीमित नहीं रहती, बल्कि यह भी देखती है कि आवंटित धन सही तरीके से और निर्धारित उद्देश्यों के लिए ही खर्च हुआ या नहीं।

इसी निगरानी प्रक्रिया के तहत संसद ने कई समितियाँ गठित की हैं। **लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee)** यह सुनिश्चित करती है कि सरकार द्वारा किए गए व्यय संविधान और संसद की स्वीकृति के अनुरूप हों। **अनुमान समिति (Estimates Committee)** भविष्य के खर्चों और योजनाओं का मूल्यांकन करती है, जबकि **लोक उपक्रमों पर समिति (Committee on Public Undertakings)** सार्वजनिक उपक्रमों की कार्यप्रणाली और वित्तीय प्रबंधन की समीक्षा करती है। इसके साथ ही **विभागीय समितियाँ** भी अलग-अलग क्षेत्रों में खर्च और कार्यप्रणाली की जाँच करती हैं।

इन सभी समितियों के काम को प्रभावी बनाने में **नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General – CAG)** की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण है। CAG स्वतंत्र रूप से सरकारी खातों का परीक्षण करता है और संसद को यह बताता है कि जनता का पैसा कहाँ और कैसे खर्च हुआ।

इस इकाई के माध्यम से शिक्षार्थी जानेंगे कि सार्वजनिक व्यय पर नियंत्रण क्यों जरूरी है, इन विभिन्न समितियों की संरचना और कार्यप्रणाली क्या है, और कैसे CAG लोकतंत्र में वित्तीय अनुशासन और जवाबदेही का प्रहरी बनता है।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

1. वित्त पर संसदीय नियंत्रण को जान सकेंगे।
2. बजट के क्रियान्वयन पर प्रशासनिक नियंत्रण के पश्चात संसद द्वारा नियंत्रण के औचित्य का वर्णन कर सकेंगे।
3. लोक लेखा समिति के महत्व को लिख सकेंगे।
4. अनुमान समिति निर्माण की प्रक्रिया कार्यों का वर्णन कर सकेंगे।

14.3 वित्त पर संसदीय नियंत्रण

सार्वजनिक राजस्व का प्रमुख स्रोत जनता से कर के रूप में धन प्राप्त होता है। भारतीय लोकतंत्र में जन प्रतिनिधियों की मंजूरी के बिना न तो कोई कर लगाया जाएगा न कोई कर बिना जन प्रतिनिधियों की मंजूरी के विनियोजन किया जाएगा। विधायिका द्वारा बजट का अनुमोदन उक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु करती है। परन्तु वित्तीय चक्र की पूर्णता तब है, जब संसद व्यय पर नियंत्रण रख सके। संसदीय

निगरानी को अधिक प्रभावी और अधिक सार्थक बनाने के लिए संसद को ऐसी ऐजेंसी की आवश्यकता होती है जिस पर सम्पूर्ण सदन का विश्वास हो। इस उद्देश्य की पूर्ति वह अपनी संसदीय समितियों के माध्यम से करती है। समितियों का औचित्य निम्न तथ्यों से ज्ञात होता है। (1) विधायी कार्यों की बढ़ती जटिलता। (2) कार्यभार की अधिकता। (3) विपक्ष की भूमिका की प्रधानता का संचालन। (4) परम्परागत द्वितीय सदन की भूमिका का निर्वहण। (5) दलगत राजनीति से परे दृष्टिकोण। (6) अनुभव एवं योग्यता का सशक्त मंच।

संसदीय समितियाँ एक ओर संसद और जनता के बीच कड़ी का कार्य करती हैं, तो दूसरी तरफ सरकार और जनता के बीच समितियों की प्रासंगिकता इस परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण है कि इसमें वित्त सम्बन्धी विधायी विचार विमर्श को सार्थक बनाने के लिए पूरी व्यवस्थापिका सभा की बजाय सभा के कुछ सदस्यों जो कि वित्तीय मामलों में विशेष रुचि रखते हों, ये युक्त एक समिति द्वारा इस पर विचार करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। सार्वजनिक वित्त सम्बन्धी इस द्विमुखी प्रक्रिया-बजट निर्माण और बजट पर नियन्त्रण रखने के लिए संसदीय समितियों को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं:-

(1) वित्तीय समितियाँ

(अ) लोक लेखा समिति

(ब) अनुमान समिति

(2) विभागीय समितियाँ

(3) सार्वजनिक उपक्रम सम्बन्धी समितियाँ

संसदीय समितियाँ

वित्तीय समितियाँ

विभागीय समितियाँ

लोक उपक्रम सम्बन्धी समितियाँ

लोक लेखा समिति

अनुमान समिति

14.3.1 लोक लेखा समिति

बजट के क्रियान्वयन पर कार्यपालिका और प्रशासनिक नियन्त्रण के पश्चात संसद द्वारा नियन्त्रण का औचित्य इस बात में निहित है कि संसद ही विनियोग विधेयक द्वारा कार्यपालिका को विभिन्न प्रयोजनों के लिए व्यय करने के लिए अनुमोदन प्रदान करती है। संसद उस शक्ति को सम्पन्न करने के लिए प्रश्न काल, काम रोको प्रस्ताव आदि संसदीय तकनीक का प्रयोग कर सकती है, परन्तु इस कार्य

को अधिक सूक्ष्मता तथा कुशलता द्वारा लोक लेखा समिति द्वारा सम्पन्न किया जाता है। जोकि लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन पर विचार करती है संसद सदस्य वित्तीय स्वरूप के उतने जानकार नहीं होते परन्तु नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक वित्तीय स्वरूप का विशेषज्ञ होता है, इस कारण इसके प्रतिवेदन का महत्व बढ़ जाता है। अतः एक लोकतन्त्रात्मक शासन पद्धति में उसके प्रतिवेदन के तदन्तर लोक-लेखा समिति द्वारा समीक्षा विशिष्ट नियन्त्रण के साथ-साथ राजनीतिक नियन्त्रण को साकार करती है। संसद द्वारा नियन्त्रण के लिए समिति को अपनाने के कारण निम्नलिखित है। (1) संसद का विशाल आकार और सदस्यों की सामान्य पृष्ठभूमि के साथ वित्तीय मामलों में सूक्ष्मताओं की जानकारी न होना ही रूचि का पाया जाना। अतः बड़े संसदीय स्वरूप में प्रतिवेदन पर चुने हुए सदस्यों की समिति द्वारा ही सूक्ष्मता एवं गहनता से जानकार सदस्यों द्वारा जो वित्त मामलों के सम्बन्ध में ज्ञान एवं रूचि रखते हैं परीक्षण किया जा सकता है। (2) राजनीति दल आधारित संसदीय व्यवस्था ऐसे कार्यों के लिए अकार्यकारी है। क्योंकि संसद में प्रत्येक विचार विमर्श दलीय भावना को प्रकट करते हैं। अतः वित्तीय मामलों पर विचार विमर्श स्वतन्त्र और निपक्ष हो जो कि समिति द्वारा बेहतर रूप से पूर्ण किया जाता है।

लोक लेखा समिति की अवधारणा ब्रिटिश संसदीय पद्धति की देन है। ब्रिटेन में यह सन् 1861 में अस्तित्व में आयी इसके परिणाम स्वरूप सार्वजनिक विनियोजनों में नियोजित धन पर संसदीय नियन्त्रण ही प्राप्त न किया, बल्कि संसदीय नियन्त्रण में वृद्धि हुई। भारत में लोक लेखा समिति संसद की सबसे पुरानी और बहुत ही महत्वपूर्ण समिति है। सर्वप्रथम 1919 के भारत सरकार अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार 1921 में प्रथम लोक लेखा समिति की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य सरकारी लेखा की छानबीन करना तथा उसमें की गई अनियमितता को उदघाटित करना था। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात ब्रिटिश प्रणाली से प्रभावित होकर अप्रैल, 1950 में लोक समिति की स्थापना की गई मोटे तौर पर स्वतन्त्र भारत में भी इस कमेटी का स्वरूप तथा कार्यक्षेत्र वही है जो ब्रिटिश भारत में गठित समिति के लिए प्रचलन में था तथापि बदले परिप्रेक्ष्य में इसके स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन भी किए गए हैं।

लोक लेखा समिति में सदस्यों की संख्या 22 होती है जिसमें 15 लोक सभा से 7 राज्यसभा से होते हैं। समिति में सदस्यों का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होता है, जिसके द्वारा विभिन्न राजनीतिक दलों को संसद में अपनी दलीय शक्ति के अनुपात में ही प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है, जिसके द्वारा विभिन्न राजनीतिक दलों को संसद में अपनी दलीय संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। समिति का अध्यक्ष लोक सभा अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया जाता है। शुरुवात में सत्तादल के सदस्य की नियुक्ति लोक लेखा समिति में अध्यक्ष पद पर होती थी। परन्तु 1967 से विरोधी दल से अध्यक्ष बनाया जाने लगा है। यदि लोक सभा का

उपाध्यक्ष समिति का सदस्य चुना जाता है, तो वह ही समिति का अध्यक्ष होता है। एम0 आर0 मसानी विरोधी दल के प्रथम सदस्य थे, जो इस समिति के अध्यक्ष मनोनीत किए गए। समिति का कार्यकाल मई से अप्रैल तक एक वर्ष का होता है। अध्यक्ष एवं सदस्य का कार्यकाल एक वर्ष का होता है, जिनका पुर्ननिर्वाचन किया जा सकता है। भारत की लोक-लेखा समिति ब्रिटेन से दो तरह से भिन्न है, पहली इसमें राज्य सभा का प्रतिनिधित्व दिया गया है जबकि ब्रिटेन में लॉर्ड सभा (उच्च सदन) के सदस्य इसके सदस्य नहीं होते हैं। दूसरा लोक लेखा के प्रतिवेदन लॉर्ड सभा में पटल नहीं रखे जाते, जबकि भारत में दोनों सदनों में प्रतिवेदन रखे जाते हैं।

14.3.1.1 लोक लेखा समिति के कार्य

लोक लेखा समिति का मुख्य कार्य सदन में प्रस्तुत किये गए नियंत्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन का परीक्षण करने यह देखना है कि संसद द्वारा विनियोजित धन का कार्यपालिका के प्राधिकारियों द्वारा “माँगों के क्षेत्र के भीतर” व्यय हुआ है अथवा नहीं। इस वाक्यांश का भाव है:-

- (1) व्यय संसद के विनियोजित धन से अधिक नहीं बढ़ना चाहिए।
- (2) व्यय उसी उद्देश्य के लिए किया गया हो, जिस उद्देश्य के लिए संसद ने उस पर मतदान किया है।
- (3) व्यय उन्हीं अधिकारियों द्वारा किया गया हो, जो वैधानिक रूप से व्यय के लिए सक्षम थे।
- (4) कार्यपालिका ने एक अनुदान में बची हुई राशि दूसरी मद के लिए व्यय करके संसद की अवहेलना तो नहीं की है।
- (5) अनुमोदित नीतियों तथा कार्यक्रमों तथा पुनर्विनियोजित अधिकृत व सक्षम अधिकारियों के द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार हुआ है या नहीं।
- (6) सभी वित्तीय मामलों में नैतिकता के उच्चस्तरीय मानदण्डों को बनाये रखना।

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त लोक लेखा समिति प्रत्येक ऐसे विषय की जाँच करती है, जिसमें वित्तीय वर्ष के दौरान किसी सेवा पर संसद द्वारा स्वीकृत धनराशि से अधिक व्यय किया गया है। ऐसे अतिव्ययों का आगामी वित्तीय वर्षों में नियमन किया जाए, उपरोक्त सिफारिशों को प्रतिवेदन के रूप में प्रस्तुत करती है। जैसा कि कौल और शकधर कहते हैं, कि “समिति का कार्य व्यय की औपचारिकताओं के बाहर व्यय सम्बन्धी, विवके, वफादारी और मितव्ययिता सम्मत हो।” यह वित्तीय अनुशासन और सिद्धान्तों पर भी विचार विमर्श करती है। समिति उन अनियमितताओं का भी परीक्षण कर सकती है जो कि सार्वजनिक रूप से प्रकट हो जाए या जिनके सम्बन्ध में सरकार को अवगत कराया जाता है, चाहे ऐसे विषयों पर औपचारिक लेखा प्रतिवेदन प्रस्तुत न भी किया गया

हो। लोक लेखा समिति वित्त के नियन्त्रण के कार्य को पूर्ण अवैयक्तिक रूप से सम्पन्न करती है। यह देखती है कि व्यवस्था कहाँ भंग हुई है, या नियन्त्रण उपायों को सुझाना जिससे भविष्य में अपव्यय और हानियों को रोका जा सके। लोक लेखा समिति अपने कार्य को व्यक्ति विशेष पर टिप्पणी किए बैगार पूर्ण करती है, परन्तु समिति अपनी अनुषंशा के अनुरूप मंत्रालय और विभागों से कार्यवाही की अपेक्षा रखती है।

14.3.1.2 लोक लेखा समिति के नियन्त्रण का स्वरूप

लोक लेखा समिति द्वारा कार्यपालिका पर वित्तीय क्षेत्र में किए जाने वाले नियन्त्रण का स्वरूप निम्नवत है:-

1. लोक लेखा समिति द्वारा कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण विशेषज्ञ नियन्त्रण के समान होता है। यह समिति विभिन्न विषयों पर विशेषज्ञों की राय लेती है। इसके सदस्यों को संसदीय वित्तीय प्रक्रिया का अच्छा ज्ञान होता है। अतः सम्मिलित आधार पर यह सिफारिशें करते हैं, और आवश्यक होने पर उपसमिति की नियुक्ति भी करते हैं।
2. लोक लेखा समिति का मुख्य उद्देश्य बजट के विनियोजन पर नियंत्रण करना है। यह धन के खर्च में की गई अनियमितताओं को उदघाटित करती है, और खर्च करने वाले को अपने कर्तव्य के प्रति सजग करती है।
3. वित्त विभाग एवं नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के मध्य या अन्य विभागों एवं नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के मध्य विवाद होने पर समिति न्यायाधीश की भूमिका निभाती है, उपरान्त समिति द्वारा लिए गए निर्णय भविष्य में सरकारी लेन-देन के सम्बन्ध में कानून की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं।
4. समिति का गठन यद्यपि दलीय आधार पर दलों के अनुभवी एवं वरिष्ठ सदस्यों के रूप में किया जाता है, जो बाद में गैर दलीय स्वरूप धारण कर लेते हैं और मतैक्य भाव से कार्य करती है।
5. समिति वित्तीय नियंत्रण के माध्यम से प्रशासनिक मंत्रालयों की प्रक्रियाओं व कार्य विधियों पर नियन्त्रण रखती है। जो भ्रष्ट अधिकारियों तथा कर्मचारियों के स्थानान्तरण, प्रतिनियुक्ति, पदच्युति तथा समय पूर्व सेवानिवृत्ति के विषयों को प्रभावित करता है। समिति का कार्य यद्यपि बाद में शुरू होता है, परन्तु इसकी छानबीन की प्रभावशीलता का डर अधिकारियों में बना रहता है।

लोक लेखा समिति की कार्यवाही का पूर्णरूपेण अभिलेख रखा जाता है। लेखों और लेखा प्रतिवेदनों के परीक्षण और समिति द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर समिति का सचिवालय प्रतिवेदन का प्रारूप बनाता है, जिसकी एक प्रति समिति के अध्यक्ष के अनुमोदन हेतु एवं एक

नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के पास भेजी जाती है। अध्यक्ष की सहमति उपरान्त नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के साथ समिति की बैठक की जाती है, ताकि तथ्यों और अंको में आवश्यक संशोधनों को किया जा सके। यद्यपि समिति दलीय भावना से परे कार्य करता है, परन्तु मतैक्य न होने पर बहुमत से निर्णय लिया जाता है, मतों की संख्या बराबर हो जाए तो निर्णय समिति का अध्यक्ष निर्णायक मत देने का अधिकार रखता है। लोक लेखा समिति के प्रतिवेदन को उसके अध्यक्ष द्वारा लोक सभा में एवं अधिकृत सदस्य द्वारा राज्य सभा में प्रस्तुत किया जाता है। समिति के प्रतिवेदन को दोनो सदन बिना वाद-विवाद के स्वीकार कर लेते हैं। किसी मतभेद की स्थिति में सरकार समिति को कारणों सहित सूचित करती है।

14.3.1.3 लोक लेखा समिति का मूल्यांकन

लोक लेखा समिति की सिफारिशों को मानना सरकार के लिए अनिवार्य नहीं है, किन्तु सरकार समिति की अधिकांश सिफारिशों को लागू करने का प्रयास करती है। इस सन्दर्भ में आन्तरिक कार्य नियम 27 में कहा गया है कि “लोक सभा सचिवालय की लोक लेखा समिति शाखा एक पूर्ण रखा जाएगा जिसमें लोक लेखा समिति की सिफारिशों को लागू करने के लिए विभिन्न मन्त्रालयों द्वारा उठाए गए अथवा सम्भावित कदमों का ब्यौरा हो.....तथा समिति की अगली बैठक के कम से कम सात दिन पूर्व सभी सदस्यों को वितरित करने की व्यवस्था करें।” समिति की कमियाँ या दुर्बलता निम्न रूप में प्रतिबिम्बित होती है --

1. समिति किसी व्यय की वाद को अस्वीकार नहीं कर सकती है, नीति के व्यापक प्रश्नों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है।
2. समिति के विचार विमर्श का क्षेत्र नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन है। अतः इसकी पूर्ण निर्भरता उसके प्रतिवेदन पर हो जाती है।
3. समिति की कार्यकुशलता में कमी का महत्वपूर्ण कारण वित्तीय लेन-देन के बहुत देर बाद उसके सम्बन्ध में प्रतिवेदन देना है। जो ‘शव परीक्षा’ के रूप में गड़े मुर्दे उखाड़ने की कोशिश करती है। कई बार उसके प्रतिवेदनों पर संसद में विस्तृत विचार नहीं किया जाता है, और इसकी सिफारिशों को गंभीरता से न लेकर इन्हें केवल औपचारिकता मात्र मान लिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि लोक-लेखा समिति का कार्य तब शुरू होता है जब सरकार बजट सम्बन्धी धनराशि को वित्तीय वर्ष में पूरी तरह खर्च कर लेती है। अतः धन के खर्च होने के पश्चात् लोक लेखा समिति द्वारा नियन्त्रण की उपयोगिता के प्रति सन्देह प्रकट किया जाता है इसी कारण आलोचक कहते हैं कि यह व्यय सम्मत त्रुटियों को रोकने की बजाय, की गयी त्रुटियों पर पुनर्विचार

करके समय को नष्ट करना है। प्रो० हीरेन मुकर्जी के शब्दों में, “समिति के प्रतिवेदनों का समाचार-पत्रों द्वारा व्यापक प्रचार किया जाता है। अतः यह स्वाभाविक है कि सरकार समिति के सुझावों टिप्पणियों की उपेक्षा नहीं कर सकती इसका यह प्रभाव होता है कि प्रशासन कोई गलत कार्य करने से घबराता है।” तथापि लोक लेखा समिति की प्रभावशीलता बढ़ाने हेतु निम्नांकित सुझाव दिए जा सकते हैं:-

1. जिन मामलों में धन का दुरुपयोग तथा दुर्विनियोजन किया गया है, उनकी तरफ उसी वर्ष संसद तथा लोक लेखा समिति के ध्यान में लाना चाहिए।
2. वित्तीय लेन-देन की परीक्षा साथ-साथ कर लेना चाहिए एवं आवश्यक निर्देश दे, ताकि आगामी वर्षों में गलतियों की पुनरावृत्ति न हो।
3. समिति में सदस्यों की संख्या बढ़ानी चाहिए एवं वित्तीय क्षेत्र के अनुभव को वरीयता देनी चाहिए, साथ ही संसद को उसके प्रतिवेदनों पर गहन विचार-विमर्श करना चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोक लेखा समिति ने संसदीय लोकतन्त्र बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसकी महती भूमिका के सम्बन्ध में समिति की स्वर्ण जयन्ती पर तत्कालीन राष्ट्रपति ने ये वक्तव्य व्यक्त किया कि, “लोक लेखा समिति हमारे संसदीय जीवन के जीवंतकाल में अस्तित्व में आई सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर हमारी संसद और राज्य विधान सभाएँ कार्यपालिका शक्ति और प्रक्रिया की संरक्षिका बन गयी है। लोक-लेखा समिति को नागरिक सेवकों को बुलाने की शक्ति है, ताकि इस बात का आश्वासन प्राप्त हो सके कि सार्वजनिक धन का उचित प्रयोग हो रहा है। इस प्रक्रिया में पूछताछ के दौरान रहस्य के प्रकट होने का भय ही गलत कार्यों के सम्बन्ध में एक आश्वस्त निरोधक के रूप में कार्य करता है। इस कार्य के लिए समिति को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सांविधानिक अभिकर्ता-नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक की सहायता एवं परामर्श मिलता रहता है। अतः निःसन्देह इस पृष्ठभूमि में हमारी संसद की लोक लेखा समिति का ऐसा इतिहास है। जिसके बारे में यह गौरवान्वित अनुभव कर सकती है।”

अभ्यास प्रश्न 1

अउत्तरीय प्रश्न-लघु.

1. वित्त पर संसदीय नियंत्रण के औचित्य को लिखिए।
2. लोक लेखा समिति का क्या आशय है।

बरिक्त स्थान भरिए.

1. लोक लेखा समिति में सदस्यों की संख्या,,,,,,,,,,,,,होती है।
2. लोक लेखा समिति का अध्यक्ष लोक सभा अध्यक्ष द्वारा,,,,,,,,,,,,,से बनाया जाता है।

3. लोक लेखा समिति का मुख्य कार्य सदन में प्रस्तुत किये गए „„„„„„„„„„„„„„„„„„„„ के प्रतिवेदन का परीक्षण करना है।

14.3.2 अनुमान समिति

संसद को यह शक्ति प्राप्त है, कि वह किसी माँग को स्वीकार कर ले या स्वीकार न करे या उसमें निश्चित रकम की कटौती कर दें। उसे संचित निधि पर भारत खर्चों के अनुमान का भी अधिकार है। यद्यपि अनुमानों पर दीर्घकालीन विचार-विमर्श करती है। परन्तु उसे एक व्यापक वित्तीय नियन्त्रण के लिए यह देखना भी आवश्यक है कि संसद में प्रस्तुत किए गये कार्यक्रमों व परियोजनाओं के लिए निर्धारित अनुदानों की मितव्ययता की दृष्टि से छानबीन की जाए। संसद के पास अनुमानों के तकनीकी पक्षों के रूप में छानबीन का न तो समय न ही शक्ति होती है। अतः इसके लिए संसद की एक ऐसी समिति का गठन किया जाता है, जो संसद के समक्ष प्रस्तुत अनुदान माँगों की विषयवार समीक्षा करती है, तथा व्यय करने से पहले ही खर्च में मितव्ययिता लाने के सुझाव देती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विधायिका ने एक अन्य समिति कानिर्माणकिया है। जिसे प्राक्कलन या अनुमान समिति कहते हैं। अनुमान समिति एक स्थायी वित्तीय समिति है। भारत में यद्यपि सन् 1937 में ही अनुमान समिति के गठन का माँग किया गया। परन्तु समिति का गठन को उस समय स्वीकार नहीं किया गया। उस समय वित्त विभाग के अर्न्तगत एक स्थायी वित्तीय समिति (1921) कार्य कर रही थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सन् 1950 में अनुमान समिति का गठन किया गया समिति का गठन प्रतिवर्ष किया जाता है, प्रारम्भ में इसके 25 सदस्य रहते थे, अब उनकी संख्या 30 कर दी गयी है। जो सभी लोकसभा के सदस्य होते हैं। समिति में राजनीतिक दलों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके, इसके लिए सदस्यों का चुनाव एकल संक्रमणीय मत से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा होता है। इसके अध्यक्ष की नियुक्ति लोक सभा अध्यक्ष द्वारा की जाती है। यदि लोकसभा का उपाध्यक्ष इसका सदस्य होता है, तो वह स्वतः ही इसका अध्यक्ष बन जाता है। मन्त्रीगण अनुमान समिति के सदस्य नहीं होते। सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष होता है उसे अभिसमय के अनुसार उन्हे दो और कार्यवधियों के लिए चुना जाता है, ताकि समिति के कार्य में निरन्तरता और उनका अनुभव लिया जा सके। समिति का गठन मई माह में होता है, जो जुलाई माह से अपना कार्य शुरू कर देती है। समिति के सहायतार्थ उसका एक कार्यालय भी होता है।

अनुमान समिति सरकार की नीतियों से सम्बन्धित विषयों से सरोकार नहीं रखती है। इसका मुख्य उद्देश्य तो इस बात से संतुष्ट रहना होता है, कि निर्धारित नीति के अर्न्तगत अधिकतम मितव्ययिता के साथ न्यूनतम व्यय किया जाए। यह सरकार द्वारा स्वीकृत योजनाओं व परियोजनाओं को कार्यान्वित करते हुए व्यय में मितव्ययिता लाने के लिए रचनात्मक सुझाव देने वाली संस्था है, संसद के कार्य

संचालन के लिए अपनाए गए प्रक्रिया नियमों के अनुसार अनुमान समिति के कार्यों में अक्टूबर 1956 में संशोधन कर काफी व्यापक कर दिया गया है। नवीन प्रावधानों के अनुसार समिति को यह प्रतिवेदन देना है कि, “सरकारी नीति संगतता के आधार पर तैयार किए गए अनुमानों में क्या मितव्ययिताएं, संगठनात्मक सुधार, कुशलता या प्रशासनिक सुधार लागू किए जा सकते हैं, प्रशासन में मितव्ययिता तथा कुशलता त्यागने के लिए क्या नीति विकल्प हो सकते हैं, तथा यह जाँच करना कि किस हद तक नीति के अनुरूप तैयार किए गए अनुमानों के लिए मौद्रिक प्रावधान सही ढंग से किए गए हैं।” इस तरह अनुमान समिति के कार्यों को सार रूप में निम्नलिखित शीर्षों में व्यक्त करते हैं

1. सरकारी नीति के अनुरूप तैयार किए गये अनुमानों में मितव्ययिता लाने के प्रशासनिक व संगठनात्मक सलाह देना।
2. प्रशासन में कार्यकुशलता व मितव्ययता लाने के लिए वैकल्पिक नीतियों की सलाह देना।
3. अनुमानों में सन्निहित नीति के अनुरूप मौद्रिक प्रावधानों का औचित्य की परख करना।
4. संसद के सम्मुख बजट अनुमानों के प्रस्तुतीकरण का बेहतर ढंग विकसित करने के लिए सलाह देना।
5. सरकारी अधिकारियों की सुनवाई कर सकती है, और एक ऐसी प्रश्नावली बना सकती है। जिनके प्रश्नों का उत्तर सम्बन्धी विभाग प्रमुख को देना होता है।

समिति का गठन मई में किसी समय कर दिया जाता है। जो प्रतिवर्ष कुछ मन्त्रालयों को अपने विशिष्ट अध्ययन के लिए चुन लिया जाता है और वह जुलाई से कार्य करना प्रारम्भ कर देती है। मन्त्रालयों के चुनाव के सन्दर्भ में 1958 में लोकसभा अध्यक्ष का वक्तव्य है, कि “प्रत्येक लोकसभा के जीवन काल में जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक मन्त्रालय के महत्वपूर्ण बजट अनुमानों की जाँच का एक दौर पूरा किया जाना चाहिए।” वह सालभर के लिए अनुमानों का चयन करके अपने कार्यों की योजना तैयार करती है। समिति अपने जाँच एवं अध्ययन हेतु प्रशासनिक स्रोत, प्रकाशित सामग्री, निजी संस्थाएँ, अध्ययन दल, मौखिक जानकारी और सरकारी तथा गैर सरकारी गवाही के द्वारा सामग्री एकत्रित करती है। इस हेतु वह उपसमितियों का गठन करती है। जाँच के सन्दर्भ में समिति सरकारी अधिकारियों को स्पष्टीकरण के लिए बुला सकती है। उन्हें प्रश्नावली भेजकर सूचना एकत्र कर सकती है। आवश्यक होने पर आँकड़े चार्ट और अभिलेख माँग सकती है। समिति एक परिपत्र के द्वारा मन्त्रालयों के लिए तैयार किए गए अनुमानों के सन्दर्भ में मुख्यतया निम्न सूचनाएँ माँगी जाती हैं:-

- (1) मन्त्रालय एवं उससे जुड़े अधीनस्थ कार्यालय का गठन तथा कार्य।
- (2) मन्त्रालय व इसके अधीनस्थ कार्यालयों के उन आधार का विस्तृत ब्यौरा, जिन पर अनुमान तैयारी निर्भर करती है।
- (3) मन्त्रालय के उन कार्यों के पिछले तीन वर्षों का विवरण जो वर्तमान अनुमानों की अवधि में पूरा की जानी है।
- (4) योजनायें व परियोजनायें जो मन्त्रालय शुरू कर रहा है या चल रही है।
- (5) पिछले तीन वर्षों में वर्तमान अनुमानों में उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया गया व्यय।
- (6) वर्तमान वर्ष तथा पिछले वर्ष के अनुमानों के खर्च में अन्तर के कारण।
- (7) अन्य किसी भी प्रकार के अनुमान के सन्दर्भ में सूचना जो मन्त्रालय देना चाहता है।

उक्त समस्त सूचनाओं का समिति के सचिवालय द्वारा विश्लेषण करके, सदस्यों के विचार-विमर्श के बाद प्रतिवेदन अध्यक्ष की स्वीकृति से सदस्यों में वितरण कर दिया जाता है, एवं तथ्यात्मक पुष्टि हेतु सम्बन्धित विभाग या मन्त्रालय को गोपनीयता बनाये रखते हुए भेजा जाता है। तदोपरान्त मन्त्रालय की अनुदान मांगों पर बहस पूर्व प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाता है। प्रतिवेदन में प्रमुखतया तीन प्रकार की सिफारिशें होती हैं:- (1) संगठनात्मक तथा कार्यात्मक सुधार सम्बन्धी, (2) मितव्ययिता सम्बन्धी जो अर्थव्यवस्था के सुनिश्चित अनुमान व्यक्त करने वाले हो और (3) मार्गदर्शन सम्बन्धी अन्य सुझाव।

प्रतिवेदन पर अनुमान समिति अपने सचिवालय की सहायता से सिफारिशों को लागू करने के लिए की गयी कार्यवाही की सूचना प्राप्त करती है, जिसे मन्त्रालय से प्राप्त जानकारी को क्रियान्वयन कहते हैं। भारत में अनुमान समिति का कार्य बहुत व्यापक है। इसने सरकारी भूलचूक के अनेक कार्यों को प्रकाश में लाया। इस समिति ने वित्तीय एवं प्रशासकीय दोनों ही क्षेत्रों में सुधार के महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। दूसरे प्रतिवेदन के माध्यम से केन्द्रीय सचिवालय एवं विभागों के पुर्नगठन के लिये सिफारिश प्रस्तुत किया। दूसरी तरफ दामोदर घाटी योजना, हीराकुण्ड परियोजना, भाखड़ा नागल योजना तथा काकरापारा योजना जैसी बहुउद्देश्यीय परियोजनाओं के कार्य संचालन की प्रशासकीय कमियों को उजागर कर महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। इसके प्रतिवेदन प्रकाशित होते हैं, और जनमत में प्रचारित भी किये जा रहे हैं। इसकी अधिकांश सिफारिशों को सरकार द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती है, जिसकी क्रियान्वयन प्रतिवेदन से पुष्टि होती है। फिर भी समिति की अन्तिम सफलता सरकार पर

दीर्घकालीन चिन्तन तथा योजना के सम्बन्ध में पड़ने वाले प्रभाव पर निर्भर करता है। इसमें निम्नवत कमियां या दुर्बलताएं दृष्टिगोचर होती हैं:-

1. समिति जिस मन्त्रालय या विभाग की एक बार समीक्षा कर लेती है, दूसरी बार की समीक्षा में बहुत अधिक समय होता है।
2. समिति सामान्य व्यक्तियों का एक समूह है, उसके पास लोक लेखा समिति की तरह नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक जैसा कोई परामर्श विशेषज्ञ उपलब्ध नहीं रहता है।
3. समिति सरकारी नीति के मूल्यांकन एवं विभागीय पुर्नगठन पर अधिक मात्रा में अपनी शक्ति खर्च कर रही है, जबकि अपने मूल कार्य अनुमानों की जाँच करना गौण होता जा रहा है।
4. समिति का कार्य तथ्यों के खोजने की मंशा रूप में नहीं, वह संयुक्त राज्य अमेरीका की कांग्रेस समितियों के रूप में तथ्यान्वेषी तंत्र के स्थान पर छिद्रान्वेशी तंत्र बनाती जा रही है।
5. समिति स्वयं को लोक सभा के सापेक्ष भूमिका में ले जा रही है।
6. समिति संगठनात्मक सुधार तथा कार्यों के पुर्नवितरण सम्बंधित सुझाव देती है, जो प्रचार महत्तायुक्त होते हैं। अतः सरकार इस तरह की सिफारिशों अस्वीकृत कर देती है।

अनुमान समिति वित्तीय नियंत्रण की दिशा में उपयोगी कार्य कर रही है, जो भारत में प्रशासन की योग्यता तथा उसके स्तर को उन्नत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। इस पर दोषारोपण करते हुए कहा जाता है कि बहुत बार यह नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करके उन कार्यों को करने लगती है जो वास्तव में उसके नहीं हैं, लेकिन इस बात से पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता है। यह समिति सदन का कार्य नहीं करती बल्कि सदन के अपने कार्य को अच्छी तरह करने में सहायता करती है। इसके कार्य सुझावपरक हैं, जिनको अनुपालन करना सदन पर निर्भर करता है।

14.3.3 विभागीय समितियाँ

विभागीय समितियाँ स्थायी प्रकृति की समितियाँ होती हैं। इस प्रकार की समितियों की स्थापना का मूल ध्येय विभिन्न मन्त्रालयों/विभागों की अनुदान माँगों की समीक्षा संसद में विचार तथा मतदान किए जाने से पूर्व करने के सन्दर्भ में है। दीर्घकालीन संसदीय अनुभव ने प्रकट किया कि विद्यमान संसदीय कार्यप्रणाली में समय की कमी के कारण बजट के अधिकांश भाग को बिना विस्तृत-चर्चा के हीस्वीकार कर लिया जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में सन् 1993 में विभाग सम्बन्धी स्थायी संसदीय समितियों के गठन का निर्णय किया। आरम्भ में सत्रह स्थायी समितियों की स्थापना की गयी। अब इनकी संख्या बढ़कर 25 हो गयी है। प्रत्येक समिति में अधिकतम सदस्य संख्या 31 है, जिसमें 10

राज्यसभा से और 21 लोकसभा से नियुक्त होते हैं। पाँच समितियों के अध्यक्ष राज्यसभा से तथा चार समितियों के अध्यक्ष के सम्बन्ध में सूचना उपलब्ध नहीं है, और शेष के लोकसभा के सदस्य होते हैं। समितियाँ में परीक्षण के उपरान्त अनुदान माँगों पर प्रतिवेदन विचार विमर्श के लिए संसद में प्रस्तुत किया जाता है।

14.3.4 लोक उपक्रम समिति

लोक निगमो/लोक उद्यमों के कार्य संचालन के निरीक्षण परीक्षण और समय-समय पर उनके विषय में संसद में प्रतिवेदन देने के लिए एक संसदीय समिति के गठन की माँग उठती रही। इस तथ्य के पीछे मूल भावना यह थी कि संसद अपने प्रति उत्तरदायी उद्यमों को प्रभावशाली तथा न्याय संगत रूप में नियंत्रण रखने में सफल नहीं रही है। इस प्रकार का समिति के गठन का उद्भव सर्वप्रथम 1953 के अन्त में लोकसभा में लंका सुन्दरम् ने की थी। वर्ष 1956 में जीवन बीमा निगम विधेयक पर चर्चा के दौरान श्री अशोक मेहता ने एक ऐसी स्थायी समिति के गठन के पक्ष में मत रखा था जो राष्ट्रीयकृत उद्योग के कार्य-संचालन की पूरी जांच-पड़ताल करने के लिए आवश्यक उपकरण तथा अधिकारी हो प्रथम लोकसभा अध्यक्ष जी0वी0 मावलंकर ने प्रधानमंत्री को पत्र के माध्यमसे स्वायत्त लोक निगमों के कार्य संचालन की जांच हेतु एक स्थायी संसदीय समिति के गठन की बात रखी थी। योजना आयोग ने भी लोक उपक्रमों पर एक संसदीय समिति के गठन की सिफारिश की थी। परिणतः स्वरूप 1 मई 1964 को लोक उपक्रम समिति की स्थापना की गयी। इस समिति में 22 सदस्य होते हैं जिसमें 15 लोकसभा तथा 7 राज्य सभा के सदस्य होते हैं। सदस्यों का चुनाव एकल संक्रमणीय तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर होता है। मई माह के आरम्भ में समिति का गठन कर दिया जाता है जो अगले वर्ष 30 अप्रैल तक रहता है। लोकसभा अध्यक्ष द्वारा समिति के सभापति को नियुक्त किया जाता है। जिसका कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है। समिति के बीस प्रतिशत सदस्य चक्रानुक्रम में प्रत्येक वर्ष सेवानिवृत्त कर दिए जाते हैं।

लोक उपक्रम समिति का कार्य उपक्रमों के कार्य संपादन के सभी पक्षों का मूल्यांकन करना है। इसको जिन लोकउपक्रमों के प्रतिवेदन तथा लेखों की जाँच करने का कार्य समिति को दिया गया है, उनकी उस सन्दर्भ में जाँच करना होता है। लोक उपक्रमों पर नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन का परीक्षण करना, लोक उपक्रमों की स्वायत्तता एवं कार्यकुशलता का परीक्षण करना, कि लोक उपक्रम के कार्यों का प्रबन्ध स्वस्थ व्यावसायिक सिद्धान्तों के अनुरूप किया जा रहा है कि नहीं। इसके साथ ही अध्यक्ष की सलाह से लोक लेखा समिति एवं अनुमान समिति के सन्दर्भित कार्यों को करना होता है।

डॉ० सुभाष कश्यप के अनुसार “समिति द्वारा जाँच सामान्य रूप से उपक्रम के मुल्यांकन के स्वरूप की होती है जिसमें सभी पहलू आ जाते हैं, जैसे उत्पादन, सामान्य अर्थव्यवस्था में अंशदान, रोजगार के अवसर पैदा करना, सहायक उद्योगों का विकास, उपभोक्ता के हितों का संरक्षण, इत्यादि।”

लोक उपक्रम समिति के उपरोक्त कार्यों एवं कार्यवाहियों को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह समिति बहुत उपयोगी कार्य कर रही है। लोक उपक्रमों के सन्दर्भ में यह लोक लेखा समिति एवं अनुमान समिति के कार्यों को अकेले पूर्ण कर रही है। समिति द्वारा किए गए अध्ययनों के फलस्वरूप ये तथ्य संसद एवं जनता के ध्यान में लाया गया है कि लोक उक्रमों द्वारा किस प्रकार कार्यालय के भवनों पर, अतिथि गृहों पर, जलपान पर और अधिकारियों के विदेशी दौरो पर भारी धनराशियां व्यय किया गया।

14.4 नियन्त्रक महालेखा परीक्षक

कार्यपालिका अपने समस्त कार्यों के लिए विधानमण्डल के प्रति उत्तर दायी होती है। कार्यपालिका दायित्वों का अनुपालन विधानमण्डल द्वारा तभी करवाया जा सकता है जब वह उनकी जाँच कर उन पर अपना निर्णय दे सकता हो। कार्यपालिका के सामान्य कृत्यों की जाँच सरलता से की जा सकती है, परन्तु कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जिनकी जाँच सामान्य लोग नहीं कर सकते हैं। लेखांकन एवं लेखा परीक्षण और कार्यपालिका के वित्तीय लेन-देन का औचित्य अथवा अनौचित्य निर्धारण करना एक तकनीकी कार्य है, और इसके लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। जबकि संसद सामान्य जन द्वारा निर्वाचित होने के कारण जाँच करने की क्षमता तथा योग्यता नहीं रखती, जबकि संसद का प्रमुख औचित्य है कि वह सरकार के वित्तीय व्यवहारों का परीक्षण करें कि कर दाताओं के धन का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग हो रहा है। इस सन्दर्भ में एक वित्तीय विशेषज्ञ की आवश्यकता होती है, इसलिए स्वतन्त्र नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का प्रावधान भारतीय संविधान के अन्तर्गत किया गया है। नियन्त्रक महालेखा परीक्षक स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से कार्य करता है, इसकी स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को संविधान के विभिन्न प्रावधानों और इस पद की शक्तियों, कर्तव्यों और सेवाशर्तों से सम्बन्धित कानून द्वारा आश्वस्त किया गया है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 148 से 151 तक नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की नियुक्ति तथा कार्यों के संबन्ध में प्रावधान किए गये हैं। नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का पद बहुत ही महत्वपूर्ण है, जिसका प्रमुख दायित्व भारत की संचित निधि में से व्यय किये जाने वाले सभी सार्वजनिक धनो का लेखा परीक्षण करना है। वैसे भारत में लेखा परीक्षण विभाग की स्थापना सन 1853 में ही हो चुकी थी, किन्तु सन 1919 के अधिनियम द्वारा इसकी स्वतन्त्र निकाय के रूप में स्थापना की गई। सन् 1950

के संविधान में महालेखा परीक्षक का नाम बदल कर "नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक" रखा गया तथा उसे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की भांति एक संवैधानिक अधिकारी बनाया गया।

संसद ने 1953 के अधिनियम और 1971 के अधिनियम द्वारा क्रमशः नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्यकाल तथा सेवा शर्तों एवं कर्तव्यों तथा अधिकारों को परिभाषित किया है। सन् 1976 के बाद लेखांकन सम्बन्धी दायित्व से वह मुक्त कर दिया गया है। अब नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक का कार्य लेखा-परीक्षण ही रह गया है। सन् 1984 के अधिनियम द्वारा जहाँ एक तरफ पेंशन सुविधाओं में वृद्धि का लाभ दिया गया है, वही उसकी शक्तियों में और वृद्धि कर दी गयी है।

14.4.1 नियंत्रक महालेखा परीक्षक की संवैधानिक स्थिति

संविधान में नियंत्रक महालेखा परीक्षक को एक उच्च स्वतन्त्र वैधानिक अधिकारी माना गया है। संविधान में निहित उसके पद की शपथ में यह कहा गया है कि उसे संविधान और विधि की मर्यादा को बनाये रखना है तथा कर्तव्यों को भय, पक्षपात, प्रेम तथा बुरी भावना के बिना सम्पादित करना है। प्रशासन की वित्तीय एकता के सर्वश्रेष्ठ स्तर को बनाये रखने के उद्देश्य एवं कर देने वालों के हितों की रक्षा तथा विधायी नियन्त्रण के उद्देश्य के लिए भी संविधान में नियंत्रक महालेखा परीक्षक की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता को निम्न विधियों से बनाये रखता है।

1. संविधान के अनुच्छेद 148 के अनुसार भारत के नियंत्रक महालेखा परीक्षक की नियुक्ति अधिपत्र द्वारा राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् की सलाह से अपने ही हाथों एवं मुहर से करेगा अपना पद पर वह 6 वर्ष तक या 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक जो भी पहले हो वह रहता है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की भांति तथा उसी रीति तथा उन्हीं आधारों पर उसे पदमुक्त किया जा सकता है।
2. संविधान के अनुच्छेद 148 (3) के अनुसार नियंत्रक महालेखा परीक्षक का वेतन तथा सेवा की अन्य शर्तें विधि द्वारा निश्चित होगी तथा नियुक्ति के पश्चात इसमें किसी प्रकार परिवर्तन नहीं किया जा सकता जिससे उसकी हानि हो।
3. संविधान के अनुच्छेद 148 (4) के अनुसार नियंत्रक महालेखा परीक्षक अपने पद से सेवनिवृत्ति के बाद भारत सरकार या राज्य सरकार के किसी पद पर कार्य नहीं कर सकता।
4. संविधान के अनुच्छेद 148(6) के अनुसार उसका वेतन भत्ते एवं पेंशन भारत की संचित निधि से देय होंगे।

14.4.2 नियंत्रक महालेखा परीक्षक के कर्तव्य

नियन्त्रक महालेखा परीक्षक प्रथम नियन्त्रक के रूप में यह देखता है कि भारत की संचित निधि से संसद द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार ही समस्त धनराशि निकाली जाए। दूसरा समस्त सरकारी धन का व्यय संसद द्वारा पास किये गये कानून एवं नियमों के अनुसार किया जाय। इस सम्बन्ध में उसके कर्तव्य निम्नवत् हैं -

1. संघ, राज्य और राज्य संघ क्षेत्र की संचित निधि से किये गये व्यय का परीक्षण करना और उन पर प्रतिवेदन देना कि व्यय विधि के अनुसार है या नहीं।
2. संघ और राज्य की आकस्मिक निधि से किये गये व्यय ही जाँच और उन पर प्रतिवेदन देना।
3. संघ या राज्य के विभाग द्वारा किये गये सभी व्यापार और विनिर्माण के लाभ-हानि लेखाओं की जाँच और उन पर प्रतिवेदन देना।
4. संघ अथवा राज्य के अनुरोध पर किसी भी सरकारी विभाग की आय की जाँच करना।
5. संघ और राज्य से वित्त पोषित सभी स्थानीय संस्थाओं, निकायों, प्राधिकारों और सरकारी कम्पनियों, निगमों की प्राप्ति और व्यय की जाँच और उस पर प्रतिवेदन देना।

नियन्त्रक महालेखा परीक्षक संघ तथा राज्य सरकारों के लेखों की जाँच के बाद महालेखाकार द्वारा संघ तथा राज्य सरकार के लिए अलग अलग जाँच प्रतिवेदन तैयार किये जाते हैं। संघ के लेखाओं से सम्बन्धित प्रतिवेदनों को राष्ट्रपति के समक्ष और राज्य से सम्बन्धित प्रतिवेदनों को राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करता है। जिन्हें वे संसद एवं राज्य विधानमण्डलों में उनके अनुमोदन के बाद प्रस्तुत किया जाता है। संसद में प्रस्तुत प्रतिवेदन के साथ लो लेखा समिति नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की सहायता आगे की जाँच-पड़ताल में लेती है। इसी सन्दर्भ में कहा जाता है कि "नियन्त्रक महालेखा परीक्षक लोक लेखा समिति का मित्र, दार्शनिक और मार्गदर्शक होता है।"

14.4.3 नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की पद एवं स्थिति का मूल्यांकन

नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के कार्य एवं दायित्व अतिमहत्वपूर्ण हैं, इसलिए संविधान में उसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के समान स्थिति और अधिकार दिये गये हैं। संघ के स्तर पर जहाँ वह मात्र लेखा परीक्षण का कार्य देखता है, वहीं राज्यों में वह लेखा परीक्षण के साथ लेखा का कार्य भी पूर्ण करता है। भारतीय संसदीय प्रजातंत्र का वह एक महत्वपूर्ण स्तम्भ है। संसद द्वारा स्वीकृत धन के सही उपयोग करने की दिशा में वह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। संघ और राज्य सरकारों के लेखों और आय-व्यय की देख रेख करके, धन का दुरुपयोग, धोखा, लूट एवं हेरा-फेरी के मामलों को संसद एवं विधानमण्डलों में जानकारी देकर यह सार्वजनिक द्रव्य का सजग प्रहरी और रखवाला

की भूमिका निभाता है। नियन्त्रक महालेखा परीक्षक वित्त मंत्रालय से अलग सार्वजनिक व्यय का नियंत्रण नहीं करता। वह तो उद्देश्यपरक यंत्र प्रदान करता है जो सार्वजनिक वित्त के नियंत्रण की स्थिति को अनुकूल बनाते हैं। नियन्त्रक महालेखा परीक्षक ने समय समय पर अनेक महत्वपूर्ण मुद्दों जैसे बाफोर्स घोटाला, ताबूत घोटाला, 2 जी स्पेक्ट्रम आवंटन घोटाला आदि को सामने लाकर जहाँ अपने पद की स्थिति एवं गरिमा का परिचय दिया है, वही भारतीय राजनीति में तूफान ला दिया, लेकिन इसके बावजूद यह पद आलोचना की निगाह से बच नहीं सका है।

कतिपय आलोचकों ने उसे जागरूक पहरेदार के स्थान पर ऐसा 'रक्त पिपासु शिकारी कुत्ता' कह डाला है जो सरकारी अधिकारियों की टांग पकड़ लेता है, उन्हें आगे बढ़ने नहीं देता और प्रशासन के कार्य में कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। बोफोर्स तोप सौदे के सन्दर्भ में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट को देखते हुए एन० के० पी० साल्वे तत्कालीन नियन्त्रक महालेखा परीक्षक श्री टी० एन० चतुर्वेदी को मसवरा तक कह डाला और महाअभियोग की धमकी दी गई। लोक प्रशासन के अमरीकी विद्वान पाल एपलवी ने भारत में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के पद एवं स्थिति तथा भारतीय लेखा परीक्षण पद्धति की आलोचना करते हुए इसे औपनिवेशिक शासन की विरासत कहा उनके अनुसार भारत में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया जिसने प्रशासनिक अधिकारियों को कार्य के प्रति निष्क्रिय बना दिया। श्री ए० के० राय के अनुसार "नियन्त्रक महालेखा परीक्षक न तो अनाधिकार हस्तक्षेप करने वाला दस्तदाज और नहीं गन्दी नालियों का निरीक्षक है, किन्तु अपनी लेखा परीक्षण के समय वह गन्दगी अवश्य देखता है, उसका कर्तव्य है कि वह इस तरफ संसद एवं विधानमण्डल का ध्यान खींचें और उसे यह जॉच सौंप दे।" उपरोक्त तथ्यों के आधार पर ही कहा जाता है कि भारत में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक वित्तीय प्रशासन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उसे प्रशासन को समझने की निश्चयात्मक रीति से व्यवहार करना चाहिए, इसके कार्यों को और अधिक प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता है तथापि कुछ सुझावों को कार्यान्वित करने से इसके कामकाज को आधुनिक समय की आर्थिक तथा औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करके इसे प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न 2

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. अनुमान समिति के गठन के मुख्य उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
3. वित्त नियंत्रण में विभागीय समिति की भूमिका को समझाइए।
5. नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के लिए भारतीय संविधान में दिये गये भिन्न भिन्न उपबन्धों को बताइए।

14.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत हमें यह जानने और समझाने का अवसर प्राप्त हुआ है कि संसदीय शासन प्रणाली में वित्त पर नियंत्रण करने के लिए किस प्रकार के उपबंध हमारे संविधान निर्माताओं किए हैं। जिसके तहत संसदीय समितियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें हमने लोक लेखा समिति के संगठन और कार्यों का अध्ययन किया है, जिसमें यह देखा कि इसका न केवल संगठन संसदीय परम्पराओं के अनुरूप किया गया है वरन् यह वित्त पर नियंत्रण रखने वाली महत्वपूर्ण समिति है।

इसके साथ ही साथ हमने अनुमान समिति, विभागीय समितियों और लोक उपक्रम समिति के विभिन्न पक्षों का भी अध्ययन किया है। अन्ततः हमने वित्त पर नियंत्रण रखने वाले प्रमुख पक्ष - नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की संवैधानिक स्थिति उसके कार्यों का अध्ययन करते हुए उसके पद और स्थिति का मूल्यांकन किया है। जिसमें हमने देखा कि नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के कार्य एवं दायित्व अति महत्वपूर्ण हैं, इसलिए संविधान में उसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के समान स्थिति और अधिकार दिये गये हैं। संघ के स्तर पर जहाँ वह मात्र लेखा परीक्षण का कार्य देखता है, वहीं राज्यों में वह लेखा परीक्षण के साथ लेखा का कार्य भी पूर्ण करता है।

14.6 शब्दावली

लोक लेखा समिति:- नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर संसद जिस समिति द्वारा गहन परीक्षण करती है उसे लोक लेखा समिति कहते हैं।

अनुमान समिति:- यह संसद द्वारा अनुमोदित विभिन्न मन्त्रालयों/विभागों के अनुमानों का तथा उन अनुमानों की आधारभूत नीति से संबंधित कार्यक्रमों तथा योजना के निष्पादन में आवश्यक रियायत को ध्यान में रखते हुए विस्तृत परीक्षण करती है, और अपना सुझाव प्रतिवेदन के रूप में संसद को सौपती है।

लोक उपक्रम समिति:- लोक उपक्रमों की कार्यप्रणाली के अध्ययन हेतु संसदीय नियमों के अर्न्तगत गठित समिति होती है।

कार्यपालिका:- प्रशासन का वह तंत्र, वह अभिकरण जो संबंधित नीतियों के निर्माण करवाने और अनुमोदन होने के बाद उनका निष्पादित करता है।

बजट का क्रियान्वयन:- वित्त विधेयक तथा विनियोग विधेयक के पारित होते ही राजस्व वसूली तथा अधिकृत मदों पर व्यय के लिए सरकार को वैधानिक अधिकार मिल जाता है। वित्त मंत्रालय का

राजस्व विभाग राजस्व वसूली के लिए उत्तरदायी होता है। जिसके दो उप विभाग हैं। १. केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड २. केन्द्रीय उत्पाद और सीमा शुल्क बोर्ड।

सरप्लस बजट:- ऐसा बजट जिसमें सरकार की आय उसके व्यय से अधिक होती है।

पूँजी बजट:- पूँजी बजट के अन्तर्गत पूँजी प्राप्ति और पूँजी भुगतान का विवरण होता है।

भारत का संचित कोष:- सरकार की सम्पूर्ण राजस्व आय, ऋण प्राप्ति तथा उसके द्वारा दिये गए ऋण की अदाएगी से प्राप्त आय को संचित निधि कहते हैं। सरकार के समस्त व्यय इसी कोष से संसद की अनुमति से किया जाता है।

आयोजन व्यय:- ऐसे व्यय जिनकी व्यवस्था केन्द्रीय योजना में रहती है, आयोजन व्यय कहलाता है।

आकस्मिकता निधि:- भारतीय संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत एक ऐसी निधि का गठन सरकार करती है। जिसका उपयोग आकस्मिक घटनाओं का सामना करने के लिए किया जाता है और इस निधि से राष्ट्रपति की अनुमति से अग्रिम निकले जा सकते हैं।

गैर योजना व्यय:- इसमें सरकार के उन सभी खर्चों को शामिल किया जाता है, जो योजना के अन्तर्गत नहीं आते। इसमें ब्याज, पेन्शन, राज्यों को वैधानिक अन्तरण, रक्षा, आन्तरिक सुरक्षा और विदेशों से सम्बन्ध सन्दर्भित व्यय है।

गैर कर राजस्व:- सरकार की ब्याज प्राप्ति, और शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि सेवाओं के प्रशासनिक प्राप्तियाँ गैर कर राजस्व के अन्तर्गत आती हैं।

14.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1 अ.लघु-उत्तरीय प्रश्न के लिए देखिए- 1-2.3, 2-2.4

ब.रिक्त स्थान भरिए-1. 22, 2.विरोधी दल,3. नियन्त्रक महालेखा परीक्षक

अभ्यास प्रश्न 2 अ.लघु-उत्तरीय प्रश्न के लिए देखिए- 1-2.5, 2-2.6, 3-2.8.1

14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सुन्दरम, के0पी0 (1990), भारतीय लोक वित्त एवं वित्तीय प्रशासन, सुल्तान चन्द एण्ड संस, नई दिल्ली।

कौर, इन्द्रजीत (2000) लोक प्रशासन, एस बी पीडी पब्लिशिंग हाउस, आगरा उ0 प्र0।

अवस्थी, ए0 पी0,(2000) वित्त प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा उ0 प्र0।

लाल, एस0 एन0 (2010) भारतीय अर्थव्यवस्था, शिवम पब्लिशर्स, इलाहाबाद।

दुबे, रमेश, शर्मा, हरिश्चन्द्र (1998) भारत में लोक प्रशासन कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।

14.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

भार्गव, आर० एन० (1980), भारतीय लोक वित्त, बी० डी० भार्गव एंड सन्स चदौसी।
लाल, जी० एस० (1982), भारत में लोक वित्त तथा वित्तीय प्रशासन, एच० पी० कपूर नई दिल्ली।
थावराज, एम० जे० के० (1982), भारत का वित्तीय प्रशासन सुल्तान चन्द एण्ड संस नई दिल्ली।
शर्मा, के० के० (2000) फाइनेन्सियल एंड मिनिस्ट्रेशन इन गर्वनमेन्ट, विकास पब्लिशिंग हाउस।

14.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वित्त पर नियंत्रण में वित्तीय समितियों की भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. अनुमान समिति के प्रमुख कार्यों एवं भूमिका को बताइए।
3. लोक उपक्रम समिति की कार्यप्रणाली का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 15 लेखांकन, लेखा परीक्षण

इकाई की संरचना

- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 उद्देश्य
- 15.3 लेखांकन: अर्थ और महत्व
 - 15.3.1 लेखांकन के तत्व एवं लेखा पद्धतियाँ
 - 15.3. भारतीय लोक लेखा व्यवस्था एवं लेखा पद्धति के चरण
- 15.4 लेखा परीक्षण: अर्थ एवं महत्व
 - 15.4.1 लेखा परीक्षक की विधियाँ एवं लेखा परीक्षण प्रक्रिया
 - 15.4.1.1 वित्तीय लेखा परीक्षण
 - 15.4.1.2 नियमितता लेखा परीक्षण
 - 15.4.1.3 राजस्व/आय वसूली लेखा परीक्षण
 - 15.4.1.4 निष्पादन लेखा परीक्षण
 - 15.4.1.5 लेखा परीक्षण का आलोचनात्मक मूल्यांकन
 - 15.4.1.6 लोक परीक्षण एवं लेखांकन का पृथक्करण
- 15.5 सांराश
- 15.6 शब्दावली
- 15.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 15.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 15.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 15.10 निबन्धात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

जब भी हम किसी संस्था, संगठन या सरकार की गतिविधियों की बात करते हैं, तो एक सवाल जरूर उठता है—इन सबका हिसाब-किताब कैसे रखा जाता है? यही काम करता है लेखांकन (Accounting)। यह केवल अंकों और खातों तक सीमित नहीं है, बल्कि पूरे आर्थिक ढांचे की रीढ़ है। लेखांकन हमें बताता है कि संसाधनों का उपयोग कैसे हुआ, आय-व्यय की स्थिति क्या है और भविष्य की योजना बनाने के लिए किन तथ्यों पर ध्यान देना जरूरी है।

लेकिन सोचिए, अगर सिर्फ लेखा-जोखा दर्ज हो जाए और उसकी जाँच न हो तो? यहाँ आता है लेखा परीक्षण (Auditing)। लेखा परीक्षण यह सुनिश्चित करता है कि जो कुछ भी लिखा गया है, वह सही है, प्रमाणिक है और उस पर भरोसा किया जा सकता है।

इस इकाई के माध्यम से शिक्षार्थी सबसे पहले लेखांकन का अर्थ और उसका महत्व समझेंगे। इसके बाद वे जानेंगे कि लेखांकन किन-किन तत्वों और लेखा पद्धतियों पर आधारित होता है। आगे बढ़ते हुए हम भारतीय लोक लेखा व्यवस्था पर नज़र डालेंगे और देखेंगे कि हमारे देश में लेखा पद्धति किन-किन चरणों से होकर गुजरती है। अंत में, इकाई उन्हें लेखा परीक्षण का अर्थ और महत्व भी स्पष्ट करेगी।

इस तरह यह इकाई शिक्षार्थियों को लेखांकन और लेखा परीक्षण की बुनियादी समझ ही नहीं देगी, बल्कि यह भी बताएगी कि ये दोनों मिलकर पारदर्शिता और उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने में कितने आवश्यक हैं।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

1. लेखांकन का अर्थ, महत्व एवं इसकी विशेषताएं को जान सकेंगे।
2. लेखांकन के तत्व एवं लेखा पद्धतियाँ का वर्णन कर सकेंगे।
3. लेखांकन से होने वाले लाभ एवं हानि और प्रशासन में इसकी उपयोगिता।
4. भारतीय लोक लेखा व्यवस्था को जान सकेंगे।
5. लेखा परीक्षण अर्थ, महत्व, विधियों एवं लेखा परीक्षण प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे।
6. लेखांकन एवं लेखा परीक्षण में अन्तर उसके लाभ हानि और प्रशासन में इसकी उपयोगिता को जान पायेंगे।

15.3 लेखांकन: अर्थ और महत्व

लेखांकन का अभिप्राय है सभी प्रकार के वित्तीय लेन-देन का सुव्यवस्थित एवं लिखित रूप से हिसाब रखना है कि लोक धन का उपयोग संसद या विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत बजट के अनुसार हुआ है या नहीं।

किसी देश के कुशल और सुदृढ़ वित्तीय प्रशासन के लिए तथा सार्वजनिक धन के दुरुपयोग को दूर करने हेतु लेखांकन का होना अनिवार्य है, क्योंकि इसी आधार पर वह उनका लेखा परीक्षण करता है। वित्तीय प्रशासन के अध्ययन क्षेत्र में सार्वजनिक कोषों के एकत्रीकरण से लेकर उन्हें सुनिश्चित नीतियों के अन्तर्गत व्यय करने सम्बन्धी प्रशासनिक क्रियाओं को शामिल किया जाता है। लोक व्यय को सुनिश्चित नीतियों के अंतर्गत व्यय करने की जानकारी आमजन तथा उनके चुने प्रतिनिधियों को नियमित रूप से प्राप्त होते रहना जरूरी है। इसी कारण हर देश की सरकार को लोक लेखा की

व्यवस्था करनी पड़ती है, और साथ ही इस बात का ध्यान रखा जाता है कि लोक कोषों में जो भी धनराशि खर्च की जाए वह कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हो ताकि काषों का दुरुपयोग न हो। लेखा एक कार्यकारी प्रकृति कार्य है जो कि कार्यपालिका के द्वारा रखा जाता है। प्रो० के० एस० लाल के शब्दों में “पूर्णतया एवं आंशिक रूप से वित्तीय प्रकृति के लेन-देन अथवा सौदों का वित्त के आधार पर विवरण रखना, वर्गीकरण करना और संक्षेपीकरण करना तथा उनके परिणामों की व्याख्या करना ही लेखांकन है।” प्रो० एम० पी० शर्मा के अनुसार “वित्तीय लेन-देन की नियमित लिखित सूची या प्रपत्र को ही लेखा कहते हैं, चाहे ये लेन-देन सरकारी हो अथवा निजी इस प्रकार सार रूप में कहे तो लेखांकन में वित्तीय प्रकृति के लेन-देन का संग्रहण, अभिलेखन, वर्गीकरण तथा संक्षेपीकरण की प्रक्रिया को अपनाया जाता है जिससे कोषों पर लेन-देन करने वाले लोगों की विश्वसनीयता सुनिश्चित हो सके। नीति-निर्माण तथा प्रशासनिक उद्देश्यों से वित्तीय हालातों तथा परिचालन से सम्बन्धित सूचनाएँ प्रदान हो सके जिसके आधार पर बजटीय प्रावधानों के अनुरूप व्यय की सीमाएँ निर्धारित की जा सकें।

लोक धन के लेखांकन की आवश्यकता निम्नांकित कारणों से है:-

1. बजट निर्माण की प्रक्रिया को सुनिश्चित करने हेतु एक व्यवस्थित लेखा का होना जरूरी है।
2. लेखांकन के द्वारा प्राप्त आंकड़ों व सूचनाओं के आधार पर देश के लिए नीतियों का निर्धारण सरल हो जाता है साथ ही उनको क्रियान्वयन आसान हो जाता है।
3. राष्ट्र के वित्तीय मानचित्र का वर्णन संकलित आँकड़ों द्वारा होता है जिसकी स्पष्ट जानकारी लोक लेखे के द्वारा ही प्राप्त होती है।
4. लेखांकन के द्वारा उत्तरदायित्वों का निष्पादन सरल हो जाता है और इस बात की जानकारी आसान हो जाती है कि किस कार्य के लिए कौन अधिकारी उत्तरदायी है।
5. लेखांकन के द्वारा प्राप्त आँकड़ों के आधार पर विभिन्न प्रकार की नीतियों कार्यक्रमों और परियोजनाओं का मूल्यांकन सरलता से किया जाता है।
6. लेखांकन के इस बात की जानकारी उपलब्ध करता है कि सार्वजनिक धन का उपयोग संसद विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत प्रावधान के अनुसार हुआ कि नहीं। इस सन्दर्भ में बजट में जो प्रावधान हुआ या उसका उल्लंघन तो नहीं किया गया।
7. लेखांकन सरकार के आन्तरिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है। जिसके माध्यम से सरकार अपने व्यय का अपनी सीमा के अन्दर स्वतः समायोजन करती है।

15.3.1 लेखांकन के तत्व एवं लेखा पद्धतियाँ

लेखा अभिकरण का प्रमुख कर्तव्य होता है कि लोक लेखों में बजट प्रावधानों के अनुरूप खर्च की जानकारी तथा वित्त विधेयक के प्रावधानों के अनुसार आय एकत्रीकरण की प्रक्रिया की जानकारी उपलब्ध होनी चाहिए। इस लिए लोक लेखों को उन्ही ‘शीर्षों’ तथा उप-शीर्षों में तैयार किया जाता है जो बजट में शामिल किए जाते हैं। लोक-लेखों का प्रारूप नियन्त्रक महालेखा परीक्षक द्वारा स्वीकृत

प्रारूप के अनुरूप होता है। लोक लेखों में समाज के अलग अलग वर्गों की भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से रूचि बनी रहती है। अतः एक अच्छे सशक्त लोक लेखांकन में निम्नांकित आवश्यक तत्व / विशेषताएं होनी चाहिए -

1. लेखों की केन्द्रीकृत प्रणाली होनी चाहिए और सभी प्रकार के वित्तीय लेखों को तैयार करने, उनका पर्ववेक्षण करने का अन्तिम उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति या संस्था के पास होना चाहिए, ताकि ठीक समय पर लेखा को तैयार होना सुनिश्चित रहे।
 2. सरकारी कोषों को वर्गीकृत रूप में दिखाया जाना चाहिए। इसमें पूँजीगत लेखा तथा राजस्व लेखा आर्थिक लेखा तथा कार्यात्मक लेखा आदि को आवश्यकतानुसार निरूपित किया जाना चाहिए, ताकि अर्थव्यवस्था की स्थिति के बारे में वास्तविक जानकारी विभिन्न आयामों से प्राप्त की जा सके।
 3. लेखांकन कार्य दोहरा लेखा प्रणाली पर आधारित होना चाहिए ताकि त्रुटि की सम्भावना को टाला जा सके और जान कर की कई त्रुटियों को प्रकाश में लाया जा सके।
 4. लोक लेखों की तैयारी बजट नियन्त्रण के उपागमों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। इसमें सरकारी प्राप्ति, ऋणों, विनियोजनों से सम्बन्धित प्रविष्टियाँ व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत की जानी चाहिए।
 5. निष्पादन बजट प्रणाली की आवश्यकताओं को देखते हुए सरकारी व्यय को कार्यक्रमों, उद्देश्यों तथा कार्यों के आधार पर विभक्त करके प्रस्तुत किया जाना चाहिए।
 6. सभी गैर राजस्व वाली मदों को राजस्व मदों से बाहर रखना चाहिए। राजस्वों के स्रोत तथा निधि के जरिए वर्गीकृत करना चाहिए और ऐसा मानकीकृत वर्गीकरण के अनुसार होना चाहिए।
 7. लेखांकन नियमित एवं वार्षिक आधार पर होना चाहिए। उपरोक्त बातों के ध्यान में रखकर तैयार किए जाने वाले मात्र राजनीतिक आवश्यकताओं के प्रतीक मात्र नहीं होते, बल्कि इनकी कार्यात्मक उपयोगिता होती है और सरकार के सभी विभागों की वित्तीय तस्वीर स्पष्ट करते हैं।
- लोक लेखों को लेखा पद्धतियों के आधार पर निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है

1. नगद लेखा पद्धति

इस पद्धति में लेखा आय व्यय का विवरण तब ही लिखा जाता है जब नकदी प्राप्त हुई हो अथवा दी गई हो। यह लेखा पद्धति लागत आधारित बजट व्यवस्था के अनुरूप है, क्योंकि इससे किसी वित्तीय वर्ष के सन्दर्भ में ही वास्तविक सेवा लागतों का आकलन करना सम्भव होता है। इस पद्धति की सबसे बड़ी कमी यह है कि सरकार की आर्थिक स्थिति के बारे में सिर्फ उतनी ही जानकारी देती है जितना कि एक व्यक्ति का बैंक कोष उसकी क्षमता का प्रतिबिम्ब करता है।

2. लागत लेखा पद्धति

यह लेखा की वह पद्धति है जिसमें लागतों को विभिन्न गतिविधियों में विभागानुसार आबंटित किया जाता है। सरकार के विविध क्रियाकलापों को चलाने एवं उन्हें चालू हालत में रखने की लागतों का पता देती है। यह सरकार के उत्पादक अंगों के सन्दर्भ में अधिक उपयोगी होती है। भारत में केन्द्र और राज्य सरकारों के लेखा उन्ही शीर्षकों और उपशीर्षकों के अर्न्तगत रखे जाते हैं जिसके अर्न्तगत बजट के विविध मद सरकारी लेखा को प्राप्ति एवं परिव्यय के आधार पर बनाया जाता है।

इस प्रकार इस पद्धति का प्रयोग बजट प्रावधानों में समाहित व्यावसायिक आधार पर सरकार द्वारा संचालित व्यक्तिगत इकाईयों की उपादेयता की जाँच तक ही सीमित रहता है। परन्तु सरकार द्वारा लेखे ऐसे तैयार कराए जाते हैं कि वह देखने में स्पष्ट हो तथा समझने में सरल हो इस रूप में यह तीन प्रकार के होते हैं-

नियन्त्रण लेखे- यह लेखे प्रशासनिक अधिकारियों की विश्वसनीयता की जाँच के लिए तैयार होते हैं। इसमें लोक राजस्व के एककीकरण सुरक्षित संचय वाले अधिकारियों के सन्दर्भ में सरकार द्वारा राजस्व लेखे तथा निधि लेखे तैयार किए जाते हैं। राजस्व लेखे में आय की विभिन्न आगम को दिखाते हैं। विनियोजन लेखे में व्यय को शीर्षों और उपशीर्षों के अन्तर्गत दिखाते हैं। जबकि निधि लेखे में सामान्य निधि, विशिष्ट राजस्व तथा व्यय कोष, ऋण निधि, स्थायी अनुदान निधि परिवर्तनीय निधि, लोक न्याय निधि और अस्थायी निधि शीर्षों के अन्तर्गत सूचनाएं एकत्रित की जाती हैं।

प्रशासनिक आन्तरिक सुविधा लेखे-इन्हे प्रोप्राइटी लेखे कहते हैं जो सरकार की सुविधा के लिए उसकी आगम तथा व्यय की सतत जानकारी को प्राप्त करने के लिए तैयार होते हैं।

विस्तृत पूरक लेखे-आमजन को सरकार के दायित्वों तथा परिसम्पतियों एवं आय-व्यय की नियमित एवं स्पष्ट जानकारी देने हेतु पूरक रूप में सरकार द्वारा यह लेखे प्रतिवर्ष या दो वर्ष के अन्तराल पर जारी किये जाते हैं।

15.3.3 भारतीय लोक लेखा व्यवस्था एवं लेखा पद्धति के चरण

भारत राज्यों का संघ होने के कारण राज्य एवं संघ दोनों स्तरों पर लोक लेखों की प्रबन्ध व्यवस्था का संवैधानिक प्रावधान किया गया है। यहां कार्यपालिका को लेखांकन कार्य से अलग रख कर नियन्त्रक महालेखा परीक्षक को एक स्वतन्त्र संवैधानिक इकाई के रूप में इस कार्य की जिम्मेदारी सौंपी गई है। प्रत्येक राज्य में नियुक्त महालेखाकार लेखों को तैयार करने में नियंत्रक महालेखा परीक्षक को सहायता प्रदान करते हैं। जहाँ केन्द्र एवं राज्य दानो सरकारों के आय-व्यय का हिसाब रखा जाता है। केवल रेलवे के लेखों का प्रबन्ध इसका वित्त आयुक्त एवं रक्षा मंत्रालय के लेखों का कार्य सेना के महालेखाकार या वित्त मन्त्रालय द्वारा प्रतिनियुक्त वित्तीय सलाहकार द्वारा सम्पाति किया जाता है।

नियंत्रक महालेखा परीक्षक भारत के राजस्व और पूंजी खाते को राष्ट्रपति के निर्देशानुसार तैयार करता है। वह सरकार के किसी भी अधिकारी से इन खातों को तैयार करने में जरूरी किसी सूचना के लिए जानकारी ले सकता है। महालेखा परीक्षक को यह पूर्ण अधिकार है कि वह लेखा परीक्षक कार्यालय में रखे जाने वाले खातों के रूप के सन्दर्भ में निर्देश जारी करें। लेकिन इसके बारे में राष्ट्रपति की मंजूरी आवश्यक है जो पूंजी और राजस्व खाते के रूप को प्रभावित करें। यदि किसी बड़े मद के अन्तर्गत किसी छोटे मद को शामिल किये जाने के विषय में कोई विवाद अथवा शंका उठ खड़ी होती है तो नियंत्रक महालेखा परीक्षक का निर्णय अन्तिम होगा। महालेखा परीक्षक का यह अधिकार होता है कि वह उस रूप को निर्धारित करे जिसके अनुसार लेखा-परीक्षा विभाग के समक्ष

खाता प्रस्तुत करने वाले अधिकारी अपना कार्य सम्पादित करे। महालेखा परीक्षक को इस कार्य के सम्पादन हेतु अपने अधिनस्थ ऐसे अधिकारियों की व्यवस्था करनी पड़ती है जो सरकार अथवा राष्ट्रपति को अपेक्षित जानकारी दे सके और इन सूचनाओं की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए कि महालेखा परीक्षक के नियंत्रण के अन्तर्गत रखे गए खातों में से उन्हें प्राप्त किया जा सके।

लेखा पद्धति के चरण

भारत में लेखा पद्धति की प्रक्रिया निम्न चरणों में होती है:- भारत में प्रारम्भिक लेखा का कार्य जिला स्तर पर स्थापित राज्य कोष द्वारा किया जाता है, जहाँ विजिय लेन-देन का प्रारम्भिक कार्य होता है। जिला राजकोष द्वारा प्रत्येक माह में दो बार अपने प्राप्तियों तथा भुगतान के लेखे प्रमाणकों के साथ महालेखाकार के दफ्तर में पहुंचाये जाते हैं।

चरण -- भारतीय लेखा पद्धति के कार्यकरण

1. जिला राजकोष में वित्तीय लेन देन का लेखा
 2. महालेखाकार कार्यालय में लेखा एवं वर्गीकृत करना
 3. अंकेषकों द्वारा लेखों का अंकेक्षण
 4. महालेखा परीक्षक द्वारा वार्षिक आधार पर लेखों को तैयार करना
 6. लेखों को अंकेक्षण प्रतिवेदन के साथ राष्ट्रपति/राज्यपाल को सौपना
 7. राष्ट्रपति/राज्यपाल द्वारा बजट अधिवेशन के समय प्रस्तुत करवाना
- महालेखाकार के कार्यालय में राज्य के विभिन्न राजकोषों, भारतीय रिजर्व बैंक की तथा स्टेट बैंक अथवा उनकी शाखाओं से प्राप्त लेखों का संकलन तथा वर्गीकरण किया जाता है। सभी प्रकार की आमदनियों तथा भुगतानों को निम्नांकित चार शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है –
1. राजस्व लेखे
 2. पूँजी लेखे
 3. ऋण लेखे
 4. अवशिष्ट लेखे ।

ये सूचना प्रति माह पूर्व माह के सन्दर्भ में तैयार कर ली जाती है। ससंद द्वारा स्वीकृत विनियोजन तथा वित्त विधेयक की मदों के अनुकूल अन्तिम रूप से लोक लेखे तैयार हो इस परिप्रेक्ष्य में लेखा तैयार करते समय सम्बन्धित प्राप्तियों तथा व्ययों को मुख्य शीर्षों, सूक्ष्म शीर्षों तथा उप-शीर्षों में विभाजित करके दिखाते हैं। राजस्व मदों को रोमन लिपि प् प् प् प् प् आदि में तथा व्यय मदों को अरबी लिपि 1, 2, 3, 4 आदि में दर्शाया जाता है।

वार्षिक आधार पर महालेखाकार लेखा एकीकरण करता है और एकीकरण के बाद महालेखाकार द्वारा लेखों को नियंत्रक महालेखा परीक्षक के समक्ष प्रस्तुत करता है जहाँ नियंत्रक महालेखा परीक्षक लेखा लेखाधिकारियों की सहायता से इसका परीक्षण करता है जो लेखा को तीन शीर्षकों-

1. विनियोजन
2. वित्त लेखे तथा
3. सम्मिलित वित्तीय लेखा के अन्तर्गत तैयार करवाता है।

नियंत्रक महालेखा परीक्षक लेखा का परीक्षण करके अपने प्रतिवेदन तैयार करता है और राष्ट्रपति/राज्यपाल को प्रत्येक वर्ष के जनवरी-फरवरी माह में पेश करता है। राष्ट्रपति/राज्यपाल इसे बजट अधिवेशन के दौरान संसद विधानसभाओं में प्रस्तुत करने के वैधानिक दायित्व का निर्वाह करते हैं।

अभ्यास प्रश्न 1

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. नकद लेखा पद्धति क्या है ?
2. लोक लेखा की प्रमुख विशेषताओं को समझाइए ?
3. नियंत्रक महालेखा परीक्षक किन शीर्षको के अर्न्तगत लेखा तैयार करता है ?

15.4 लेखा परीक्षण: अर्थ एवं महत्व

ब्रिटेन ही ऐसा सर्वप्रथम देश था जिसने सार्वजनिक लेखाओं के लेखा-परीक्षण की विधि का विकास किया था। यह लोक वित्त पर संसदीय नियन्त्रण का अपरिहार्य अंग है। लेन-देन के पूर्ण होने के पश्चात् लेखाओं की जाँच तथा परीक्षण ही लेखा परीक्षण कहलाता है। इस जाँच का उद्देश्य किसी भी अनाधिकृत, अवैध या अनियमित व्ययों, दोषपूर्ण वित्तीय कार्य विधियों की खोज तथा विधानमंडल को तत्सम्बन्धी सूचना देना एवं पता लगाना होता है कि प्रशासनने अपने उत्तरदायित्व को सच्चाई के साथ पूरा किया है या नहीं। लेखा परीक्षण अधिकारी कार्यपालिका से स्वतन्त्र, परन्तु व्यवस्थापिका के अधिकर्ता के रूप में कार्य करता है। इस का कार्य एक जासूस के समान सम्पन्न किये गये वित्तीय लेन-देन एवं यह खोजना है कहाँ तक प्रशासन ने अपने उत्तरदायित्व को एकनिष्ठा और सच्चाई के साथ परिपूर्ण किया है।“

लेखा परीक्षण लेखा प्रतिवेदन की ऐसी जाँच पड़ताल है जो यह सुनिश्चित करने के लिए की जाती है कि प्रतिवेदन पूर्णतया एवं सत्य रूप से उन सभी सौदों को प्रतिबिंबित करता है, जिसे वह सम्बन्धित है। इसका मुख्य उद्देश्य यह जाँचना होता है कि किए गये व्यय के लिए सम्बन्धित अधिकारी से स्वीकृति ले ली गयी है या नहीं और धन उन्ही कार्यों पर व्यय किया गया या नहीं जिस सन्दर्भ में स्वीकृति प्रदान की गई थी इसी परिप्रेक्ष्य में लेखा परीक्षण को लोकतन्त्र का पाँचवा स्तम्भ कहा जाने लगा है। ये सतम्भ है (1) कार्यपालिका, (2) न्यायपालिका, (3) व्यवस्थापिका (4) मीडिया, तथा (5) लेखा परीक्षण। पहला स्तम्भ कार्यपालिका लोकतन्त्र का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है जो जनता द्वारा चुने प्रतिनिधियों द्वारा गठित होती है। वही संसद में सभी प्रकार के कानूनों को बनाती है और प्रशासन चलाने के लिए राजस्व के एकत्रीकरण एवं विनियोजन के नियम स्वीकृत करती है। व्यवस्थापिका इसके एकत्रीकरण एवं विनियोजन को मूर्त रूप प्रदान करती है। न्यायपालिका और मीडिया एक स्वस्थ लोकतंत्र के संचालन के लिए आवश्यक है। लेखा परीक्षण संसद की वरिष्ठता

को सुनिश्चित करता है कि निर्धारित राशि का व्यय उन्ही उद्देश्यों एवं उसी अधिकारी की सहमति से व्यय करे जिसकी सहमति एवं उद्देश्य के लिए संसद ने स्वीकृति दी है।

लेखा परीक्षण प्रशासन को मूल्य प्रदान करता है। सभी देशों में लेखा परीक्षण को एक आवश्यक बुराई न मानकर एक अच्छे सथी के रूप में कार्यविधि विषयक एवं तकनीकी अनियमितियों तथा व्यक्तियों के दोषों को सामने लाता है चाहे वे मूल्यांकन से जुड़ी त्रुटियाँ हों या असावधानियाँ अथवा कपट के इरादे से किए गये कार्य हैं। अन्तिम विश्लेषण के रूप में कहे तो लेखा-परीक्षण की निम्न महत्ता सार्वभौमिक है:-

- (1) इसके द्वारा यह पता लगाया जाता है कि व्यय निर्धारण सीमा से अधिक तो नहीं हुआ है।
- (2) धन का व्यय नियमानुसार हुआ है या नहीं।
- (3) धनराशि के व्यय करने के पूर्व समस्त कानूनी एवं वित्तीय नियमों का पालन किया गया है या नहीं।
- (4) धन के व्यय करने के प्रावधान को ध्यान रखना चाहिए।
- (5) इसका उद्देश्य फिजूलखर्ची एवं अपव्यय को रोकना तथा नियंत्रित करना है।

15.4.1 लेखा परीक्षक की विधियाँ एवं लेखा परीक्षण प्रक्रिया

लोक लेखों की सत्यता तथा राजकीय लेन-देनों की वैधानिकता की जाँच के लिए लेखा परीक्षण की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रक्रिया से यह जानकारी प्राप्त की जाती है कि क्या लोक व्यय स्थापित विधियों तथा नियन्त्रक के अनुरूप हुआ है। व्यवस्थापिका द्वारा पारित विनियोजक विधेयक के अनुसार किया है, इस हेतु आवश्यक प्रशासनिक स्वीकृति ली गई और वित्तीय विवेक की मान्य धारणाओं का अनुपालन हुआ है। इस व्यापक कार्य को पूरा करने में अलग-अलग मंत्रालयों में स्थित लेखाअधिकारी तथा अलग-अलग राज्यों में कार्य कर रहे मुख्य लेख अधिकारी नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की सहायता करते हैं। इस हेतु उपयोगी विभिन्न लेखा परीक्षण की विधियाँ निम्न हैं:-

15.4.1.1 वित्तीय लेखा परीक्षण

वित्तीय लेखा परीक्षण वी लेखा परीक्षण है जिसमें भारतीय लेखा परीक्षण एवं लेखा कार्य विभाग यह सुनिश्चित करता है कि प्रशासनिक कार्य केवल निर्धारित कानून, वित्तीय नियमों एवं प्रक्रियाओं के अनुरूप ही नहीं हो बल्कि विधि सम्मत हो और कोई अपव्यय न हो। जब किसी प्रशासनिक कार्य का परिणाम क्षय, अपव्यय अथवा अनुचित व्यय होता है तो लेखापरीक्षक का यह कर्तव्य होता है कि इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान दे तथा संसद के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत करें। जैसे किसी सिंचाई परियोजना में लेखा परीक्षण का वास्तविक निर्माण के प्रशासनिक ढाँचे से कोई सम्बन्ध नहीं होता न

ही इसके क्षेत्र से गुजरने से जो प्रशासनिक मामले हैं। लेखा परीक्षक प्रशासनिक तथ्यों की जाँच नहीं करता हव देखता है कि परियोजना का रेखांकन अपर्याप्त आँकड़ों के आधार पर किया गया जिस के कारण परियोजना में परिवर्तन करने पड़े और अतिरिक्त व्यय करना पड़ा तथा वित्तीय परिणाम आशा के अनुरूप नहीं मिल पाता लेखा परीक्षक गलत रेखांकन के कारण राजस्व क्षय को संसद के सम्मुख लाकर करदाताओं के हितों की रक्षा करता है। गम्भीर वित्तीय अनियमित और निर्धारित कानून एवं वित्तीय व्यवस्था तथा नियमों के अनुरूप कार्य पूर्ण न होने पर लेखा परीक्षक हस्तक्षेप करता है। इस लेखा परीक्षण में परम्परागत वित्तीय नियमों के व्यापक सिद्धान्तों का लेखा परीक्षण भी शामिल है।

15.4.1.2 नियमितता लेखा परीक्षण

नियमितता लेखा परीक्षण का मुख्य ध्येय यह सुनिश्चित करना है कि सभी व्यय संविधान में दिए गये प्रसंगोचित प्रशासनिक वित्तीय बजट सम्बन्धी एवं लेखा पद्धति संबंधी व्यवस्थाओं एवं नियमों तथा संसद द्वारा बनाए गए कानूनों के अनुरूप है। नियमितता लेखा परीक्षण यह सुनिश्चित करता है कि लोक व्यय के लिए निधि का प्रावधान है जो सन्दर्भित अधिकारी द्वारा अधिकृत है। लोक व्यय विधिक प्रावधानों द्वारा व्यय के लिए अधिकृत अधिकारी के अनुमति से किया गया। इस सन्दर्भ में भुगतान की माँग नियमों के अनुसार तथा उचित रूप में की गई है। लोक व्यय हेतु आवश्यक सभी प्रारम्भिक आवश्यकता अनुमान, स्वीकृति आदि को पूरा करके ही व्यय किया गया। व्यय जिस अवधि में व्यय के लिए स्वीकृत प्राप्त हो उसके पश्चात बिना नई स्वीकृति के न किया जाए। भुगतान करने वाले अधिकारी को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए की इस सन्दर्भ में नियमों का पालन किया जा रहा है। भुगतान की प्रमाणिकता को देखना चाहिए दोहरापन न हो ऐसी व्यवस्था बनें। समस्त भुगतानों का मूल लेख पत्र सही सही नामांकित होना चाहिए। समस्त व्यय उन्हीं कार्यों में हो जिसके लिए निर्धारित है एवं व्यय विनियोजित धनराशि से अधिक न हो। इस प्रकार लोक व्यय का नियमितता लेखा परीक्षण एक अर्द्धन्यायिक प्रकृति का कार्य है जो लेखा परीक्षण अधिकारी द्वारा किया जाता है। इसमें नियमों आदेशों तथा संविधान की व्याख्या करना सम्मिलित है।

15.4.1.3 राजस्व/आय वसूली लेखा परीक्षण

राजस्व/आय वसूली लेखा परीक्षण केन्द्रीय एवं राज्य स्तर पर आगम (उत्पाद कर, निगमकर, आय कर, बिक्री कर आदि) की वसूली के लिए होता है। इस लेखा परीक्षण में लेखा परीक्षक का कार्य यह सुनिश्चित करता है कि इन आगमों की वसूली के लिए पर्याप्त नियमों एवं प्रक्रियाओं का गठन कर लिया गया है तथा राजस्व विभाग उनका पालन कर रहा है। यह कार्य कर निर्धारण, कर वसूली तथा राजस्व के अचित आबंटन पर प्रभावशाली नियंत्रक रखने के लिए आवश्यक है।

15.4.1.4 निष्पादन लेखा परीक्षण

किसी भी व्यय के सन्दर्भ में लेखा परीक्षण की पूर्णतया बिना उसके निष्पादन के मुल्यांकन के अपर्याप्त है। स्वतंत्रता के बाद सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से विकास एवं सामाजिक उन्नति के लिए भारी पूँजी निवेश किया है। जिसका लाभ आशा के अनुरूप है या नहीं यह जनता को

जानने का अधिकार है। इसी परिप्रेक्ष्य में निष्पादन बजट की व्यवस्था आरम्भ की गई। तद्अनुरूप पिछले कुछ समय से व्यय को वास्तविक परिणामों से जोड़ने की आवश्यकता ने सरकार को लेखा परीक्षण के कार्यों के बारे में पुनः सोचने पर बाध्य किया है कि नियमितता लेखा परीक्षण, वित्तीय लेखा परीक्षण एवं आय लेखा परीक्षण व्यय पर संसदीय नियंत्रण के लिए आवश्यक है। वही इन परियोजनाओं कार्यक्रमों तथा योजनाओं की उपलब्धियों का निरीक्षण परीक्षण करना चाहिए कि इनके परिणाम अनुकूलता से नीचे क्यों जा रहे हैं। फलस्वरूप निष्पादन अनुष्ठान या दक्षता लेखा परीक्षण का आवश्यकता उत्पन्न हो रही है।

निष्पादन लेखा परीक्षण यह बतता है कि साधनों का अनुकूलतम तरीके से विनियोजन कर उसका दक्षतापूर्ण उपयोग हुआ या नहीं। यह परियोजना के परिभाषित लाभों एवं साधनों के प्रयोग

उत्पादक उद्देश्य की किसी सीमा तक प्रयोग हुआ है इसकी जानकारी प्रदान करता है। इस लेखा परीक्षण का विषय क्षेत्र सीमित है। वर्तमान में सार्वजनिक उद्यमों में निष्पादन लेखा परीक्षण का उपयोग किया जा रहा है।

भारतीय लेखा परीक्षण और लेखा विभाग की स्थापना 1753 में हो गई थी परन्तु स्वतन्त्र भारत लेखा परीक्षण का प्रारम्भ 1919 में हुआ था। महालेखापरीक्षक भारत-सरकार के नियन्त्रण से मुक्त था। जिसकी नियुक्ति भारत सचिव द्वारा होती थी जो स्रमाट की इच्छा पर्यन्त अपने पद पर रहता था। गर्वनर जनरल की सपरिषद के माध्यम से भारत सचिव को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता था। भारत शासन अधिनियम 1935 के द्वारा उसके स्तर एवं महत्व में वृद्धि की गई जिसे संघीय न्यायालय के न्यायाधीश के समान पदच्युत करने की प्रक्रिया द्वारा उठाया जा सकता था। कार्यपालिका से उसकी स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने के सन्दर्भ में यह व्यवस्था की गई की सेवानिवृत्ति के बाद वह ब्रिटिश क्राउन के अधीन अन्य कोई पद ग्रहण नहीं करेगा।

1950 में संविधान लागू होने साथ भारत के महालेखा परीक्षक के पद का नाम बदलकर भारत का लेखा नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक कर दिया गया। सार्वजनिक कोषागार से धनराशि निकालने पर उसका नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया है, जो भारत के वित्तीय प्रशासन को लेखा नियंत्रक तथा महापरीक्षक की अविभाज्य सत्ता के अधीन कर दिया गया है। सामान्य रूप में भारत का लेखा नियन्त्रक तथा महापरीक्षक निम्न कार्य को पूर्ण करता है -

1. राजकोष तथा निगमों पर नियन्त्रण रखता है।
2. सरकार के विरुद्ध उत्पन्न होने वाले स्वत्वाधिकारों को निपटाना तथा समायोजित करना।
3. वह संघीय तथा राज्य सरकारों के उन समस्त आय-व्यय का लेखा परीक्षण करता है। जिनका सम्बन्ध आकस्मिकता निधि और सार्वजनिक लेखाओं से होता है।
4. वह सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त उपक्रमों, कम्पनियों एवं सांविधिक निगमों के लेखाओं का परीक्षण करता है।

5. संघीय एवं राज्यों के वार्षिक लेखाओं का संकलन करता है और अंकेक्षण प्रतिवेदन तैयार कर प्रस्तुत करता है।

6. पूरे वित्तीय प्रशासन पर विधायी नियन्त्रण की एक इकाई के रूप में काम करता है।

इस प्रकार लेखा नियन्त्रक तथा महापरीक्षक कार्यपालिका के वित्तीय मामलों का लेखा परीक्षण कर संघीय व्यवस्था का प्रतिवेदन राष्ट्रपति के माध्यम से संसद में और राज्यों का प्रतिवेदन राज्यपाल के माध्यम से विधानमंडल के समक्ष रखता है।

15.4.1.5 लेखा परीक्षण का आलोचनात्मक मूल्यांकन

भारतीय लेखा परीक्षण व्यवस्था एक प्रशासनिक कार्य के रूप में चलायमान है। नियंत्रक महालेखा परीक्षक संघ एवं राज्य के सन्दर्भ में अपना प्रतिवेदन संविधान के व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति तथा राज्यपाल को कार्यपालिका के प्रमुख कारण सौपता है जो इसे संसद एवं विधामंडल में प्रस्तुत करते हैं। इसी सन्दर्भ में पाँल एच0 ऐपल्बी लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के पद को समाप्त करने सम्बन्धी सिफारिश अपने भारतीय प्रशासन सम्बन्धी दूसरे प्रतिवेदन में करते हैं। उनके अनुसार लेखा नियंत्रक तथा महापरीक्षक का कार्य उपनिवेशिक शासन की विरासत है। भारतीय प्रशासन में निर्णय करने तथा कार्य करने के प्रति जो व्यापक एवं घावक अनिच्छा हमें दिखाई पड़ती है, इसका मुख्य कारण लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक है।

भारतीय संविधान नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक को यह आदेश देता है कि वह “यह सुनिश्चित करे कि लेखों में दिखायी गयी धन राशि वैधानिक रूप से जिस उद्देश्य के लिए निर्धारित की गई थी, उसी में उपयोग हुई, सही समय पर विनियोजन के लिए स्वीकृति ली गई” उक्त कथन भारत में लेखा परीक्षक के कार्य को कानूनी औपचारिकता तक ही सीमित कर देते हैं। व्यय के औचित्य के बारे में महालेखा परीक्षक को अपनी राय देने का कोई वैधानिक अधिकार नहीं देते। जिस कारण महालेखा परीक्षक सार्वजनिक व्यय में अपव्यय, अविवेक अथवा दुरुपयोग पर साफ-साफ परिलक्षित होने पर भी प्रतिवेदन में इस प्रकार कोई टिप्पणियाँ अपवादस्वरूप व्यक्त करता है।

भारत में लेखांकन एवं लेखा परीक्षण के कार्यों को राज्यों एवं संघीय लेखा एवं लेखा परीक्षण विभाग, पेन्शन से सम्बन्धित और केन्द्रशासित प्रदेशों के लिए पृथकता न पाया जाना हमारी व्यवस्था की एक बड़ी कमजोरी को दर्शाता है।

भारतीय लेखा परीक्षण की जो आलोचना की जाती है ब्रिटिश प्रशासन प्रणाली पर आधारित है, जिसमें महालेखा परीक्षक को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान है। लेखा परीक्षक देश के वित्त का प्रहरी होता है। साविधक लेखा परीक्षण हमारे संविधान के प्रमुख लक्षणों में है, और यह सरकार के उद्देश्यों में बाधक नहीं अपितु लोकतान्त्रिक सरकार के मूल आवश्यकताओं में से है। लेखा परीक्षक व्यय की दिशा में प्रवाहित होने वाले सार्वजनिक धन को एवं स्वस्थ अभिकरण प्रदान करता है, अतः इसे समाप्त या शिथिल नहीं किया जा सकता। अशोक चन्द्रा का कथन इस स्थान पर उद्धृत करना उचित ही होगा: “सभी मान्य प्रजातन्त्रों में लेखा-परीक्षण किसी आवश्यक बुराई के रूप में सहन नहीं किया जाता बल्कि एक मूल्यवान मित्र समझा जाता है। एक ऐसा मित्र जो व्यक्तियों की प्रक्रिया सम्बन्धी

गलतियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करता है, भले ही वे गलतियाँ निर्णय सम्बन्धी त्रुटियों, लापरवाही या बेईमानी के कार्यों अथवा अभिप्रायों से सम्बन्धित हों। दुर्भाग्य से भारत में पूरक सम्बन्धी इस अवधारणा का अभी विकसित होना शेष है। यहाँ तो लेखा परीक्षण को बाहरी कुछ असंगत तथा कुछ अवरोधक क्रिया समझा जाता है। इस प्रकार प्रशासकीय प्रणाली में लेखा परीक्षक के सुझावों को मानने में स्वाभाविक विरोध विकसित होने लगा है। यह प्रवृत्ति अभी हाल के वर्षों में अधिक विकसित हो गई है। वास्तव में स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा कल्याणकारी राज्य की अवधारण स्वीकार किए जाने के साथ ही उद्देश्य प्रयत्न तथा सफलता की आवश्यकता का विकास होना आवश्यक है.....। इस प्रकार लेखा-परीक्षण तथा प्रशासन के मध्य दृष्टिकोण के पुनर्वालोचन तथा सम्बन्धों के पुनर्संयोजन की आवश्यकता का सर्वाधिक महत्व बढ़ गया है।”

15.4.1.6 लोक परीक्षण एवं लेखांकन का पृथक्करण

भारत में 1976 तक लेखांकन तथा लेखा परीक्षण का कार्य एक ही संस्था नियन्त्रक तथा महालेखाकार कार्यालय के अधिकार में था तथा नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक दोनों कार्यों के लिए उत्तरदायी था लेकिन अन्य देशों में ये कार्य पृथक-पृथक पाये जाते हैं। भारत में प्रशासनिक सुधार से सम्बन्धित अनेक समितियों मुडीमैन समिति (1924), इंचकेप समिति (1923) साइमन समिति(1926) आदि ने लेखांकन और लेखापरीक्षण के पृथक्करण की सिफारिश की थी। स्वतन्त्र भारत के प्रथम नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक नरहरि राव ने भी इस संयुक्त प्रणाली की कटु आलोचना की थी। 30 प्र० विधान मण्डल के प्रथम अध्यक्ष श्री राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने 1952 में नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्यालय में गबन की घटना का उल्लेख करते हुए निम्न विचार व्यक्त किया कि जब एक ही कार्यालय हिसाब तैयार करता है और हिसाब की जाँच करने का कार्य भी करता है तो बेईमानी की काफी सम्भावना रहती है, क्योंकि ऐसा काम करने वाला व्यक्ति यह जानता है कि वह यदि किसी प्रकार गड़बड़ करेगा तो भी वह पकड़ा नहीं जायेगा क्योंकि अनन्त में उसे ही लेखा परीक्षण करनी है।” लोक लेखा समिति तथा लोक सेवा समिति ने भी दोनों के पृथक्करण की सिफारिश की। अतः उपरोक्त सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए 1976 में केन्द्र सरकार ने लेखांकन एवं लेखा परीक्षण को पृथक कर दिया तथा केन्द्र सरकार के स्तर पर नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक को लेखांकन के दायित्व से मुक्त कर दिया गया।

वस्तुतः लेखांकन एवं लेखा परीक्षण को पृथक करना वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र में एक तार्किक सुधार माना जाता है इसके पक्ष एवं विपक्ष में निम्नांकित तर्क दिए जाते हैं।

लेखांकन एवं लेखा परीक्षण से पृथक्करण के पक्ष में निम्नांकित तर्क दिये जाते हैं।

1. लेखा के कार्यों की प्रकृति कार्यकारी है। जबकि लेखा परीक्षण के कार्यों की प्रकृति अर्द्ध-विधायकीय है। इन दोनों कार्यों की प्रकृति में अन्तर होने के कारण इनको पृथक किया जाना उचित है।

2. वित्तीय प्रशासन के अनुशासन के लिए भी उचित नहीं दिखता, कि जो अधिकारी लेखा के लिए उत्तरदायी हो, स्वयं उसी के द्वारा लेखा परीक्षण किया जाए। अतः निष्पक्ष लेखा परीक्षण की प्रणाली को विकसित करने हेतु दोनों कार्यों को एक दूसरे से पृथक किया जाना चाहिए।

3. अगर दोनों कार्यों को एक अधिकारी के क्षेत्राधिकार में शामिल किया जाता है तो उसका कार्यभार अत्यधिक होता है परिणामस्वरूप वह लेखा परीक्षण जैसे गम्भीर अध्ययन एवं विश्लेषण-उन्मुखी कार्य की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाता। अतः पृथक्करण के आधार पर नियंत्रक व महालेखा परीक्षक अपना अधिकतम ध्यान लेखा परीक्षण पर दे सकता है।

4. नियंत्रक व महालेखा परीक्षक के पास कार्यभार अधिक होने के कारण लेखा को अंतिम रूप देने में अधिक समय लगता है जिससे लेखा परीक्षण के कार्य में भी अनावश्यक विलम्ब होता है।

5. नियंत्रक व महालेखा परीक्षण के द्वारा लेखा के कार्य सम्पन्न किये जाने के कारण संबंधित मंत्रालयों एवं विभागों को समय पर अपने वित्तीय लेन-देन की तात्कालिक जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में व्यय पर नियंत्रण रखना मंत्रालय के लिए कठिन हो जाता है। अतः अत्यधिक व्यय की सम्भावना को देखते हुए लेखांकन एवं लेखा परीक्षण का पृथक्करण किया जाना चाहिए और लेखांकन का कार्य संबंधित विभाग को सौंपा जाना चाहिए।

6. दोनों कार्यों का पृथक्करण होने के उपरान्त इनमें विशेषीकरण को प्राप्त करना अधिक संभव है।

लेखांकन एवं लेखा परीक्षण से पृथक्करण के विपक्ष में निम्नांकित तर्क दिये जाते हैं।

1. इंग्लैण्ड में लेखा एवं लेखा परीक्षण के कार्यों को अलग रखा गया है लेकिन वहां से भी अत्यधिक व्यय होने की सूचनाएं समय-समय पर प्राप्त होती रहती है। अर्थात् यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, कि पृथक्करण के माध्यम से अत्यधिक व्यय रोका जा सकता है। भारत में भी केन्द्र सरकार के स्तर पर पृथक्करण के उपरांत भी अत्यधिक व्यय की शिकायतें मिलती रही हैं।

2. मंत्रालय के कार्यभार को उनके मौलिक उद्देश्यों तक सीमित रखने हेतु भी यह आवश्यक है कि लेखा एवं लेखा परीक्षण का पृथक्करण किया जाये।

3. लेखा एवं लेखा परीक्षण के पृथक्करण की प्रक्रिया में अधिक वित्तीय एवं मानवीय संसाधनों की आवश्यकता होगी अर्थात् पृथक्करण से व्यय में वृद्धि एवं मानव शक्ति का पूर्ण उपयोग नहीं।

4. पृथक्करण के पश्चात लेखा कर्मचारी राज्य सरकारों के नियंत्रण के अन्तर्गत आ जायेंगे। ऐसी अवस्था में वे कार्यपालिका की आलोचना करने तथा अति व्यय को रोकने में कम स्वतंत्र होंगे।

5. अलग-अलग विभागों द्वारा लेखांकन कार्य सम्पन्न होने से लेखाओं के संकलन में अत्यधिक विलम्ब होगा। वर्तमान प्रणाली में नियंत्रक व महालेखा परीक्षक के कार्यालय में संकलन अविलम्ब किया जा सकता है।

6. इस बात की कोई गारण्टी नहीं कि दोनों को पृथक कर देने से बेहतर परिणाम आयेगे, क्योंकि प्रतिरक्षा एवं रेलवे विभागों में काफी दिनों से लेखांकन का उत्तरदायित्व विभागों को सौंपा गया है

लेकिन न तो अधिक कार्यकुशलता का कोई संकेत मिला है और न ही बजट पर प्रभावशाली नियंत्रण कायम हुआ है।

7. लेखा परीक्षण की वास्तविकता को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि नियंत्रक व महालेखा परीक्षक का नियंत्रण लेखा पर भी होना चाहिए, क्योंकि अंततः ये दोनों कार्य भिन्न होते हैं हुए भी परस्पर निर्भर हैं।

8. वर्तमान प्रणाली ने राज्य सरकार के स्तर पर समय की मांग को पूरा किया है अतः इसमें कोई मौलिक परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने भारत में लेखा एवं लेखा परीक्षण के कार्य को पृथक करने का सुझाव दिया। केन्द्र सरकार के स्तर पर इस सुझाव को व्यावहारिक रूप भी दिया गया एवं राज्य सरकारों से यह अपेक्षा की गई, कि वे अपनी सुविधानुसार पृथक्करण की दिशा में प्रयास कर सकती हैं लेकिन अत्यधिक व्यय की संभावना के कारण राज्य सरकारों इस दिशा में कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठा पा रही हैं।

अभ्यास प्रश्न 2

1. रिक्त स्थान भरिए

अ-----भारतीय लेखा परीक्षण और लेखा विभाग की स्थापना में की गई।

ब-----एवं राज्य के सन्दर्भ में अपना प्रतिवेदन नियंत्रक महालेखा परीक्षक संघ के अनुसार

राष्ट्रपति तथा राज्यपाल को कार्यपालिका के प्रमुख कारण सौपता हैं।

केन्द्र सरकार के लेखांकन के कार्य से-----में नियंत्रक महालेखा परीक्षक को अलग किया।

15.5 सांराश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हमें लेखांकन के अर्थ, महत्व एवं इसकी विशेषताओं को जानने का अवसर प्राप्त हुआ है। इसके अध्ययन के साथ ही साथ लेखांकन के तत्व एवं लेखा पद्धतियों का भी अध्ययन कर सका, और लेखांकन से होने वाले लाभ एवं हानि और प्रशासन में इसकी उपयोगिताके बारे में जानने और समझने को मिला है।

यही नहीं इस इकाई में हमने भारतीय लोक लेखा व्यवस्था का भी अध्ययन किया और जिसके बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त की है।

यहाँ हम यह भी बताना चाहते हैं कि हमने इस इकाई में लेखा परीक्षण के अर्थ, महत्व, विधियों एवं लेखा परीक्षण प्रक्रिया का भी विस्तृत अध्ययन किया है, जिसमें इसके विभिन्न पक्षों को जानने को मिला है। अंततः हमने लेखांकन एवं लेखा परीक्षण में अन्तर करते हुए उसके लाभ, हानि और

प्रशासन में इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में अध्ययन किया है ,जिसमें हमने देखा कि लेखा के कार्यों की प्रकृति कार्यकारी है , जबकि लेखा परिक्षण के कार्यों की प्रकृति अर्द्ध-विधायकीय है।

15.6 शब्दावली

लेखा अनुदान:- संसद द्वारा अनुमानित व्यय के सम्बन्ध में दिए गए अग्रिम स्वीकृति को लेखा अनुदान कहते हैं, जो बजट की प्रक्रिया पूरी किए बिना आगामी वित्तीय वर्ष के लिए संसद द्वारा स्वीकृत होती है।

लेखा:- 'लेखा' का आशय है संगठन के वित्तीय लेनदेन का समुचित विवरण तैयार करना। लेखा के द्वारा यह सुनिश्चित करना होता है कि धन का इस्तेमाल वैधानिक रीति से उन्ही उद्देश्यों के लिए किया गया है। जिनके लिए संसद से उसकी मंजूरी प्रदान की थी। लेखा के अन्दर वित्तीय कामकाज के बारे में सच्चे आँकड़े होने चाहिए। व्यय करने वाले अधिकारियों द्वारा खर्च किए गए एक-एक पैसे का हिसाब उसमें अंकित होना चाहिए।

पूर्व लेखा परीक्षण:- किसी लेन देन के तत्वों के पूर्ण होने एवं अंतिम लेखा विवरण के रूप में दर्ज किए जाने से पहले का परीक्षण है। यह प्रबन्ध का एक साधन है तथा किसी विभाग में जारी लेनदेन की परिशुद्धता एवं वैधानिकता के ऊपर प्रशासनिक नियंत्रण रखने का काम करता है।

उत्तर लेखा परीक्षण:- यह लेखा परीक्षण लेन-देन के पूर्ण हो जाने तथा उनको विवरण के रूप में अन्तिम रूप से दर्ज कर लेने के बाद इनके परीक्षण से है। उत्तर लेखा परीक्षण तब किया जाता है जब धन वास्तविक रूप से खर्च कर दिया जाता है। वास्तविक रूप से इसी को लेखा परीक्षण कहते हैं।

आन्तरिक लेखा परीक्षण:- इससे विभागीय या प्रशासकीय लेखा परीक्षण कहते हैं। विभागीय अंकेक्षकों द्वारा विभाग के व्यय की राशि का अभिलेख बनाकर लेखा परीक्षण करते हैं तो इसे आन्तरिक लेखा परीक्षण कहते हैं।

बाहरी लेखा परीक्षण:- जब विभाग द्वारा व्यय की राशि एवं वित्तीय अभिलेख का बाहर के लेखा परीक्षकों द्वारा परीक्षण किया जाता है तो उसे बाहरी लेखा परीक्षण कहते हैं।

लेखा परीक्षण प्रतिवेदन:- लेखा परीक्षण के परिणामों के अनुसार व्यय की नियमितता एवं औचित्य पर आवश्यक एवं उचित/न्यायसंगत टिप्पणियों का प्रपत्र लेखा परीक्षण प्रतिवेदन कहलाता है।

15.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.रिक्त स्थान भरिए

अ.1753, ब.संविधान, स. 1976।

15.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सुन्दरम, के०पी० (1990), भारतीय लोक वित्त एवं वित्तीय प्रशासन, सुल्तान चन्द एण्ड संस, नई दिल्ली।

भट्टाचार्य, माहित (2000) लोक प्रशासन के नए आयाम, जवाहर पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

कौर, इन्द्रजीत (2000) लोक प्रशासन, एस बी पीडी पब्लिशिंग हाउस, आगरा उ० प्र०।

अवस्थी, ए० पी०, (2000) वित्त प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा उ० प्र०।

देशमुख, नीलिमा (1998) आर्थिक नीति और प्रशासन, कालेज बुक डिपो, जयपुर।

दुबे, रमेश, शर्मा, हरिश्चन्द्र (1998) भारत में लोक प्रशासन कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।

15.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

थावराज, एम० जे० के० (1982), भारत का वित्तीय प्रशासन सुल्तान चन्द एण्ड संस नई दिल्ली।

भार्गव, आर० एन० (1980), भारतीय लोक वित्त, बी० डी० भार्गव एंड सन्स चदौसी।

लाल, जी० एस० (1982), भारत में लोक वित्त तथा वित्तीय प्रशासन, एच० पी० कपूर नई दिल्ली।

सिन्हा, आर० के० (1992), भारत में राजकोषीय संघवाद, स्टर्लिंग नई दिल्ली।

15.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोकतंत्र में लेखा परीक्षण के अर्थ एवं महत्व का वर्णन कीजिए।
2. लेखा परीक्षण प्रतिवेदन के महत्व एवं प्रशासनिक उपयोगिता का वर्णन कीजिए।
3. लेखांकन एवं लेखा परीक्षण के औचित्य को समझाइए।

